पौष, ३०७ तुलसी-संवत

Madhuri
January, 1931.

माधुरी

संपादक—

पं० कृष्णविहारी मिश्र—श्रीप्रेमचंद—पं० रामसेवक त्रिपाठी
बी० ए०, एल्-एल्० बी०

वार्षिक मू० ६॥)
छमाही मू० ३॥)

नवलकिशोर-प्रेस, लखनऊ.

विदेश में वा० ८)
एक प्रति का ॥=)

سمن بغرض انفصال مقدمہ

مقدمہ نمبر ۱۶۱۴ سنہ ۱۹۳۰ع خفیفہ

بعدالت جناب بابو شیوچرن صاحب بہادر منصف شمالی مقام اوناو

شیخ مصطفی حسین ولد احمد حسین قوم شیخ ساکن حیدور پرگنہ و تحصیل ملیح آباد ضلع لکھنؤ — مدعی

بنام

بنام مسماۃ بڑ؟و بیوہ گنگا بخش قوم ٹھاکو ساکن موضع دھمیالہ پرگنہ اوراس ضلع اوناو — مدعاعلیہ

ہرگاہ مدعی نے تمہارے نام ایک نالش بابت ۶۶ روپیہ کے دایر کی ہے لہذا تم کو حکم ہوتا ہے کہ تم بتاریخ دوسری ماہ جنوری سنہ ۱۹۳۱ع بوقت ۱۰ دس بجے دن اصالتاً یا معرفت وکیل کے جو مقدمہ کے حال سے قرار واقعی واقف کیا گیا ہو اور جو کل امورات اہم متعلقہ مقدمہ کا جواب دے سکے یا جس کے ساتھہ کوئی اور شخص ہو جو جواب ایسے سوالات کا دے سکے حاضر ہو اور جوابدہی دعوی مدعی مذکر کی کرو اور ہرگاہ وہی تاریخ جو تمہارے احضار کے لیئے مقرر ہے واسطے انفصال قطعی مقدمہ کے تجویز ہوئی ہے پس تم کو لازم ہے کہ اپنے جواب دعوی کی تائید میں جن گواہوں کی شہادت پر یا جن دستاویزات پر تم استدلال کرنا چاہتے ہو اُسی روز اُن کو پیش کرو*

مطلع رہو کہ اگر بروز مذکور تم حاضر نہ ہوگے تو مقدمہ بغیرحاضری تمہارے مسموع اور فیصل ہوگا*

آج بتاریخ ۲۱ ماہ نومبر سنہ ۱۹۳۰ع میرے دستخط اور مہر عدالت سے جاری کیا گیا *

جج

ارڈر ۵ رول ۲۰ ضابطہ دیوانی

سمن بغرض انفصال مقدمہ

مقدمہ نمبر ۹۲۷ خفیفہ ابتدائی سنہ ۱۹۳۰ع

بعدالت جناب ٹھاکر رگھوراج بہادر صاحب منصف کنڈہ مقام پرتاب گڈھ

رام نراین ولد بھگواندین برھمن مصر ساکن پورہ بیربل پرگنہ ڈھنگوس تحصیل کنڈہ ضلع پرتاب گڈھ — مدعی

بنام کالو ساکن بیربل مذکور

بنام کالو ولد کامتا قوم درزی ساکن پورہ بیربل پرگنہ ڈھنگوس تحصیل کنڈہ ضلع پرتاب گڈھ — مدعاعلیہ

ہرگاہ مدعی نے تمہارے نام ایک نالش بابت مبلغ ۱۲۱ روپیہ ۲ آنہ کے دایر کی ہے لہذا تم کو حکم ہوتا ہے کہ تم بتاریخ ۱۳ ماہ جنوری سنہ ۱۹۳۱ع بوقت ۱۰ دس بجے دن اصالتاً یا معرفت وکیل کے جو مقدمہ کے حال سے قرار واقعی واقف کیا گیا ہو اور جو کل اُمور اہم متعلقہ مقدمہ کا جواب دے سکے یا جس کے ساتھہ کوئی اور شخص ہو جو جواب ایسے سوالات کا دے سکے حاضر ہو اور جوابدہی دعوی مدعی مذکور کی کرو اور ہرگاہ وہی تاریخ جو تمہارے احضار کے لئے مقرر ہی واسطے انفصال قطعی مقدمہ کے تجویز ہوئی ہے پس تم کو لازم ہے کہ اپنے جواب دعوی کی تائید میں جن گواہوں کی شہادت پر یا جن دستاویزات پر تم استدلال کرنا چاہتے ہو اُسی روز اُن کو پیش کرو*

مطلع رہو کہ اگر بروز مذکور تم حاضر نہ ہوگے تو مقدمہ بغیر حاضری تمہارے مسموع اور فیصل ہوگا*

آج بتاریخ ۹ ماہ دسمبر سنہ ۱۹۳۰ع میرے دستخط اور مہر عدالت سے جاری کیا گیا*

جج

बहुक्म जनाब ठाकुर सुरेंद्रबिक्रमसिंह साहेब बहादुर मुंसिफ़ रायबरेली ख़फ़ीफ़ा

समन बग़रज़ इनफ़िसाल मुक़द्दमा

मुक़द्दमा नम्बर २०२१ ख सन् १९२० ई०

बअदालत मुंसफी रायबरेली मुक़ाम रायबरेली

गुरदयाल वल्द मंगल मिश्र क़ौम ब्राह्मण साकिन देहली व कुम्हरावाँ ज़िला रायबरेली मुद्दई

बनाम—रामलाल.............. मुद्दाअलेह

बनाम रामलाल वल्द परसादा क़ौम अहिर साकिन गनहरी परगना हैदरगढ़ ज़िला बाराबंकी

हरगाह मुद्दई ने तुम्हारे नाम एक नालिश बाबत मुब० ७६) के दायर की है लिहाज़ा तुमको हुक्म होता है कि तुम बतारीख़ २२ बाइस माह जनवरी सन् १९३१ ई० बवक़्त १० बजे दिन असालतन् या मारफ़त वकील के जो मुक़द्दमे के हाल से क़रारवाक़ई वाकिफ़ किया गया हो और जो कुल उमूर अहम मुतअल्लिक़ै मुक़द्दमा का जवाब दे सके या जिसके साथ कोई और शख़्स हो जो जवाब ऐसे सवालात का दे सके हाज़िर हो और जवाबदिही दावै मुद्दई मज़कूर की करो और हरगाह वही तारीख़ जो तुम्हारे अहज़ार के लिये मुक़र्रर है वास्ते इनफ़िसाल क़तई मुक़द्दमे के तजवीज़ हुई है पस तुमको लाज़िम है कि अपने जवाबदावा की ताईद में जिन गवाहों की शहादत पर या जिन दस्तावेज़ात पर तुम इस्तदलाल करना चाहते हो उसी रोज़ उनको पेश करो।

मुत्तिला रहो कि अगर बरोज़ मज़कूर तुम हाज़िर न होगे तो मुक़द्दमा बग़ैर हाज़िरी तुम्हारे मस्मू और फ़ैसल होगा—आज बतारीख़ २८ माह नवम्बर सन् १९३० ई० मेरे दस्तख़त और मुहर अदालत से जारी किया गया।

जज

लेख-सूची

पृष्ठ

१. हंस के प्रति—(कविता)—[लेखक, सुकवि घासीराम ६८६

२. अपराध-विज्ञान—[लेखक, पं० रमाशंकर मिश्र एम्० ए, बी० एल्... ... ६९०

३. जयपुर (सचित्र)—[लेखक, पं० विद्याभास्कर शुक्ल ६९५

४. अशेष और शेष—(कविता)—[लेखक, श्रीयुत मोहनलाल महतो 'वियोगी' साहित्यालंकार ७०३

५. देव का वैराग्यशतक—[लेखक, पं० विष्णुदत्त शुक्ल ७०४

६. स्वर्ग-सुख (कहानी)—[लेखक, पं० भगवतीप्रसाद वाजपेयी ७११

७. ख़ैयाम की रुबाइयाँ (कविता)—[लेखक, पं० बलदेवप्रसाद मिश्र एम्० ए०, एल्-एल्० बी०, एम्० आर० ए० एस्० ... ७१६

पृष्ठ

८. महाकवि भूषण की इतिहास अनुकूलता (४)—[लेखक, श्रीयुत रामचंद्र-गोविंद काटे ७२१

९. डाकू (कहानी)—[लेखक, श्रीयुत गुप्तेश्वरप्रसाद श्रीवास्तव 'कहानी-रंजन' ... ७२८

१०. बलाहक (कविता)—[लेखक, पं० रमाशंकरमिश्र 'श्रीपति' कविरत्न ७३३

११. उपाध्यायजी और अद्वैतवाद—[लेखक, श्रीयुत वासुदेवशरण अग्रवाल एम्० ए०, एल्-एल्० बी० (ऑनर्स) ... ७३४

१२. त्याग (कहानी)—[लेखक, श्रीयुत रामेश्वरप्रसाद श्रीवास्तव एम्० ए० ... ७४१

१३. बहता हुआ फूल (कविता)—[लेखक, श्रीयुत यमुनाप्रसाद चौधरी 'नीरज' बी० ए०, बी० एल्० ... ... ७५४

१४. उन्माद (कहानी)—[लेखक, श्रीयुत प्रेमचंद ७५६

१५. आलोचना और पुस्तक-परिचय—

	पृष्ठ
[लेखकगण, श्रीयुत विनयमोहन शर्मा बी० ए०, पं०गिरजाप्रसाद द्विवेदी ज्योतिषाचार्य, बाबू कालिदास कपूर एम्० ए०, एल्० टी०, पं० शालग्राम शास्त्री साहित्याचार्य, विद्या-वाचस्पति और पं० किशोरीदास वाजपेयी शास्त्री	७६१
१६. कृषि, शिल्प और वाणिज्य—[लेखक, श्रीयुत बी० एम्० चंदेल और श्रीयुत जी० एस्० पथिक बी० कॉम	७६८
१७. बाल-महिला-मनोरंजन—[लेखकगण, श्रीयुत शंभूदयाल त्रिपाठी 'नेह', श्रीयुत गौरीशंकर नेमा 'शांत', श्रीजगन्नाथप्रसाद-सिंह, कुमारी आर्यमित्रादेवी, श्रीयुत तेज-नारायण काक 'क्रांति', श्रीसरोजिनी देवी और पं० मंगलदेव शर्मा जर्नलिस्ट ...	७७१
१८. साहित्य और विज्ञान—[लेखकगण, श्रीयुत पीतांबरराव भट्टाचार्य, पं० चंद्रबली पांडेय और श्रीयुत भृगुनाथनारायणसिंह (बी० एस्-सी० आनर्स)	७८१
१९. जीवन-ज्योति—[लेखक, श्रीयुत मा० वर्द्धमान हेगडे	७९८
२०. संगीत और विनोद—[लेखक, आचार्य गौरीशंकरसिंह और श्रीयुत सत्यव्रत शर्मा 'सुजन'	८०६
२१. सुमन-संचय—[लेखकगण, पं० गिरिजा-प्रसाद शर्मा, श्रीयुत जयनारायण मल्लिक, पं० राघवेंद्र शर्मा 'व्रजेश', पं०रामशंकर मिश्र, पं० गंगाचरण दीक्षित 'आकुल', बी०ए०, श्रीयुत पुरुषोत्तमलाल भार्गव बी० ए०, पं० प्रेमनारायण त्रिपाठी 'प्रेम', पं० त्रिभुवनशंकर तिवारी, श्रीयुत 'विमल' और पं० राधे-नारायण वाजपेयी प्रजावैद्य	८०८
२२. संपादकीय विचार	८१८

चित्र-सूची

१—रंगीन

१. कादंबिनी
२. विद्युत्

२—व्यंग्य-चित्र

	पृष्ठ
१. दोहन	७२०
२. छाया-दर्शन	७६०

विराट बिक्री ! विराट बिक्री !!

५६२ चीज़ों के साथ घड़ी और जूता इनाम ।

एक बार परीक्षा करें; सब वस्तु का दर मालूम हो जायेगा

"ओटो मोहिनी एसेन्स" की ६ शीशी खरीदनेवालों को नीचे लिखी चीजें बिलकुल मुफ्त दी जायँगी— बैण्ड सहित न्यू फैन्सी गोल्ड-गिल्ट 'ट्वाय' रिष्टवाच, एक जोड़ा सुन्दर पैताबा, सुन्दर रुमाल, जोड़ा गोल्ड-गिल्ट चश्मा, लाल पत्थर जड़े अँगूठो, सुन्दर आइना, कंघी, पत्थर जड़ा डुल फौण्टेनपेन (क्लिप और ड्रापर के साथ), पेनसिल, एक कलम, १ इरेजर, १ नीब, १ दरजन २४४ अलछवी, ब्लू ब्लैक स्याही की १४४ गोली, १ मनिबेग, १ सुगन्धित साबुन, १ डब्बा ताम्बूल विहार (पान में व्यवहार करने के लिये) १ पत्थर जड़े नोजरिंग (नाक का झुलनी), १ जोड़ा पारसी मकरी, ६ बास्तों में लगाने का पीन, ६ सेफ्टी पीन, १ जोड़ा इयर-रिंग (कान की झुलनी), २५ सुइयाँ, १ बण्डल सुन्दर चाकू, प्लेइङ्ग कार्ड, एक बन्दूक. १०० टोप, मिलिटरी जीन के जूते १ जोड़े (पैर के नाप लिखें) । कीमत मय ५६२ तोहफों सहित सिर्फ ३) पैकिंग पोस्टेज ॥=) अलग लगेगा ।

दि० इन्डियन नेशनल स्टोर, १७ जयमित्र स्ट्रीट, पो० हाटखोला, कलकत्ता ।

विराट बिक्री

सिर्फ २॥) में ४०१ क़ीमती तोहफ़े लीजिए ।

५ ओटो शीशियाँ खरीदनेवाले को नीचे की चीज़ें मुफ्त मिलेंगी ।

१ सुनहरी गिल्ट की ट्वाय रिस्टवाच, १ बेंडबाजा, १ फैंसी रुमाल, एक अँगूठी (नगीनावाली) १ फैंसी आइना, १ कंघो, १ ख़ुशबूदार साबुन की टिकिया, १ पेंसिल, १ क्लिप, १ फाउंटेनपेन १ ड्रापर, १७४ स्याही की टिकियाँ १ सेट लट्टू, १ जोड़ा सुनहरी गिल्ट मकरी, १ मनीवेग, १ वेस्ट, १ जोड़ा जूता बाँधने का फीता, १ चाकू, १ जोड़ा हेरिंग, १ चश्मा, १ ट्वाय जेब घड़ी, २४ सेफ़्टी पिन्स, ५० जलछबि, १ गुब्बारा, १ सेफ़्टी-रेज़र का ब्लेड, २५ सुइयाँ, १०० टोप, २५ निबें, १२ हेयरपिंस (जूड़े बाँधने की सुइयाँ), १ जोड़ा करतार, ६ हवाई सिटियाँ, १ फैंसी होल्डर, १ जोड़ा जीन के जूते, (अपने पैर की नाप भेजिए), १ पैकिट (कावना) १ जोड़ा हेयर क्लिप १ तमंचा, १ नाक की कील, १ मुँह का रोग़न, क़ीमत सब तोहफ़े सहित २॥) ; पैकिंग और पोस्टेज़ ॥=)

पता—दि फ्रेंचवाच कंपनी, १६३।१, मसजिद बाड़ी स्ट्रीट, पो० आ० बेडन स्ट्रीट, कलकत्ता ।

अध्यक्ष—श्रीविष्णुनारायण भार्गव

वर्ष ६ खंड १ | पौष, ३०७ तुलसी-संवत् (१९८७ वि०) | संख्या ६ पूर्ण संख्या १०२

हंस के प्रति—

चुभि जैहैं तीछन पगन तरवन तब,
कहाँ लगि हेरि-हेरि कंटक निपाटौगे ;
जैहैं पच्छ उरझि सुरझि सकिहैं न फेरि,
ह्वै करि विपच्छ ठाट कौन बिधि ठाटौगे।
'घासीराम सुकबि' कमल मुकतान बिन,
घोंघिन के भीतर मु कौन रस चाटौगे ;
असित कराल काग संगति अँगेजि, पोख-
रीन मैं मराल काल कब लगि काटौगे।

घासीराम

अपराध-विज्ञान

अपराध-विज्ञान के द्वारा हम समाज से अपराध के रोग को हटाते हैं। समाज-संगठन की वजह से वैयक्तिक जीवन का बचाव तथा उसकी उन्नति होती है। अपराधरूपी व्याधि के लग जाने से समाज का अनिष्ट होता है। हज़ारों साल से लोग इस समस्या के हल करने में लगे हुए हैं, परंतु पूरी सफलता प्राप्त होती नहीं देख पड़ती। इसका मुख्य कारण यह है कि हम अपराध के बाह्य कारणों पर तो दृष्टि डालते हैं, परंतु उसकी अंदरूनी बातों पर ध्यान नहीं देते। अपराध-रूपी वृक्ष की टहनियों को हम काटते हैं, पर उसकी जड़ काटने की तरफ़ ध्यान नहीं देते। अपराध-विज्ञान के ज़रिए तो हम उसकी जड़ को काट सकते हैं। इस शास्त्र से यही सामाजिक लाभ होता है। सभ्यतारोपण के ज़रिए पशु-रूपी मनुष्य वास्तविक मनुष्य बनाया जाता है। अपराध-विज्ञान का उद्देश्य यह होता है कि वह अपराधी को सच्चा सभ्य मनुष्य बनावे। इस तरह हम देखते हैं कि इस शास्त्र का स्वार्थ विश्वव्यापी है।

अपराध-विज्ञान का उद्देश्य तथा क्षेत्र

अपराध विज्ञान का दूसरे-दूसरे शास्त्रों से घनिष्ठ संबंध रहता है। लौम्ब्रोज़ो (Lombroso)* ने प्राणि-शास्त्र के आधार पर परंपरागत स्वभाव के सिद्धांत को क़ायम किया था। उन्होंने शरीर-परिच्छेद शास्त्र, प्राणि-धर्मगुण-शास्त्र, मानसिक-व्यथा-हरण-शास्त्र, मानव-शास्त्र तथा इतिहास के आधार पर अपनी राय क़ायम की थी। पशु-शास्त्र तथा वनस्पति शास्त्र के अध्ययन से यह बात साबित की गई थी कि अपराधी के आदर्श का सृष्टि में बहुत ही नीचा स्थान है। इन्हीं शास्त्रों के वास्तविक ज्ञान के ज़रिए उनके सिद्धांत का खंडन किया जा सकता है। अपराध के शारीरिक कारणों को जानने के पहले रोगनिदान-शास्त्र से जानकारी हासिल करना ज़रूरी है। मानव-जाति-विज्ञान, मानव-जातीय संस्कृति-शास्त्र, पर्वन-शास्त्र आदि का ज्ञान भी अपराध की समस्या के हल करने में ज़रूरी है; अपराध-विषयक समाज-शास्त्रों को राजनीति, अर्थशास्त्र तथा समाज-शास्त्र का ज्ञान होना निहायत ज़रूरी है। मनोविज्ञान के सिद्धांतों से परिचित होने के पहले अपराध के मानसिक कारणों का पता लगाना मुश्किल है। अपराध-विषयक-दृश्य निदान-शास्त्र (Criminal Phenomenology) का अध्ययन करने के लिये अपराध-विषयक कला, भाषा, साहित्य, मनोविज्ञान, मज़हब तथा अंधविश्वास से परिचित होना ज़रूरी है। अपराध-अन्वेषक को शरीर-शास्त्र तथा प्रकृतिविज्ञान के पंडितों से मदद लेनी पड़ती है। नीति-शास्त्र, मज़हब और न्याय के मूल-सिद्धांतों से परिचित होने पर ही अपराध को समाज से दूर किया जा सकता है।

अपराध-विषयक क़ानून के पंडितों को इस शास्त्र का अध्ययन करना निहायत ज़रूरी है। अपराध-विज्ञान से जानकारी हासिल न करने पर क़ानून की शिक्षा अधूरी रह जाती है। अपराध-विज्ञान अपराध-विषयक क़ानून की शिक्षा की आख़िरी मंज़िल है। सभ्य संसार के दंड-विधान में नियमशील उन्नति लाने के पहले अपराध-विज्ञान के मूल-सिद्धांतों से परिचित होना क़ानूनवेत्ताओं के लिये ज़रूरी है *।

अपराध विज्ञान की व्याख्या

इसके पूर्व कि हम अपराध-विज्ञान की व्याख्या करें, अपराध की व्याख्या करना ज़रूरी मालूम पड़ता है। अपराध किसे कहते हैं?—'अपराध' शब्द से ऐसे कार्य का बोध होता है, जिसका फल दंड है। तब प्रश्न यह उठता है कि किसी कार्य के करने में ग़फ़लत होने से यदि वह अपराध क़रार दिया जाय, तो इस तरह की ग़फ़लत भी कार्य में सम्मिलित है या नहीं। बेंथम (Bentham), आस्टिन (Austin) और डाक्टर मर्सियर (Dr. Mercier) का मत है कि यदि

* Italian founder of the Science.

* Vide the Principles of Criminology. Pp. I-4.

किसी कार्य के न करने के लिये इच्छा-शक्ति का प्रयोग करना पड़े, तो वह कार्य करना ही समझा जायगा ।*

अपराध एक ऐसा कार्य है, जिसके लिये क़ानून द्वारा सज़ा मिले; यही इसकी सरल व्याख्या है। तब अपराध ऐसा कार्य हुआ जिसके लिये इलज़ाम लगाया जा सके। इलज़ाम लगाने के लिये एक ऐसे शख़्स का होना ज़रूरी है, जिस पर अपराध का प्रभाव पड़े। तब अपराध एक ऐसा कार्य हुआ, जिससे किसी दूसरे शख़्स को चोट अथवा नुक़सान पहुँचे। यदि किसी कार्य से किसी ऐसे जानवर को चोट पहुँचे, जो किसी मनुष्य की मिल्कियत नहीं, तो वह कार्य पाप हो सकता है, अपराध नहीं। यदि किसी कार्य के फलस्वरूप हिन्दुओं के मुहल्ले की सड़क पर गाय मर जाती है, तो इससे उनके मज़हबी भाव पर चोट पड़ती है, और उस कार्य का प्रभाव उन पर अवश्य पड़ता है। इस तरह यह सिद्ध हुआ कि अपराध का प्रभाव प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से मनुष्यों पर पड़ता है। सवाल यह उठता है कि यदि किसी कार्य से केवल किसी व्यक्ति को नुक़सान पहुँचे, पर समाज को उससे कोई हानि न हो, तो वह कार्य अपराध समझा जायगा या नहीं। प्रारंभिक काल में समाज व्यक्तिगत नुक़सान को अपना नुक़सान नहीं समझती थी, और अपराध के आधुनिक भाव से उस समय के लोग अपरिचित थे। इससे प्रकट हुआ कि अपराध एक ऐसा कार्य है, जिससे समाज को प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से नुक़सान पहुँचे। यदि कोई कार्य समाज-विरुद्ध हो और उसके लिये यदि समाज घृणा प्रकट करे, तो वह अपराध समझा जयगा या नहीं। वह हरगिज़ अपराध नहीं समझा जा सकता; क्योंकि कोई कार्य अपराध तभी समझा जा सकता है, जब राज-संस्था क़ानून द्वारा सज़ा देकर उसका बदला ले। इस बात का निर्णय राज-संस्था ही को करना पड़ता है कि कौन-सा कार्य अपराध है। राज-संस्था किसी व्यक्ति अथवा संघ के नालिश करने पर अथवा स्वयं प्रत्यक्ष रूप से अपराध पर विचार कर सकती है, अपराधी से क्षति-पूर्ति करा सकती है अथवा उसे सज़ा दे सकती है। अस्तु, जिन कार्यों का बदला क्षतिपूर्ति के ज़रिए लिया जाता है, वे "टॉर्ट" (Tort) कहलाते हैं; जिन कार्यों के बदले राज-संस्था सज़ा देती है, वे अपराध कहलाते हैं।

अपराध एक ऐच्छिक कार्य है और इसलिये किसी कार्य की ज़िम्मेदारी नीयत पर बहुत कुछ निर्भर रहती है। अगर कोई पागल, जिसे भले-बुरे का ज्ञान नहीं है, कोई अपराध करे, तो क़ानून की नज़र में वह अपराध नहीं समझा जाता है। कुछ ऐसे कार्यों को भी अपराध की श्रेणी में रक्खा जाता है, जिसमें अपराधी को अपराध का ज्ञान न रहते हुए भी सज़ा दी जाती है—जैसे ख़राब जिंसों की बिक्री। कुछ ऐसे कार्य भी अपराध क़रार दे दिए जाते हैं, जो केवल मना करने की वजह से अपराध बन जाते हैं। जैसे—इस देश में सड़क की बाईं तरफ़ से गाड़ी ले चलना पड़ता है; दाहने तरफ़ ले जाना अपराध होगा। परंतु जर्मनी, फ्रांस आदि देशों में सड़क की दाहनी ओर से गाड़ी ले जाने का हुक्म है। ऊपर यह कहा जा चुका है कि समाज-विरुद्ध ही होने से कोई कार्य अपराध समझा जा सकता है। यदि उसी कार्य से समाज की रक्षा हो, तो वह हरगिज़ अपराध नहीं समझा जा सकता है। युद्ध में दुश्मनों का मारना ख़ून नहीं समझा जाता; क्योंकि उससे समाज की रक्षा होती है। इसी नीति के अनुसार भगवान् कृष्ण ने कुरुक्षेत्र के मैदान में अर्जुन को उत्साहित किया था। इस तरह अपनी रक्षा के लिये हर मनुष्य को इख़्तियार होता है कि वह ज़रूरत पड़ने पर अपना बचाव ख़ुद करे और नेकनीयती के साथ ऐसा करने में यदि कोई आदमी मारा भी जाय, तो वह अपराध नहीं समझा जाता है।

देश-काल के लिहाज़ से भी अपराध की भावना में फ़रक़ रहता है। सुमात्रा-द्वीप के बट्टा लोग आज भी, और स्कैंडिनेविया के लोग ऐतिहासिक समय के पहले, यह समझते थे कि पुत्र का यह फ़र्ज़ है कि मा-बाप को, जब वे ऐसी बीमारी के शिकार हों जिससे चंगे होने की कोई आशा न हो, मार डालें। * राजपूतों में

* Of Section 32 of the Indian Penal Code (Act XLV of 1890) which runs thus:—

"In every part of this code, except where a contrary intention appears from the context, words which refer to acts done extend also to illegal omissions.

* Of—"Society will have recognized and legalized the citizen's right to suicide, or enthanasia, at his own request..... It will take

लड़कियों के क़त्ल करने की प्रथा आम तौर पर जारी थी। प्राचीन स्पार्टा के लोग लड़कों को चोरी करने के लिये उत्साहित करते थे। लैंगिक स्वच्छता के बारे में भी यही कहा जा सकता है। टैहीटी (Tahiti) के वहशी लोग मेहमानों के पास अपनी पत्नी को एक रात के लिये भेजना मेहमानदारी का फ़र्ज़ समझते थे। महाभारत में भी इसी रिवाज़ का ज़िक्र किया गया है *। बहु-पति-विवाह की प्रथा प्राचीन समाजों में ज़ोरों से प्रचलित थी। कुछ अर्द्ध-सभ्य समाजों में बच्चा पैदा करने के लिये स्त्री यदि व्यभिचार करे, तो पति उस पर नज़र-अंदाज़ करता था। स्पार्टा की छोकड़ियाँ अखाड़े में नंगी होकर कुश्ती लड़ती थीं। सैंडविच द्वीप (Sandwich Iles) की कुछ जातियों में खुले आम गर्भाधान करने की प्रथा प्रचलित है। इस तरह हम देखते हैं कि अपराध के क्षेत्र का विस्तृत तथा संकुचित होना प्रत्येक समाज के सामाजिक तथा नैतिक आदर्श पर बहुत कुछ निर्भर है। अपराध-विज्ञान वह शास्त्र है, जिसके ज़रिए हम अपराध का वैज्ञानिक रूप से अध्ययन करते हैं †।

यहाँ इस बात पर कुछ प्रकाश डाला जायगा कि

अपराध, अधर्म तथा पाप

अपराध (Crime), अधर्म (Vice) ‡ तथा पाप (Sin) में क्या फ़रक़ है। एक ही कार्य अपराध, अधर्म अथवा पाप समझा जा सकता है—केवल दृष्टिकोण में फ़रक़ होने की वजह से। उदाहरण के लिये वेश्यागमन अधर्म भी है और पाप भी है, परंतु यह अपराध नहीं है। अगर राज-संस्था इस काम के लिये सज़ा देने की व्यवस्था कर दे, तो वह अपराध क़रार दिया जायगा। राज-संस्था के विरुद्ध कार्य करना अपराध होता है। समाज की नैतिक धारणा के खिलाफ़ काम करना अधर्म कहलाता है, और मज़हब की आज्ञा के विरुद्ध आचरण करना पाप समझा जाता है। बेरेनीनो (Berenini) ने अपराध की व्याख्या इस तरह की है—"अपराधों से ऐसे वैयक्तिक तथा समाज-विरुद्ध प्रेरणाओं के कारण घटित कार्यों का बोध होता है, जिनके कारण मौजूदा समाज-गठन को धक्का पहुँचता है और किसी निश्चित समय में निश्चित लोगों की साधारण नैतिक धारणा को चोट पहुँचती है *।

जब हम देखते हैं कि समाज का अधिकांश क़ानून

अपराध की अस्वाभाविकता

का नियम पालन करता है और सामाजिक नियम के विरुद्ध काम करनेवालों को संख्या बहुत कम होती है, तब सहसा यह कहना पड़ता है कि अपराध एक अस्वाभाविक कार्य है। चूँकि अपराध जीवन-धारा के प्रवाह में रुकावट पैदा करता है, इसलिये यह अस्वाभाविक कहा जाता है। परंतु डर्कहीम (Durkheim) के विचार में अपराध सामाजिक हित को मदद पहुँचाता है, इसी कारण समाज सुधार की तरफ़ अग्रसर होती है और इसी की वजह से वह हमेशा चौकन्ना रहती है †। नैतिक

---

the form, not of painful and difficult self-execution, but of an easy and aquiable induction of artificial sleep, from which the patient will not wake."

Hymen by Norman Haire (Kegan Paul) Pp. 42-43.

* "The story narrated in the Mahabharat (Adi Parva, ch. 128) of Svetketu's protest against the custom of an honoured guest being allowed to lie down with the host's wife for a night or two, goes to show the looseness of marriage tie."

A Peep into Ancient Indian Sociology, by Dr. R. Shamsastry, published in the anuals of the Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona, vol XI—p. 204.

† Vide the Principles of Criminology Pp. 4-14.

‡ Of—'Whatever act receives social approbation is regarded as Dharma and whatever act meets with social cond emnation is Adharma.

—A peep into Ancient Indian Sociology p. 212.

* Berenini's definiton is that crimes are 'punishable acts which determined by individual and anti-social motives, disturb the existing social order and in most cases shock the average morality of a given people, at a given time—Ferri's Criminal Sociology p. 81. I have taken the quotation from Principles of Criminology by Mr. K.S. Pillai p.14.

† Durkheim regards crime to be indissolutly linked to society as a 'factor of public safety and an integral part of any healthy Social body:—Principles of Criminology, p. 14.

दृष्टि से अपराध अस्वाभाविक समझा जाता है; क्योंकि यह मानव-स्वभाव के विरुद्ध होता है। डेसपाईन (Despine) और गैरोफ़ेलो (Garofalo)-जैसे प्राणि-शास्त्र-विषयक नीति-वैज्ञानिकों का भी मत है कि हासिल किए हुए अच्छे गुणों के ग़ायब हो जाने से अपराध का जन्म होता है, इसलिये यह नियम-विरुद्ध (Anomalous) समझा जाना चाहिए। इनको समाज-शास्त्रियों का यह मत मान्य है कि मनुष्य स्वभाव से बेईमान होता है और नैतिक आचरण तथा भावना हासिल की हुई चीज़ होती है। अध्यात्मशास्त्रियों के मत से अपराध मानव-स्वभाव के परिमित होने का एक स्वाभाविक नतीजा है। अल्ब्रेक्ट (Albrecht) का मत है कि प्राणि-शास्त्र की दृष्टि से अपराध एक स्वाभाविक कार्य है, अपराधी भी ख़ुदग़र्ज़ी को सामने रखकर काम करता है जिस तरह दूसरे-दूसरे जीव उसी प्रेरणा के अधीन होकर काम करते हैं। परंतु इटालियन-स्कूल अपराध को एक अस्वाभाविक काम समझता है। वे लोग अपराध को एक क़िस्म का रोग समझते हैं।

डाक्टर बटैग्लिया (Battaglia) का मत है कि अपराध अपराधी की ज़रूरत को पूरा करने का नतीजा है। जब कोई ज़रूरत बग़ैर पूरी हुए रह जाती है, तब तकलीफ़ शुरू होती है; इस तरह की तकलीफ़ से शरीर की काम करने को ताक़त कम हो जाती है, मानसिक गड़बड़ी हो जाती है। शरीर इस दुःख से मुक्त होने की कोशिश करता है। कभी वह किसी दूसरे को नुक़सान पहुँचाए बग़ैर इस काम में सफलता प्राप्त करता है और कभी सामाजिक हितों को धक्का पहुँचाकर अपना काम करता है, और इस तरह अपराध की उत्पत्ति होती है†।

ऐतिहासिक दिग्दर्शन

आधुनिक काल में डाक्टरों ने अपराधियों का अध्ययन करना प्रारंभ किया। सन् १६५६ ईस्वी में स्काच डाक्टर टॉमस ऐबरक्रौंबी (Thomas Abercromby) ने ऐसे संगदिल अभ्यस्त अपराधी की मानसिक दशा को, जिसकी बुद्धि में कोई गड़बड़ी नहीं देख पड़ती, नैतिक पागलपन (Moral insanity) का नाम दिया है। परंतु उस समय इसे कोई भी सज़ा से बरी करने अथवा उसमें कमी होने का कारण नहीं समझता था। अंतिम सदी में मानसिक-रोग-निदान-शास्त्र (Psychiatry) के विकास ने इस मत को ख़त्म किया कि पागल को सज़ा के लिये सही दिमाग़ क़रार देना चाहिए। सन् १८०१ ईस्वी में पाइनल (Pinel) ने पागलों पर एक पुस्तक लिखी *। उसी समय से दंड-विधान तथा पागलपन-विद्या में झगड़ा शुरू हुआ। सन् १८३५ ई० में प्रिट्चर्ड (Pritchard) ने 'नैतिक पागलपन' का प्रयोग मानसिक लकवे के अर्थ में किया। सन् १८४६ ई० में इँगलैंड में क्लैफ़्हैम (Clapham) और क्लार्क (Clarke) ने एक पुस्तक इसी विषय पर प्रकाशित कराई †। लौंब्रोज़ो ने पहले मानसिक-रोग-निदान-शास्त्र का परीक्षात्मक अध्ययन करना शुरू किया। कपाल-लक्षण विद्या (Phrenology) से भी अपराधियों के दिमाग़ के अध्ययन करने में बड़ी मदद मिली है। सन् १८४० ई० में केरस (Carus) ने अपराधियों के खोपड़े की बनावट के बेडौलपन पर ध्यान आकर्षित किया। सन् १८४४ ई० में लौवरने (Lauvergne) ने बेरहम ख़ूबियों के बारे में बहुत-से अपराधियों के खोपड़े की जाँच कर अपनी राय क़ायम की। सन् १८४७ ई० में ल्यूकस (Lucas) ने प्राणि-शास्त्र के आधार पर यह राय क़ायम की कि अपराध करने की प्रवृत्ति वंश-परंपरागत है ‡। सन् १८५७ ई० में मोरेल (Morel) ने इस सिद्धांत की व्याख्या की कि प्राचीन आदर्श गिरने पर लोग अपराध करते हैं। मनोविज्ञान के आधार पर डेसपाईन (Despine) ने सन् १८६८ ई० में एक पुस्तक में + नैतिक नियम-विरुद्धता का उल्लेख किया है। सन् १८७० ई० में टॉमसन ने अपनी पुस्तक × प्रकाशित कराई। सन् १८७३ ई० में मौडस्ले (Maudsley) ने इस बात को मान लिया है कि स्वभाव-प्रेरित अपराध नैतिक पागलपन है।

† Vide the Principles of Criminology Pp. 14-16.

* "A medical and philosophical Treatise on mental Alienation."

† "Outlines of the Insane and the Criminal."

‡ 'Treatise on natural Heredity'

+ 'Natural Psychology.'

× 'Psychology of Criminals.'

सामाजिक दृष्टि से अपराध का अध्ययन अफलातून के समय से राजनीतिज्ञ तथा न्यायाधीश करते चले आ रहे हैं। आधुनिक समय में बहुत-से पंडित सर टॉमस मूर (Sir Thomas Moore) से लेकर राबर्ट ओवेन (Robert Owen) तथा एंजेल्स (Engels) तक इस विषय पर अपना मत प्रकाशित करते आ रहे हैं। स्थिति-वर्णन-शास्त्रियों (Statisticians) ने भी इस विषय का अध्ययन किया है। सन् १८६६ ई० में क्वेटले (Quetlet) ने अपनी पुस्तक * में इस मत को प्रकाशित किया है कि समाज अपराध के लिये वातावरण तैयार करता है और अपराधी उसे पूरा करता है। उन्होंने जल-वायु के लिहाज़ से इस बात को प्रकाशित किया है कि गरमी के चढ़ाव-उतार से अपराध का नियम-बद्ध संबंध है।

इस तरह आधुनिक अपराध-विज्ञान का जन्म हुआ। बेकेरिया (Beccaria)ने सन् १७३८–१७६४ ई० में बहुत-सी पुस्तकों को प्रकाशित कराया और इसी समय से योरप के दंड-विधान में सुधार का सूत्रपात हुआ। अपराध-विषयक क़ानून के विकास में पहले-पहल इटली ने हाथ लगाया। लौंब्रोज़ो ने इस सिद्धांत को निकाला कि जन्म से अपराधी का नमूना मिलता है, इन्होंने आधुनिक अपराध-विज्ञान की नीव डाली। इन्होंने बहुत-सी पुस्तकों को प्रकाशित कराया है। † सन् १८७६ ई० में बौरडियर (Bordier) ने फ़्रांस में अपराधियों की खोपड़ियों का अध्ययन कर अपराध-विषयक पैतृक-लक्षण-उदय (Criminal atanism) के सिद्धांत को प्रकाशित किया। सन् १८८१ ई० में प्रोफ़ेसर फ़ेरी (Professor Ferri) ने फ़्रांस में इस सिद्धांत को क़ायम किया कि अपराध के तीन कारण होते हैं — वैयक्तिक, जगत्-संबंधी तथा सामाजिक। रैफ़ेल गैरोफ़ेलो (Raffaelle Garofalo) ने अपनी पुस्तक ‡ में अपराध के नैसर्गिक तथा कृत्रिम सिद्धांत को प्रकाशित किया। मानव-वैज्ञानिक लौंब्रोजो, समाज-शास्त्री फ़ेरी तथा गैरोफ़ेलो, इटैलियन स्कूल के तीन प्रमुख पंडित हैं।

इटैलियन स्कूल के मत के खंडन करने के कार्य में दूसरे-दूसरे स्कूलों का प्रादुर्भाव हुआ। सन् १८८५ ई० में रोम में अपराध-विज्ञान पर अंतरराष्ट्रीय कांग्रेस की बैठक हुई; इसमें लैकेसैग्नी (Laccasagne) ने अपराध के सामाजिक कारणों पर विशेष ज़ोर दिया *। कांग्रेस की दूसरी बैठक सन् १८८६ ई० में पेरिस में हुई; प्रोफ़ेसर मौनूव्रीर (Prefessor Monouvrier) की अध्यक्षता में, परिस्थिति के क़ायल फ़्रेंच स्कूल ने इटैलियन स्कूल के मत का घोर प्रतिरोध किया। ख़ास इटली में लौंब्रोज़ो के सिद्धांत का विरोध सन् १८८३ई०में शुरू हुआ। उसी साल त्यूरैटी (Turati) ने फ़ेरी के जवाब में एक छोटी-सी पुस्तक लिखी। † बाद को फ़ेरी ने दूसरी पुस्तक (Socialism and Criminality) लिखी। सन् १८८६ ई० में डाक्टर कोलोजानी (Dr Colojanni) ने एक पुस्तक में अपराध के आर्थिक कारणों पर विशेष ज़ोर दिया। ‡

जर्मनी में भी इस विषय पर पंडितों का ध्यान आकर्षित हुआ। हंस कुरेला (Hans Kurella) लौंब्रोज़ो का अनुयायी था। डाक्टर बेयर (Dr. Baer) ने अपनी पुस्तक (The Criminal) में लौंब्रोज़ो के सिद्धांत का ज़बरदस्त विरोध किया। प्रोफ़ेसर नाके (Professor Naeke) ने लौंब्रोज़ो के नैतिक पागलपन के सिद्धांत की कड़ी समालोचना की। प्रोफ़ेसर हरवौन लिज्ट (Professor Hervon Liszt) ने इस मत को प्रकाशित किया कि अपराध वैयक्तिक तथा सामाजिक कारणों का नतीजा है। सन् १८६५ ई० में सोमर (Sommer) ने अपनी पुस्तक (Criminal Psychology) में अपराध के अंदरूनी कारणों पर विशेष ज़ोर दिया। इँगलैंड में डाक्टर एलिस (Dr. Ellis) ने अपनी पुस्तक (The Criminal)

---

* 'Social Physics.'

† 'The female offender', 'Political Crimes', 'Legal Psychiatric Expertism', 'Methods of Procedure, Penal Casustry', 'Crime—its Causes and Remedies' etc.

‡ 'Criminology.'

* He said: "Societies have the Criminals they deserve."

† Turate's pamphlet was, "Crime and the Social Question" in answer to Ferri's "Educatien, Environment and Crimnality."

‡ Criminal Sociology.

में इटैलियन स्कूल के मत को मान लिया है। अमेरिका में सन् १८६६ ई० में मैकडोनेल्ड (MacDonald) की पुस्तक (Abnormal man) प्रकाशित हुई। डब्ल्यू० डी० मॉरिसन (W. D. Morrison) ने अपनी पुस्तक (Crime and its Causes) प्रकाशित कराई। कॉरोल डी० राइट (Corrall D. Wright) ने एक पुस्तक (The Relation of Economic Conditions to the Causes of Crime) लिखी। हॉर्सले (Horseley) की पुस्तक (How Criminals are made) से व्यावहारिक मदद मिलती है। अमेरिका में और भी बहुत-सी पुस्तकें प्रकाशित की गई हैं। सन् १९०९ ई० में शिकागो (Chicago) में अपराध-विषयक क़ानून तथा अपराध-विज्ञान के अध्ययन के लिये एक राष्ट्रीय संस्था क़ायम की गई है। * इसने अपराध-विज्ञान-संबंधी बहुत सी पुस्तकों का उलथा अँगरेज़ी में किया है। आधुनिक अपराध-विज्ञान का इतिहास यहाँ पर ख़त्म होता है। †

रमाशंकर मिश्र

* National Institute of Criminal Law and Criminology.

† Principles of Criminology by Dr. Pillai—p. 16-21.

जयपुर

जयपुर देखने की मेरी इच्छा बहुत पुरानी थी, पर अनवकाश जाने देता तब न! आख़िर एक दिन पहुँच ही तो गया। ठहरने के स्थान पर पहुँचते ही जल्दी-जल्दी शौच, कुल्ला-दातून, स्नान-ध्यान से निवृत्त हो—वर्षों से मन में दबाई हुई इच्छाओं को पूरा करने के लिये—घूमने को निकल पड़ा।

मेरे एक मित्र ने जयपुरवासी बा० महताबचंद खारैड को एक पत्र लिख दिया था, मैं खारैडजी से जाकर मिला। एक घंटे की बातचीत में ही आपसे वर्षों का-सा मेल हो गया। आप साहित्य-सम्मेलन के विशारद हैं, बड़े ही मिलनसार और सज्जन व्यक्ति हैं। पैतृक आय के कारण आपको कमाने की चिंता नहीं सताती। हिंदी से आपको बहुत प्रेम है उसके प्रचार के लिये आप निरंतर उद्योग करते रहते हैं। मेरे जयपुर में रहने तक मेरे साथ रहने और जयपुर के दिखलाने का भार आपने अपने ऊपर ले लिया। आपके ही सत्संग से मेरी जयपुर-यात्रा सफल हुई।

जयपुर में देखने को बहुत कुछ है, क्योंकि यह एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थान है। सबसे पहले हम लोग "गलता"-नामक स्थान देखने गए। गलता जयपुर से क़रीब तीन मील दूर पहाड़ों की तराई में है। पहाड़ पर घुमावदार सड़क गई है; रास्ते में जगह-जगह मंदिर हैं। गलता में कई मंदिर हैं। एक झरना झर-झर करता हुआ अतीत की स्मृति दिलाता है। झरने में एक कृत्रिम गोमुख लगा है, उसके दोनों ओर कटे हुए बड़े ऊँचे-ऊँचे पहाड़ हैं। झरने के आगे दो पक्के कुंड हैं, बहुत-से आने-जानेवाले नित्यप्रति उनमें स्नान करते हैं। प्राकृतिक दृश्य बड़ा सुंदर है। यद्यपि इस समय कुंडों का पानी गंदा था, झरना भी बहुत मंद गति से बह रहा था, तो भी वर्षा के दिनों में यहाँ बहुत आनंद आता होगा।

पहाड़ के ऊपर से जयपुर बड़ा सुंदर दिखलाई देता है। सड़कें तो इतनी सीधी बनी हुई हैं कि शहरपनाह के पूर्व-पश्चिम—दरवाज़े चाँदपोल सूरजपोल—बिलकुल साफ़ सीध में दिखलाई पड़ते हैं। मालूम होता है, जयपुर दो हिस्सों में बराबर-बराबर बँटा हुआ है।

१० बज चुके थे, धूप हो गई थी, आराम का समय था, पर खारैडजी भला कब माननेवाले थे। मुझे साहित्य-पाठशाला में ठहराकर "मैं अभी आता हूँ" कहकर थोड़ी देर में एक घोड़ागाड़ी के साथ आ पहुँचे।

बोले—'आमेर चलिए।' आमेर-महल देखने के लिये राज्य की ओर से एक चिट्ठी मिलती है, तब महल देख सकते हैं। आमेर, शहर से ५-६ मील दूर है, पहाड़ी रास्ता है। दो पक्की सड़कें हैं। एक तो ऊँचे पहाड़ों पर बिलकुल ऊपर ही ऊपर जयपुर से आमेर को गई है। उस पर किसी को जाने की इजाज़त नहीं। राज्य की ओर से पहरा रहता है। दूसरी सड़क पहाड़ों के किनारे-किनारे पहाड़ों को काटती हुई गई है, उस पर लोग आते-जाते हैं।

आमेर के चारों ओर पहाड़ हैं, उन पर भी मज़बूत बड़ी-बड़ी दीवारें बनी हुई हैं। मुझे तो यह देखकर आश्चर्य होता
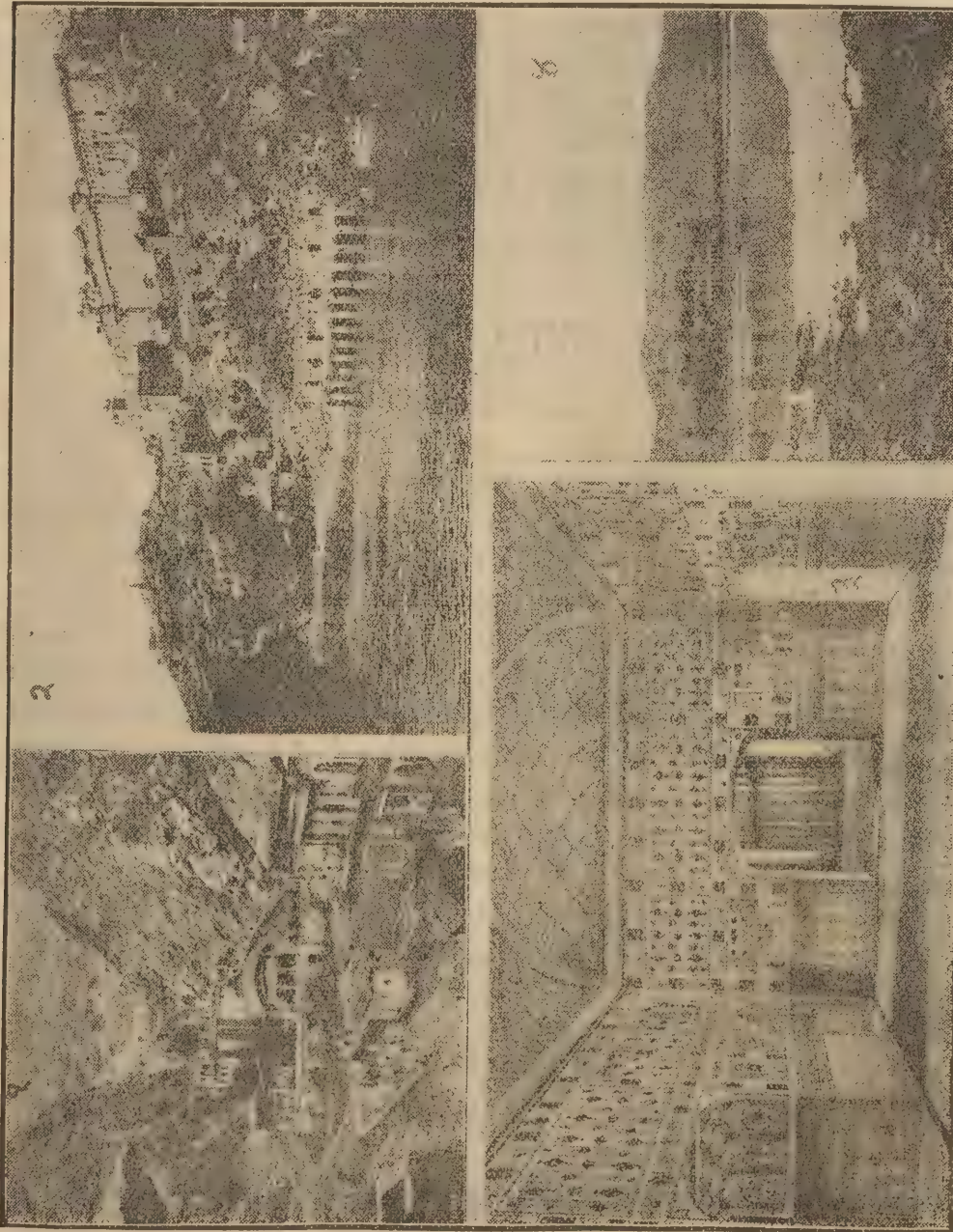
नं० १—गलता, नं० २—आमेर-महल और आगे का सरोवर, नं० ३—आमेर का भीतरी दृश्य, नं० ४—जल-महल

था कि इतने ऊँचे पर, न जहाँ कोई रास्ता है न पानी, किस प्रकार आठ-आठ नौ-नौ कोस लंबी ऐसी विशाल प्राचीरें बनाई गई होंगी। सचमुच वे बनानेवाले बड़े हिम्मतवर और कुशल कारीगर होंगे। आमेर का विशाल महल भी बहुत ऊँचे पर है। कमज़ोर आदमी तो चढ़ते ही चढ़ते थक जाय। महल देखने लायक़ है, भीतर का शीशे का काम गए-गुज़रे भारत के श्रेष्ठ कला-कौशल की गवाही देता है। मुद्दतें गुजर गईं, पर मालूम यही होता है कि बिलकुल नई कारीगरी है। संगमरमर पत्थर पर बेल-बूटों और पत्तियों की सुंदर संफ़ाईदार खुदाई देखने लायक़ है।

महल से मिला हुआ एक देवी का मंदिर है जिसे शिलादेवी का मंदिर कहते हैं। मंदिर में दुर्गा की विशाल मूर्ति है। कहते हैं, यह मूर्ति राजा मानसिंह, बंगाल के प्रसिद्ध राजा प्रतापादित्य के यहाँ से लाए थे। उस समय जो बंगाली पुजारी था, उसी के वंशज अब तक उसके पुजारी हैं।

आमेर महल क़रीब ४ फर्लांग के घेरे में है। पूरे महल के नीचे पक्का कुंड है, जो जल से भरा रहता है। युद्ध-समय में जलकष्ट न हो, यह कुंड इसीलिये बनवाया गया था।

जयपुर-आमेर के बीच में, क़रीब ५ मील के दायरे में, लगभग चार हाथ ऊँची दीवार का एक घेरा खिंचा हुआ है। भीतर का भाग ज़मीन से नीचा है। इस ५ मील के दायरे के बीचोंबीच एक मकान बना हुआ है, जो इतना मज़बूत है कि इस समय उसकी छत पर ८-१० बड़े-बड़े वृक्ष जम गए हैं। पता लगाने पर मालूम हुआ कि राजा मानसिंह का बनवाया हुआ यह जल-महल है। पहले राजा लोग कभी-कभी आकर इसमें रहते थे, चारों ओर जल भर दिया जाता था। वे इसमें विहार करते थे। उस दृश्य का चित्र ही जब बड़ा सुंदर मालूम होता है, तो वास्तविक दृश्य कितना सुंदर मालूम पड़ता होगा।

हाँ, एक बात बतलाना मैं भूल ही गया। जब आमेर-महल से हम लोग बाहर होने लगे, तो देखा कि दरवाज़े पर ५-६ मज़दूर बैठे जयपुरी भाषा में कुछ गिड़बिड़-गिड़बिड़ कर रहे हैं। "आप इन्हें जानते हैं, ये कौन हैं?" —खारैडजी ने मुझसे पूछा। मैंने फ़ौरन् जवाब दिया—"हाँ, ये मनुष्य हैं।" उन्होंने कहा—"यह तो ठीक है, पर ये मीना हैं।" "मीना कैसे?"—मैंने पूछा। उत्तर मिला—"मीना एक जाति है। पहले यहाँ इन्हीं लोगों का राज्य था। ये लोग बड़े बहादुर होते हैं, हारना तो कभी जानते ही नहीं। वर्तमान जयपुर-नरेशों के पूर्वज दुर्लभराव ने बड़ी चालाकी से कुछ परकोट-रक्षकों को मिलाकर अपने सैनिक भीतर पहुँचा दिए और पहाड़ों में छिपा दिए। दीवाली का दिन था, राजघराने के तमाम मीना लोग राजा-सहित हथियार छोड़कर पुराने रिवाज के अनुसार, महल के आगे बड़े जलकुंड में विहार कर रहे थे। दुर्लभराव ने एकदम धावा बोल दिया और आमेर पर क़ब्ज़ा कर लिया। मीना लोग चूँकि वीर होते हैं, इससे उनको यह समझा-बुझाकर ख़ास जगहों पर नियुक्त कर दिया कि "राज्य तुम्हारा ही है, हम तो केवल प्रबंध करते हैं।" तब से ख़ज़ानों पर, क़िलों पर और ख़ास-ख़ास स्थानों पर अब तक इन्हीं लोगों की नियुक्ति होती आती है और किसी भी कार्य के करने से पहले इनसे पूछ लेने की रस्म अदा कर ली जाती है। इन लोगों पर राजा का पूरा विश्वास रहता है। ये लोग ख़ुद मर मिटते हैं, पर विश्वासघात नहीं करते। ख़ज़ाने की दो तालियों में से एक इनके पास और दूसरी राजा के यहाँ रहती है। खारैडजी मुझे ये बातें सुना रहे थे। मैं एकटक उन मीना लोगों की ओर देख रहा था।

आमेर तथा जयपुर के चारों ओर और भी कितने ही खँडहर, मंदिर, मकानात दिखलाई पड़ते हैं, जो इस बात के प्रमाण हैं कि किसी समय ये स्थान बहुत रमणीय और शोभासंपन्न रहे होंगे। इतिहास-अन्वेषकों को यहाँ प्रचुर सामग्री मिल सकती है।

जयपुर का रामनिवास भी देखने लायक़ है। यह कई मील के घेरे में है। जब तक मैं वहाँ रहा, इसे रोज़ देखा। एक तिहाई हिस्सा बाग़, दो तिहाई हिस्सा जंगल समझिए। इसी बाग़ में एक ओर चिड़िया-घर है, जिसमें जंगली पालतू जानवर, चिड़ियाँ, शेर, चीता आदि रक्खे गए हैं। इसी में एक ओर म्यूज़ियम है।

यों तो अजायब-घर में क़रीब-क़रीब मैंने वही चीज़ें देखीं, जो लखनऊ-कलकत्ते के अजायब-घरों में हैं, परंतु यहाँ एक विशेषता है—दीवालों पर बहुत बड़े-बड़े चित्र बनाए गए हैं, जिनमें कहीं पौराणिक काल के, कहीं ईसा के समय के वहाँ के, कहीं चीन देश के तथा अन्य-

अन्य देशों के, ऐतिहासिक घटनाओं के, चित्र खींचे गए हैं।

यह तो हुआ परकोट-परिवेष्ठित जयपुर की चहार-दीवारी की सीमा का वर्णन। अब चहारदीवारी के भीतर की थोड़ी सैर कीजिए।

एक दिन खारैडजी ने मुझे ले जाकर एक ऐसी जगह खड़ा कर दिया, जिसके दोनों ओर विशाल इमारतें नज़र आती थीं। "आप मुझे यहाँ कहाँ ले आए"—मैंने पूछा। खारैडजी ने बतलाया कि बाईं ओर यह हवा-महल और दाहनी ओर महाराज-कालेज है। महाराज-कालेज में बी० ए० तक की शिक्षा दी जाती है। शिक्षा-भवन देखने लायक़ है। हवा-महल को मैं बड़ी देर तक ध्यान से देखता रहा। महल-वहल तो कुछ था नहीं। बहुत बढ़िया कटावदार, चित्रित, सहस्रों खिड़कियों, झँझरियों और छिद्रों से युक्त एक गगनचुंबी दीवार दिखलाई दी, जिसकी मोटाई दो हाथ से अधिक न होगी। दीवार बहुत सुंदर बनी हुई है। वास्तव में वह है तो दीवार; पर मालूम होता है, प्राचीन चित्रकारी के नमूनास्वरूप किसी बड़े महल, मंदिर या गढ़ का एक प्रदर्शनीय भाग है। मैं जहाँ तक समझ सका, प्रतिक्षण सहस्रों छिद्रों से हवा सनसनाते रहने के कारण ही इसका नाम हवा-महल रक्खा गया होगा।

जयपुर का ज्योतिष-यंत्रालय भी दर्शनीय स्थानों में से एक है। एक बड़े भू-भाग में धूपघड़ी, राशियों के
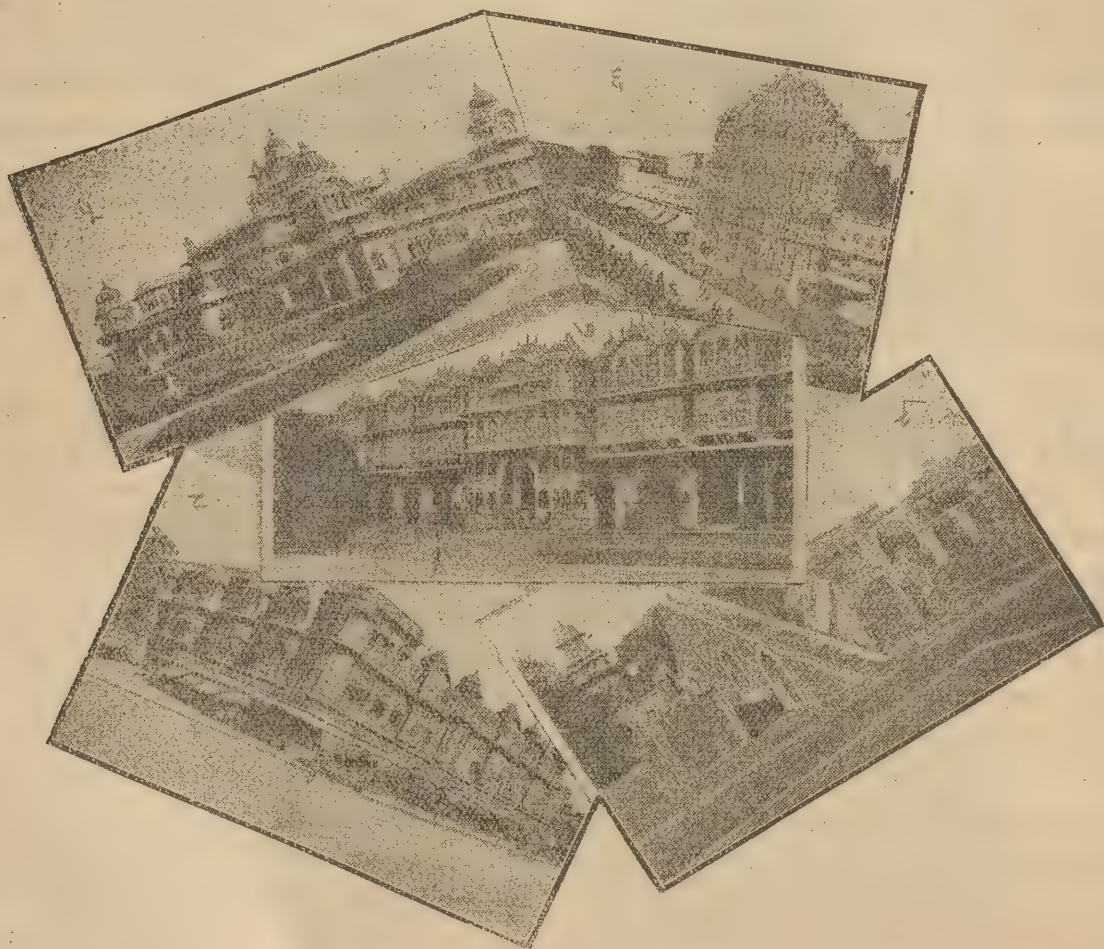
नं० ५—म्यूज़ियम हाल, नं० ६—हवा महल,
नं० ७—संस्कृत कालेज, नं० ८—महाराज-कालेज, नं० ९—ज्योतिष-यंत्रालय

चक्र, खगोल, ग्रहों की चाल आदि के ज्योतिष-संबंधी भिन्न-भिन्न चित्र बने हुए हैं।

आर्ट-स्कूल, संस्कृत-कालेज, आयुर्वेद-कालेज आदि कितने ही शिक्षणालय यहाँ हैं, जिनमें विविध विषयों की शिक्षा दी जाती है। एक साहित्य-पाठशाला है, जिसमें साहित्य-सम्मेलन की परीक्षाओं की पाठविधि पढ़ाई जाती है। इस विषय में आचार्य श्रीमथुरानाथजी भट्ट, प्रोफ़ेसर महाराज-कालेज, का प्रयत्न और निःशुल्क शिक्षा-दान स्तुत्य है। सौजन्य की तो भट्टजी मूर्ति ही हैं।

यह देखकर अत्यंत हर्ष हुआ कि यहाँ छोटे-बड़े सब प्रकार के स्कूलों, कालेजों आदि में उच्च-से-उच्च शिक्षा निःशुल्क दी जाती है, किसी प्रकार की फ़ीस आदि नहीं ली जाती। ब्रिटिश-राज्य में तो इस फ़ीस-डाइन के ही कारण हज़ारों होनहार बालक शिक्षा से वंचित रह जाते हैं!

जयपुर में मंदिरों की भरमार है। सैकड़ों नहीं, हज़ारों मंदिर हैं, जो अभी के नहीं, बहुत समय के बने हुए हैं। जितने भी स्कूल-कालेज आदि हैं, वे सब मंदिरों में ही हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि वहाँ से मूर्तियाँ हटा दी गई हों। एक तरफ़ बराबर पूजा-अर्चा होती है; रिक्त स्थान शिक्षा के लिए है। जहाँ जयपुर में यह हाल है, वहाँ प्रयाग आदि तीर्थस्थानों के मंदिरों को देखिए कि विद्यार्थी पास भी नहीं फटकने पाते, चाहे मंदिर विना झाड़ू और चिराग़ों के ही क्यों न पड़े रहें।

जयपुर की तमाम रियासत तीन भागों में बँटी हुई है। एक भाग राज्य के अधिकार में है। दूसरा भाग राज्य-घरानों में जागीरों के रूप में दिया हुआ है। तीसरा भाग दान में बँटा हुआ है। यह सुनकर हँसी आती है और आश्चर्य होता है कि दूसरी जगह दान ब्राह्मणों और दान-पात्रों को ही दिया जाता है, परंतु यहाँ वेश्याओं को भी, जिन्हें यहाँ भगतिन कहते हैं, राज्य की ओर से जागीरें बँधी हुई हैं। वे मज़े से गुलछर्रे उड़ाती हैं। उन्हीं में से एक का चित्र यहाँ देखिए।

राज्य की ओर से एक पब्लिक लायब्रेरी भी है। क्या ही भव्य इमारत है। मैंने जिस समय उसका बाहरी स्वरूप देखा, उसी समय से भाँति-भाँति के भावों के साथ उसके देखने की उत्कट अभिलाषा लग गई। आख़िरकार तीसरे दिन उसके भीतर पहुँच ही तो

जयपुर की एक वेश्या और उसका ज़ेवर

गया। किंतु जितनी आशा से गया, उतना ही निराश लौटा। "नाम बड़े दर्शन थोड़े"—यह हाल था। वहाँ अधिक पुस्तकें अँगरेज़ी की हैं, वे भी ओल्ड टाइप की विशेष उपयोगी नहीं। हिंदी की पुस्तकें नहीं के बराबर हैं। समाचारपत्रों के विषय में तो कुछ पूछिए नहीं। केवल हिंदी, उर्दू, अँगरेज़ी के ३-४ पत्र बहुत नरम पालिसीवाले ही आते हैं। लायब्रेरी जैसी उपयोगी होनी चाहिए, वैसी नहीं है।

जयपुर का चन्द्रमहल, जो महाराज का ख़ास महल है, बहुत सुंदर बना हुआ है। मैं महल की बग़ीची में घूम रहा था, थोड़ी दूर पर महल के सामने एक मठिया-सी दिखलाई दी। मैंने समझा कि शिवजी की मठिया होगी, जैसी कि प्रायः बग़ीचों या वाटिकाओं में हुआ करती है। मैं उसकी ओर दर्शन की लालसा से लपका, पर सामने पहुँचकर देखा कि यहाँ एक 'कुत्ताजी' विराजमान हैं। मालूम हुआ, यह एक कुत्ते का स्मारक है, जो राजा साहब के घर में पत्रवाहक का काम करता था।

अब जयपुर का और कुछ मज़ेदार हाल सुनिए— देखने में जयपुर बड़ा सुंदर शहर है। दो-चार ख़ास-ख़ास सड़कें हैं, जो काफ़ी चौड़ी हैं। सड़कें सब बिलकुल सीधी एक-सी बनी हुई हैं। दूर तक एक लाइन-सी दिखलाई देती है। मुझ-सरीखे नए आदमी को तो सड़कों से बड़ा भ्रम होता होगा। शहर में बिजली की रोशनी है। बाज़ारों के जितने मकान हैं, सब एक ढंग के हैं और दूकानों को छोड़कर सबके दरवाज़े पीछे की ओर हैं। बाज़ार के कुल मकान एक ही रंग से रँगे हैं और राजाज्ञा के अनुसार उनको रँगाई प्रतिवर्ष होती है। बाज़ार में खड़े होने से सब मकानों की पीठ दिखाई देगी। इससे गंदगी कम और बाज़ारों की सुंदरता तथा शोभा अधिक मालूम होती है। जयपुर के तमाम मकान संदूक़ के मानिन्द बने हुए हैं, पर प्रत्येक मकान में सैकड़ों छोटी-छोटी खिड़कियाँ और छेद रहते हैं। वहाँ शायद मकानों की यह एक ख़ास शोभा समझी जाती है। मकानों की दीवारें बहुत पतली होती हैं। आठ-आठ अंगुल आसार की दीवारों पर कई-कई मंज़िल ऊँचे मकान सधे हुए हैं। देखकर आश्चर्य होता है कि यहाँ के चूने का जोड़ कितना मज़बूत होता है। सड़कों पर २०-२०, २५-२५ क़दम की दूरी पर शिव-गणेश आदि देवी-देवताओं की मठियाँ बनी हुई हैं। मैंने देखा—जयपुर में प्रत्येक घर के दरवाज़े के ऊपर एक आला है, उस आले में गणेशजी की मूर्ति है; और
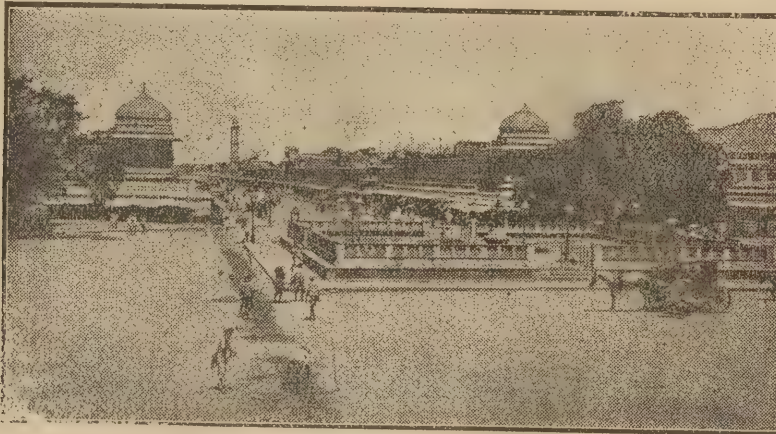
मानिक-चौक-बाज़ार

परकोटे का एक फाटक

यदि उस घर में कोई विवाह आदि ख़ुशी का कार्य हो चुका है, तो दरवाज़े के इधर-उधर दीवालों पर हाथी का चित्र बना हुआ है। किसी भी मंगलकार्य में दरवाज़े पर चित्र बना देना वहाँ एक शकुन या शुभ चिह्न माना जाता है।

शहर-परकोटे के अजमेरी फाटक के पास मुझे दो बालिश्त के अंतर पर रेल की-सी दो पटरियाँ दूर तक दिखलाई दीं। मैंने बड़े आश्चर्य से पूछा—"क्या यहाँ शहर के भीतर भी रेल चलती है? बहुत छोटी है। उत्तर मिला—"हाँ, यहाँ जे० के० के० आर० चलती है।" मैंने पछा—"इसके मानी"? खारेडजी ने कहा—"जयपुर-कूड़ा-करकट-रेलवे। जनाब, यह लोहे के इंजिन से नहीं, भैंसों के इंजिन से चलती है। आठ-आठ नौ-नौ कूड़े के डब्बे एक में जोड़ दिए जाते हैं और दो भैंसे आगे जोत दिए जाते हैं; बस, रेलगाड़ी इन पटरियों पर दौड़ने लगती है। यदि गाड़ी निकलते समय महाराज

पनिहारिन

जयपुरी वेश-भूषा में एक स्त्री

साहब भी आ जायँ, तो उन्हें भी उसके निकल जाने तक रुकना पड़ेगा !" मैंने कहा—"यह जे० के० के० आर० तो ख़ूब है।"

जयपुर के बाज़ारों में जितने पुरुष निकलते हैं, उतनी ही स्त्रियाँ। उनकी वेश-भूषा व परदा कैसा होता है, यह चित्र में देखिए, हाँ, बड़े घरों की कोई-कोई स्त्रियाँ—जो मुख पर लंबा घूँघट किए रहती हैं—दो उँगलियों के बीच से एक आँख को ताँको-झाँकी देती रहती हैं। यहाँ मुझे कोई विधवा तो दिखलाई ही न दी; क्योंकि विधवा-सधवा की वेश-भूषा में कोई अंतर नहीं। यदि कोई भीतरी अंतर हो, तो वहाँ के निवासी ही जानें। वहाँ की यह कहावत बिलकुल ठीक है—"धन्य राजा जी थारो देश, राण सुहागिन एकै भेश।" ठसक की चाल तो पुरुषों को भी मात करती है।

वास्तव में प्रेम एक विचित्र वस्तु है, जो सभी को वश में कर लेता है। मैं एक दिन प्रातःकाल ६॥ बजे बाज़ार गया, तो देखता क्या हूँ कि जगह-जगह दूकानदार झोली में ज्वार आदि के दाने लिए सड़क पर फेंक रहे हैं और हज़ारों कबूतर निडर होकर बड़े प्रेम से उन्हें चुग रहे हैं। मजाल है, उस समय कोई सड़क पर निकल जाय; वे चाहे दब जायँ, पर उड़ते नहीं। वहीं मस्तानी चाल से विचरते और दाने चुगते रहते हैं। उसका एक दृश्य चित्र में देखिए।

यह दृश्य १-२ घंटे रहता है। यह तमाशा एक दिन नहीं, तीसों दिन होता है। इसी तरह वहाँ अक्सर लोग चीलों से भी खेल करते हैं। उर्द के बड़ों के टुकड़े ऊपर को उछालते हैं, सैकड़ों चीलें ऊपर मँडराने लगती हैं और फेंके हुए टुकड़ों को ऊपर-ही-ऊपर लपक लेती हैं।

यहाँ मुझे एक नई सवारी का नाम सुनने में आया, जिसको कहते हैं—हाथीगाड़ी। इस पर सब नहीं, केवल महाराज साहब चढ़ते हैं, वह भी हमेशा नहीं, साल में केवल एक दिन—दशहरे के रोज़। प्रत्यक्ष नहीं तो हम-आप कम-से-कम महाराज साहब की हाथीगाड़ी का चित्र ही देख लें। देखिए, क्या मज़ेदार गाड़ी बनी हुई है।

कबूतर दाना चुग रहे हैं
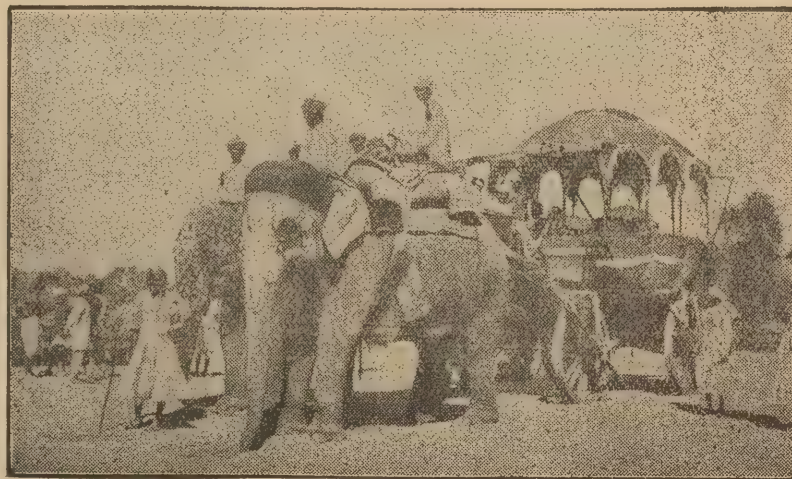
हाथीगाड़ी

जयपुर में चरखे भी अधिक चलते हैं; क्योंकि अधिकांश स्त्रियाँ जो बड़े-बड़े घेरदार लहँगे पहनती हैं, वे खद्दर के ही होते हैं। और-और पोशाकों में भी खद्दर का उपयोग होता है। मुसलमानों की आबादी कम होने पर भी जयपुर का तमाम कारबार प्रायः उन्हीं के हाथ में है।

बुढ़िया चरखा कात रही है

संक्षेप में जयपुर-नगर ऐतिहासिक, सुंदर और देखने लायक़ है। मुझे कई दिन हो चुके थे। क़रीब-क़रीब दर्शनीय स्थानों को देख भी चुका था, फिर भी उसके ऐतिहासिक दृश्य, पर्वतमालाएँ और 'गलता'-जैसे कुंड अपनी ओर खींच रहे थे; नौकरी का आफ़िस अपनी ओर आकर्षण-प्रयोग कर रहा था। अंत में बा० दामोदरलालजी इंजीनियर, जिनके सत्संग से विशेष मनोरंजन हुआ, पं० मनोहरदत्तजी, बा० प्रभुदत्तजी तथा खारैडजी आदि नवपरिचित मित्रों को धन्यवाद देता हुआ एक दिन रात की गाड़ी से भाग खड़ा हुआ।

विद्याभास्कर शुक्ल

अशेष और शेष

अभी कुछ है प्याले में शेष,
मूर्छित मन, साक़ी से कह दो यह मेरा संदेश,
क्षण-भर है निशि का सुषमा-धन,
क्षण-भर है दीपों का नर्तन,
क्षण-भर है तारों का यौवन,
क्षण-भर है रजनीगंधा के यौवन का आवेश,
पारिजात सुमनों का जीवन,
मलयानिल का शीतल चुंबन,
नव-कलियों का गोपन-सिहरन,
देख न लेगा ज़रा ठहरकर क्या हताश राकेश,
चित्रकार तूलिका उठा ले,
गायक, वीणा को सुलझा ले,
ओ कवि! जीवन का फल पा ले,
ऊषा के घूँघट में छिपता है सपने का देश,
पिला दे अब दो घूँट अशेष!
नहीं कुछ है प्याले में शेष।

श्रीमोहनलाल महतो "वियोगी"

देव का वैराग्य-शतक

माननीय मिश्रबंधुओं द्वारा हिंदी-नवरत्न में स्थान पाने के बाद से 'देव' साहित्य-क्षेत्र में एक विवाद का विषय बन गए हैं। ऐसी अवस्था में उनके संबंध में प्रशंसात्मक या निंदात्मक किसी प्रकार की कोई बात लिखना भयावह हो गया है। परंतु जो कुछ लिखा जायगा, वह स्तुति या निंदा के सिवा और होगा ही क्या? इसलिये विवशता है। तथापि इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है और इसके लिये प्रयत्न भी किया जायगा कि जो बात लिखी जाय, वह न्याय्य हो—पक्षपात या अतिरंजन से दूर हो। फिर भी मानव-स्वभाव की असमर्थता के कारण यदि अनजान में किसी प्रकार का पक्षपात हो जाय, तो उसके लिये मैं आरंभ में ही क्षमा-याचना किए लेता हूँ।

ग्रंथ-निर्माण की परिस्थिति

'वैराग्य-शतक' देवजी का प्रायः अंतिम ग्रंथ है। जिन विषयों का इसमें वर्णन किया गया है और वर्णनशैली जितनी विदग्ध है, वह देव-जैसे शृंगाररस-प्रेमी कवि के लिये जीवन के अंतिम समय में ही संभव है। वैराग्य-शतक के एक-एक छंद से प्रतिध्वनित होता है कि ग्रंथ जीवन की जरावस्था में लिखा गया है। संसार-सागर की कुटिल तरंगों के थपेड़े खाने के बाद मनुष्यों में वैराग्य-भावना का जाग्रत् होना एक प्रकार से अवश्यम्भावी-सा होता है। दीर्घ काल तक संसार की मृग-तृष्णा में पड़े रहकर स्वभावतः उसकी निःसारता का अनुभव होने लगता है। हमारे सामने ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जहाँ मनुष्यों ने स्वभावोचित असमर्थता के कारण पार्थिव धनसंपत्ति की मृगतृष्णा में पड़कर अपने जीवन का बहुत बड़ा भाग इधर-उधर लोगों की मिथ्या प्रशंसा करते हुए या अनावश्यक गुणगाथा गाते हुए बिता दिया और बुढ़ापे में, जीवन के अंतिम दिनों में, सबसे परांमुख होकर उस परमपिता भगवान् में लौ लगाई। महाकवि देवजी भी इसी श्रेणी के मनुष्य थे। वह बड़े अच्छे कवि थे, इसमें तनिक भी संदेह नहीं; किंतु मालूम यह होता है कि वह अपनी कविता द्वारा धन या कीर्ति (दो में से कोई एक या दोनों) उपार्जन करने के लिये उत्सुक थे। हाँ, यह बात अवश्य थी कि वह सम्मान और आत्मगौरव खोकर तथा कवित्व-शक्ति का दुरुपयोग करके, नरेशों की मिथ्या प्रशंसा करके धन या कीर्ति कमाने की इच्छा नहीं रखते थे। फिर भी धन या कीर्ति के मायाजाल में ही उनका तमाम जीवन बीता और उस पर भी वह भाग्य के इतने हीन थे कि उनकी कामनाएँ कभी पूर्णतः फलवती नहीं हुईं। उन्होंने अच्छी-से-अच्छी कविता की और वह अच्छे-से-अच्छे राज-दरबार में पहुँचे, परंतु कहीं भी उनका समुचित सत्कार नहीं हुआ। वह एक योग्य संरक्षक खोजते ही रहे और वह उन्हें कभी मिला ही नहीं। हाँ, थोड़े समय के लिये महाराज भोगीलाल एक ऐसे व्यक्ति अवश्य मिले, जिन्होंने उन्हें संतोष दिया; अन्यथा उनका समस्त जीवन असंतोष और निराशा में ही बीता। असंतोष, निराशा, पराजय, विफलता आदि संसार-सागर की कुटिल तरंगें हैं। इनके थपेड़े देवजी को ख़ूब लगे। अंत में उनकी आँखें खुलीं और उन्होंने अपना ध्यान सांसारिक माया-जाल से हटाकर सच्चिदानंद भगवान् की ओर लगाया। जीवन की इसी अवस्था में उन्होंने अपना 'वैराग्य-शतक' ग्रंथ लिखा। अपनी इस अवस्था का अभिव्यंजन उन्होंने वैराग्य-शतक की चारों पचीसियों में किया है।

जगद्दर्शन-पचीसी में—

केसव से गंग से प्रसिद्ध कबि-केहरि से,
कालहि गए जु बृथा कालहि बितावहीं;
साहन की सेवा सुख नाहिं न बिचारि देखो,
लोभ के उमाहन पै पीछे पछितावहीं।
दूजे हौंस रही जो न दूजो हौं सराहौं देव,
देव के हिए में देवी देव सरिता बही;
खाँड्यो खल संग बन माँड्यो हरि रंग मन,
छाँड्यो मौजपन सु खिताब में सिताब ही।

कादंबिनी

आत्मदर्शन-पचीसी में—

छिन-छिन छीन छिन छीनत छपाकी छेम,
छिमा न धरत छुधा छोम सों छयौ फिरै ;
घर-घर दौरे द्वारकापति को द्वार तजे,
सेवत अदेव देव देवते भयो फिरै ;
स्वारथ न सूझत परारथ न बूझत,
अपारथ ही भूझत मनोरथ मयो फिरै,
होय हरि चाकर तो चाकर जगत होय,
जगत को चाकर है कूकर भयो फिरै।

तत्त्वदर्शन-पचीसी में—

तेरो घर घेरे आठौ याम रहैं आठौ सिद्धि,
नवो निधि तेरे बिधि लिखिय ललाट है ;
देव सुख साज महाराजनि को राज तूही,
सुमति सु सोए तेरे कीरति के भाट है ;
तेरे ही अधीन अधिकार तीन लोक कोसु,
दीन भयो क्यों फिरै मलीन घाट बाट है ;
तोमें जो उठत बोलि ताहि क्यों न मिलै डोलि,
खोलिए हिए में दिए कपट-कपाट है।

और प्रेम-पचीसी में—

ऐसो हौं जु जानतो कि जैहै तू बिसै के संग,
एरे मन मेरे हाथ-पाँव तेरे तोरतो ;
आजु लगि कत नरनाहन की नाहीं सुनि,
नेह सो निहारि हारि बदन निहोरतो ;
चलन न देतो देव चंचल अचल करि,
चाबुक चेतावनीन मारि मुँह मोरतो ;
भारो प्रेम पाथर नगारो दै गरे सों बाँधि,
राधावर बिरुद के बारिद में बोरतो।

लिखकर प्रत्येक पचीसी के वर्णित विषय का तारतम्य निभाते हुए इस तुच्छ मनोवृत्ति को जी भरकर कोसा है। प्रेम-पचीसी में तो वह बिलकुल खड्गहस्त हो गए हैं। उनका यह पश्चात्ताप और यह प्रबोध ही वैराग्य-शतक का निर्माता बना।

शतक का संगठन

ऊपर के उद्धरणों से यह बात स्पष्ट होगी कि वैराग्य-शतक चार विभागों में बाँटा गया है और प्रत्येक विभाग को पचीसी के नाम से पुकारा गया है। इस प्रकार तमाम शतक जगद्दर्शन, आत्मदर्शन, तत्त्वदर्शन और प्रेम इन ४ पचीसियों में विभक्त है। ये पचीसियाँ उसी क्रम से एक के बाद एक लिखी गई हैं, जिस क्रम से उनका यहाँ वर्णन किया गया है। यह क्रम कितना समीचीन है, यह बतलाने की आवश्यकता शायद ही हो। देवजी की सूक्ष्मदर्शिता का यह क्रम ही एक बड़ा सुंदर प्रमाण है। इस क्रम में ही उन्होंने वैराग्य-विषय की सक्रम मीमांसा कर दी है। पहले जगत् का ज्ञान, फिर अपना ज्ञान, फिर तत्त्व या वस्तुस्थिति का ज्ञान और इस निचोड़ के बाद प्रेम—यह वैराग्य का स्वाभाविक विकास-क्रम है। देख लिया कि जगत् क्या है, हम कौन हैं और वास्तविकता क्या है और फिर इन सब बातों से जो निष्कर्ष निकला—इस सिंधुमंथन के बाद जिस रत्न की प्राप्ति हुई, उससे प्रेम हुआ। वास्तविक प्रेम या विराग इसी प्रकार का ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद हो भी सकता है। बिना समस्त परिस्थितियों का अध्ययन किए, बिना सबका स्पष्ट ज्ञान प्राप्त किए, किसी वस्तु के साथ प्रेम या विराग होना संभव ही नहीं। देवजी का उक्त क्रम ही एक इतने बड़े सिद्धांत की शिक्षा दे डालता है।

वैराग्य-शतक में प्रेम-पचीसी का स्थान

स्थूल दृष्टि से देखने पर वैराग्य-शतक में जगद्दर्शन आदि पहली तीन पचीसियों के स्थान पाने का औचित्य तो समझ में आ जाता है, परंतु प्रेम-पचीसी की बात में भ्रम-सा होने लगता है। प्रेम और वैराग्य! यह एक विकट विरोधाभास प्रतीत होता है। कहाँ प्रेम और कहाँ वैराग्य! साधारण बुद्धि से ये बातें परस्पर विरोधिनी प्रतीत होती हैं। परंतु देव साधारण बुद्धि के कवि न थे। उनमें असाधारण प्रतिभा थी। वह बड़े सूक्ष्मदर्शी थे। वह जानते थे कि जिन्हें लोग एक दूसरे का प्रतिद्वंद्वी समझते हैं, वही सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर अभिन्न-मित्र प्रतीत होते हैं। वैराग्य और प्रेम में कोई भेद नहीं, किंतु उसी समय जब वे दोनों अपनी परा काष्ठा को पहुँच गए हों। उस समय नहीं कि जब चित्त में यह ज्ञान बना हुआ हो कि मैं तो 'अ' को प्यार करता हूँ और यह 'अ' नहीं है, इसलिये यह मेरा प्रेम-पात्र नहीं है; किंतु उस समय जब यह अवस्था हो गई हो कि 'अ'—जिसे मैं प्यार करता हूँ—चारों ओर दिखाई पड़ रहा है—उस समय जब सृष्टि की समस्त वस्तुओं में अपने प्रियतम की ही झाँकी हो रही हो। पाषाण-हृदय गिरिगुफाओं से, जड़ वृक्षवल्लियों से, अचेतन

नदी-निर्झर से, शून्य आकाश से, पृथ्वी के एक-एक अकिंचन कण से हमें वही मोहनी मूर्ति दिखलाई पड़ रही हो। उस अभिनंदनीय प्रेम और वैराग्य में फिर भेद करना संभव नहीं होता। उस समय प्रेमी और विरागी का एक ही लक्ष्य हो जाता है। विरागी 'अ' से वैराग्य करना चाहता है। वह उस समय तक पूर्ण विरक्त नहीं कहा जा सकता, जब तक उसके हृदय में यह पहचान बनी रहती है कि अमुक वस्तु 'अ' है, इसलिये उससे विराग करना चाहिए और अमुक वस्तु 'अ' नहीं है, इसलिये उससे विराग न करना चाहिए। जब चित्त में इस प्रकार का भाव रहा, तब पूर्ण वैराग्य कहाँ रह गया। सच्चा विरक्त तो वही है, जो संसार के अणु-अणु में अपनी वैराग्य-वस्तु के ही दर्शन करता हो। इस प्रकार अपनी परा काष्ठा को पहुँचकर वैराग्य और प्रेम दोनों के लक्षण एक हो जाते हैं। प्रेमी और विरागी, दोनों एक ही 'अ' के द्रष्टा हो जाते हैं। दोनों को संसार में 'अ' के सिवा और कुछ नहीं दिखलाई पड़ता। देवजी ने प्रेम और वैराग्य का यही साथ निबाहा है। प्रेम-पचीसी में वर्णित देव का प्रेम लौकिक प्रेम नहीं; उसमें अलौकिकता है, निर्लिप्तता है, अपनेपन को खो देने का भाव है, विराग है। वह प्रेम की परा काष्ठा है। प्रेम-पचीसी के छंदरत्न वैराग्य का आदर्श-संदेश है। संसार के समस्त व्यापारों से निर्वेद धारण कर, लाज, काज, भय सबको तिलांजलि दे, दुःख, सुख, यश, कलंक किसी की कुछ परवा न कर, गुरुजनों और कुटुम्बियों से भी मुख मोड़ प्रेम-पचीसी की प्रेमिकाएँ "एकै अभिलाख लाख लाख भाँति लेखती हैं"। इसीलिये मनीषी देव ने वैराग्य-शतक में अपनी प्रेम-पचीसी को स्थान दिया है। अस्तु।

विषय-प्रतिपादन

पुस्तक वैराग्य-शतक के नाम से लिखी गई है और स्वभावतः इसका विषय भी वैराग्य ही है। परंतु इस विषय का प्रतिपादन जैसा प्राचीन काल से होता चला आया है, उसी शैली पर नहीं हुआ। उन बातों की उपेक्षा की गई हो, ऐसा भी नहीं है। वे बातें भी पूर्ण रूप से विद्यमान हैं। संपूर्ण आत्मदर्शन-पचीसी और संपूर्ण तत्व-दर्शन-पचीसी उसी प्राचीन पद्धति से भरी पड़ी है। इस प्रकार अधिक नहीं तो आधा स्थान प्राचीन प्रणाली को दिया गया है। परंतु देव इतने ही से संतुष्ट होकर बैठ जानेवाले न थे। प्राचीन प्रणाली अच्छी थी, इसलिये उसको उचित स्थान देना आवश्यक ही था। परंतु नवीन पद्धति का अवतरण भी कवि की प्रतिभा के उपयुक्त ही था। इसलिये जगद्दर्शन और प्रेम-पचीसी-नामक दो पचीसियाँ और सामने आईं। आत्मज्ञान और तत्वज्ञान द्वारा वैराग्य की शिक्षा की प्रणाली प्राचीन है, उसका पूर्ण उल्लेख दूसरी और तीसरी पचीसियों में, जो इन्हीं नामों के अनुरूप लिखी गई हैं, मिलेगा। आदि-अंत की दो पचीसियों की प्रतिपादन-प्रणाली भिन्न है। जगद्दर्शन-पचीसी में संसार की रोज़-रोज़ घटनेवाली घटनाओं का उल्लेख है; परंतु ख़ूबी यह है कि वह उल्लेख इस ढंग से किया गया है कि उनको पढ़कर संसार से विरक्त होने की भावना सहज ही मन में उत्पन्न होती है। इस पचीसी में वर्णित प्रत्येक घटना संसार के प्रति उपेक्षा और ग्लानि के भाव पैदा करती है और यही भाव वे भाव हैं, जो वैराग्य को जन्म देते हैं। इस प्रकार सांसारिक घटनाओं के वर्णन द्वारा भी वैराग्य का उपदेश हो जाता है। रही प्रेम-पचीसी, सो वह तो वैराग्य का मूर्तिमान् उदाहरण है। प्रेम-पचीसी की प्रेमिकाएँ पूरे वैरागिन के रूप में सामने दिखलाई पड़ती हैं और उनकी एक-एक चेष्टा उनका अनुकरण करने के लिये प्रोत्साहित करती हुई-सी मालूम होती है। इन पचीसियों से विषय-प्रतिपादन इतना गठा हुआ बन गया है कि मन मुग्ध हो जाता है। पहली पचीसी में वैराग्योत्पादक घटनाओं का चित्र खींचकर उस भावना को उद्दीप्त किया; बीच की दो पचीसियों में ज्ञान-चर्चा कर उद्दीप्त भावना में स्थायी और गहरा रंग चढ़ाया और अंत में वैराग्य का सजीव चित्र भी सामने खड़ा कर दिया—दिखला दिया कि वैराग्य का यह रूप होता है। घटनाओं से हृदय में भाव जाग्रत् न हुआ, तो उपदेशों का असर होगा; उपदेश भी सार्थक न हुए, तो वैरागियों को सामने देखकर तो विचार होगा ही, कहाँ तक हृदय पत्थर बना डाला जायगा! अँगरेज़ी में एक कहावत है कि उपदेश देने की अपेक्षा करके दिखा देना अधिक प्रभावशाली होता है। वही देवजी ने करके दिखा दिया है। उन्होंने उपदेश भी दिए और तदनुरूप आचरण करनेवाली मूर्तियाँ भी प्रत्यक्ष दिखला दीं। इस प्रकार विषय-प्रतिपादन को नवीन

प्रणाली को जो जन्म दिया, वह तो दिया ही, साथ ही अपने वर्णन की प्रभावशालिता भी कई गुना अधिक बढ़ा दी ।

लेखन-शैली

लेखन-शैली भी आदि से अंत तक देवजी की अपनी है । जिस ढंग से बातों का उल्लेख उन्होंने किया है, उस ढंग का मिलना भी अन्यत्र दुर्लभ है। फिर भी अपनी शैली की पृथक्ता क़ायम रखते हुए भी, उस समय तक प्रचार में आई हुई प्रायः सब शैलियों का उदाहरण भी उन्होंने पेश किया है—

बागो बनो जर पोस को तामहिं ओस को हार तन्यो मकरी ने ।
पानी में पाहन पोत चल्यो चढ़ि क़ागद की छतरी सिर दीने ॥
काँख में बाँधिकै पाँख पतंग के देव सुसंग पतंग को कीने ।
मोम के मंदिर माखन के मुनि बैठे हुतासन आसन कीने ॥

आदि में कबीर-शैली के—

थावर जंगम थूल अथूल जिती जग जंतु की जाति जनाई ।
जे रज अंडज स्वेदज औ उद्भिज्ज चहूँ युग देव बनाई ।
अंतर जाके निरंतर ते उपजै बिनसै तिहि माँहिं समाई ।
बाहर भीतर सो अध ऊर्ध रह्यो भरिपूरि अकास की नाई ॥

आदि में संतकवि-शैली के, और—

संपति में ऐंठि बैठि चौतरा अदालति के,
बिपति में पैन्हि बैठे पाँय झुनझुनियाँ ;
जेतो सुख संपति हतोई दुख बिपति में,
संपति में मिरजा बिपति परे घुनियाँ ।
संपति से बिपति बिपतिहू तें संपति है,
संपति औ बिपति बराबर के गुनियाँ ;
संपति में काँयँ-काँयँ बिपति में भाँयँ-भाँयँ,
काँयँ-काँयँ भाँयँ-भाँयँ देखी सब दुनियाँ ॥

आदि में सूक्तिकार-शैली के प्रत्यक्ष उदाहरण मिलेंगे। वैराग्य-जैसे विषय के वर्णन की यही शैलियाँ उस समय तक प्रचलित थीं । किंतु देवजी की अपनी लेखन-शैली निराली है और उसका दिग्दर्शन स्थान-स्थान पर होता है। प्रेम-पचीसी में तो उनकी शैली बड़ी ही अनोखी बन पड़ी है । वह उनका प्रिय विषय था, इसलिये उसमें यह अनोखापन आना स्वाभाविक ही था । देवजी की वर्णन-शैली बड़ी मार्मिक होती थी । उनकी विशेषता इस बात में थी कि वह अत्युक्तियों का सहारा लेकर नहीं, बिलकुल स्वाभाविक ढंग से बातें कहते थे । उनकी सूक्तियाँ शून्य आकाश से नहीं, सरस मानव-हृदय से बातें करती थीं । उन्होंने कल्पना का कचूमड़ नहीं निकाला, प्रत्युत प्रतिभा-शाली विज्ञ सूक्ष्मदर्शी की भाँति मानव-हृदय के मर्म-स्थलों को टटोल-टटोलकर रख दिया है । उनकी कविता तल्लीनता, अभिन्नता, एकरूपता का ख़ज़ाना है । उन्होंने जिस विषय का वर्णन किया है, तन्मय होकर किया है । उनकी उक्तियाँ विद्यार्थियों द्वारा सुनाए जानेवाले पाठ-जैसी नहीं होती थीं, वे उनके हृदय के अविकल उद्गार के रूप में श्रुतिगोचर होती थीं । इस संबंध में एकआध उदाहरण दे देना अनुचित न होगा ।

श्याम मथुरा गए हैं, व्रजबालाएँ विरहिणी हैं, उद्धव महाराज उपदेश देने आए हैं, उनकी (गोपियों की) दशा पर करुणा करके विरह से बचने के लिये उद्धवजी उन्हें व्रत, नियम, संयम, प्राणायाम, आसन, ध्यान आदि करके योगाभ्यास का उपदेश देते हैं। किंतु व्रजबालाएँ साधारण श्रेणी की प्रेमिकाएँ नहीं थीं; उनका प्रेम लौकिक नहीं था, जो योगयाग की आवश्यकता पड़ती । वे तो नैसर्गिक प्रेम की पुजारिनी थीं । उनका प्रेम अलौकिक था । उसमें असाधारणता थी । अस्तु, उद्धवजी को जवाब मिलता है—

जो न जी में प्रेम तब कीजै व्रत नेम ,
जब कंजमुख भूले तब संजम बिसेखिए ;
आस नहीं पी की तब आसन ही साधियतु ,
सासन कै साँसन कौ मूँदि पति पेखिए ।
नख सों सिखा लौ सब श्याममई बाम भई ,
बाहिरहू भीतर न दूजो लेख लेखिए ;
जोग करि मिलैं जो बियोग होय बालम सों ,
ह्याँ न हरि होंहिं तब ध्यान धरि देखिए ॥

कैसी अनूठी उक्ति है । अपने प्रेमपात्र के साथ कैसी ज़बर्दस्त तन्मयता है ? घनिष्ठता और एकरूपता का अंत है । विरहिणी बालाएँ अपने विरह का अनुभव ही नहीं करतीं । कैसे अनुभव करें ? उनकी तो रग-रग श्याममय हो रही है । वियोग कहीं हो भी । उद्धवजी को टका-सा जवाब मिल गया । उनकी एक-एक बात गिन-गिनकर उड़ा दी गई ।

अब ज़रा आवागमन की साँकरी गली की ओर चलिए । यह गली बड़ी संकीर्ण है । इसमें दो के एक साथ चलने की गुंजाइश नहीं है । चाहे निकट-से-निकट

संबंधी हो, चाहे घनिष्ठ-से-घनिष्ठ मित्र हो, कोई भी साथ नहीं चल सकता। रास्ता ही नहीं, दो निकलेंगे कहाँ से। उस रास्ते में तो बस अकेले आना और अकेले जाना ही सकता है। जन-परिजन, धन-वैभव सब ज्यों-के-त्यों पड़े रह जायँगे। कोई वहाँ से साथ होकर न निकल सकेगा। इसीलिये देवजी उपदेश देते हैं—

मीर सों न भूलै बीर, चलत न एक तीर,
तीर तरकस को सो झूठो ठक हेला है;
तेरे हाथ दीपक समीप तेरे सूधी बाट,
बाट जिन पेरे तू तो हाट-हाट खेला है।
प्रभुताई पायी पाँय औरन परत कत,
होहु बलि गुरु क्यों बिचल होत चेला है;
आह जनि छोड़े देव दूसरे की राह नहीं,
आवत अकेला जग जात हू अकेला है॥

कितना विशद वर्णन है। संसार के मिथ्या संबंध को त्याग कर सच्चिदानंद परमात्मा के पवित्र चरणों में श्रद्धा और भक्ति की अंजलि समर्पित करने का कितना ओजस्वी उपदेश है!

प्रेम

वैराग्य-शतक में वर्णित प्रेम से मालूम होता है कि देवजी बड़े ऊँचे प्रेम के उपासक थे। देवजी के प्रेम-मद्य का पान करनेवाला सदा मतवाला ही बना रहता है, एक बार उस रंग में रँगा कि सूरदास की काली कमली की भाँति फिर उस पर कोई दूसरा रंग नहीं चढ़ता। उस नशे की खुमारी कभी दूर नहीं होती। और जो उसको पीकर मर जाता है, वह तो अमरत्व को प्राप्त हो जाता है। उनके प्रेम को चखकर फिर अमृत के भी चखने की इच्छा नहीं होती। प्रेम-पचीसी में वह अपने प्रेम की व्याख्या इस प्रकार करते हैं—

जाके मद मात्यो सो उमात्यो है कहूँ न कोई,
बूड़्यो उघरयो न तरयो शोभासिंधु सामु है;
पीवत ही जाहि कोई मरयो सो अमर भयो,
बौरान्यो जगत जान्यो मान्यो सुख-धामु है।
चख के चखक भरि चाखत ही जाहि फिरि,
चाख्यो न पियूष कछु ऐसो अभिरामु है;
दंपति सरूप ब्रज औतरयो अनूप सोई,
देव कियो देखि प्रेमरस प्रेम नामु है।

फिर उसी प्रेम की व्याख्या करते हुए वह आगे कहते हैं—

× × ×

ध्रुव प्रहलाद हिय हुअ अहलाद जासों,
प्रभुता तिलोकहू की तिन सम तूली है;
बेदम से वेद मतवारे मतवारे परे,
मोहे मुनि देव देव सूली उस सूली है।

× × ×

ध्रुव, प्रह्लाद आदि जिस प्रेम के पुजारी होंगे, वह प्रेम कितना पवित्र और कितना उत्कृष्ट होगा, यह स्पष्ट ही है।

मन

शतक के अन्यान्य विषयों की अपेक्षा देव ने मन पर बहुत अधिक लिखा है। प्रत्येक पचीसी में और अनेक स्थानों पर, मन के ऊपर देवजी का कुछ-न-कुछ उल्लेख अवश्य पाया जायगा। आत्म-दर्शन-पचीसी में तो और भी अधिकता से यह वर्णन दृष्टिगोचर होता है। उस पर प्रशंसा की बात तो यह है कि इतना अधिक लिखने पर भी जो कुछ लिखा है, अद्वितीय है। जहाँ पर इस विषय का विशेष रूप से उल्लेख किया है, वहाँ सबसे पहले देवजी उसकी चंचलता का ही वर्णन करते हैं। देवजी ने अपने विषय-विश्लेषण में कितनी सूक्ष्मदर्शिता से काम लिया है, इसका उदाहरण हमें यहीं से मिलता है। मन का सबसे प्रधान गुण चंचलता है। देवजी ने इसी नस को ताड़कर पकड़ा है। इस विषय में पदार्पण करते ही वह कहते हैं—

हाय कहा कहौं चंचल या मन की मति में मति मेरी भुलानी।
हौं समुझाय कियो रसभोग न देव तऊ तिसना बिनसानी॥
दाड़िम दाख रसाल सिता मधु ऊख पिए औ पियूष से पानी।
पै न तऊ तरुनी तिय के अधरान के पीबे की प्यास बुझानी॥

मन की चंचलता का कितना सुंदर वर्णन है। दूसरी ओर उसके हठ दुराग्रह का कितना मार्मिक व्यंग्य है। वह कितना दुराग्रही है कि समझाए समझता ही नहीं। फिर भी मन का यह रोग असाध्य नहीं है। इसीलिये देवजी मन को सँभाले रखने और बहुत बुद्धिमानी के साथ कहीं लगाने की शिक्षा देते हैं। वह जानते हैं कि यह वस्तु बड़ी मूल्यवान् है। यदि गाँठ से गिर गई, तो मिलना असंभव ही समझिए। इसलिये बहुत सोच-समझकर ऐसे स्थान पर इसका समर्पण कीजिए, जहाँ यह अपना लिया जाय, नहीं-नहीं 'आपनसो' कर लिया जाय—तद्रूप हो जाय। वह कहते हैं—

गाँठिहु ते गिरि जात गए यह पैयै न फेरि जु पै जग जोवै।
ठौर ही ठौर रहै ठग ठाढ़ेई पीर जिन्हैं न हँसैं किन रोवै॥
दीजिए ताहि जो 'आपन सो' करै देव कलंकनि पंकनि धोवै।
बुद्धि-बधू को बनाइ के सौंपु तू मानिक सो मन धोखे न खोवै॥

इसी सिलसिले में आगे चलकर मन-मीत का वर्णन आया है। मन-मीत शब्द हमारे कानों में कई बार आया होगा, परंतु आज तक उसकी मिताई का प्रमाण नहीं मिला। देवजी ने इस बात की चेष्टा की है। उन्होंने सिद्ध करने की चेष्टा की है कि वास्तव में मन मीत है। वर्णन मित्रता का है। मैत्री की जननी हैं वासनाएँ, और वासनाओं की जननी हैं ज्ञानेन्द्रियाँ। जहाँ ज्ञानेंद्रिय-जन्य वासनाओं की जितनी अधिक तृप्ति होती है, वहाँ मैत्री भी उतनी ही अधिक घनिष्ठ होती है। एक ज्ञानेंद्रिय-जन्य वासनाओं को तृप्त करनेवाले मित्र की अपेक्षा अनेक ज्ञानेंद्रियाँ-जनित वासनाओं की तृप्ति करनेवाला मित्र अधिक घनिष्ठ होता है और चूँकि इंद्रियाँ पाँच ही हैं, इसलिये पाँच ज्ञानेंद्रियों से उत्पन्न होनेवाली वासनाओं को तृप्त करनेवाला मित्र सबसे अधिक घनिष्ठ होगा। देवजी का मनमीत इसी प्रकार का सर्वश्रेष्ठ मित्र है। वह अनूप रूप दिखाकर नेत्रेंद्रिय को, राग सुनाकर कर्णेंद्रिय को, सुगंध सुँघाकर घ्राणेंद्रिय को, रसभोग कराकर जिह्वा को और संभोग में रखकर स्पर्शेंद्रिय (त्वचा) को—इस प्रकार पाँचों ज्ञानेंद्रियों को तृप्त करता है। अब देवजी के शब्दों में ही उनके मित्र की बड़ाई सुनिए—

रूप अनूप दिखावत ही जिहि राग सुनावत बैस बिताई।
सूँघे सुगंध किए रसभोग संजोगनि सों न घरीक रिताई॥
देवहिं राज दियो घर ही में सभा अपनी सब जोरी जिताई।
मोहिं मिल्यो जब ते मनमीत तजी तबते सबते मैं मिताई॥

प्रथम दो चरणों में पाँचों ज्ञानेंद्रियों की वासनाओं को तृप्त करने की बात कहकर तृतीय चरण में और आगे क़दम बढ़ाया जाता है। वह मित्र देव को अपने (मन के) घर का राजा बना देता है (देवजी मन पर शासन करने लगते हैं) और अपनी सभा की (भाव-सभा की) सब जोड़ियों पर (दुःख-सुख, हर्ष-शोक आदि द्वंद्वों पर) विजय दिलाता है। (देवजी इन द्वंद्वों से परे—द्वंद्वातीत हो जाते हैं) ऐसा सुंदर मीत पाकर देवजी क्यों न सबसे मिताई तज देते।

कुछ उपमाएँ

देवजी ने मन को मानिक की उपमा कई स्थलों पर दी है—

"या मन मानिक के सुनि पारख मोल तिहूँ पुरराजन माख्यो।"

× × ×

"मानिक सों मन खोलिए काहि कुगाहक नाहक के बहुतेरे।"

× × ×

"बुद्धि-बधू को बनाइकै सौंपु तू मानिक सों मन धोखे न खोवै।"

"मन मानिक है हरि हीरा गाँठि बाँध्यो हम

× × ×

ताहि तुम बनज बतावत हौ कौड़ी को।"

आदि कई स्थलों पर इस प्रकार के प्रयोग मिलते हैं। इससे मालूम होता है कि देवजी को यह उपमा अधिक पसंद आई थी। उन्होंने इस उपमा को इतना पसंद क्यों किया, इस विषय में निश्चयपूर्वक तो कहा ही क्या जा सकता है; परंतु मालूम यह होता है कि उसकी समानताओं ने ही उन्हें विशेष रूप से आकृष्ट किया था। मन बड़ा मूल्यवान् पदार्थ है। समस्त इंद्रियों में सबसे अधिक मूल्यवान् मन ही माना गया है। इसलिये उसके उपमान के लिये भी मूल्यवान् पदार्थ की ही आवश्यकता थी। यह बात 'मानिक' में विद्यमान थी ही। दूसरे, मन बुद्धि और चेतना आदि प्रकाशों से प्रकाशित रहता है, वह प्रकाश भी मानिक में मिलता है। और सबके बाद इस प्रकार के मूल्यवान् और प्रकाशवान् अन्यान्य पदार्थों की अपेक्षा मानिक में यह विशेषता और है कि मन के साथ उसमें श्रुतिमधुर अनुप्रास भी आ जाता है। इन सब गुणों से युक्त ऐसे सुंदर उपमान का प्रयोग देवजी कैसे छोड़ देते?

मन-मानिक की भाँति ही देवजी ने ख़्याल खिलौना का प्रयोग भी कई स्थलों पर किया है। "ख़लनि की ख़्यालनि खिलौना लौं खिलायगे", "ख़्याल ख़ाल में मढ़्यो फिरै", "ख़्याल ख़ाल ही के खेलि-खेलि", "ख़ाल के खिलौना खेल खेलत खिलाड़ी है"—आदि अनेक स्थलों पर इस उपमा का प्रयोग किया गया है। ख़ाल को आत्मा का खिलौना बनाना कितना समीचीन है, यह थोड़ा-सा विचार करने पर बड़ी सरलता के साथ समझ में आ जायगा। हमारे यहाँ गुड्डी-गुड्डा का खेल बहुत प्राचीन है। छोटे-छोटे बच्चे—खेलने की उम्रवाले बच्चे—प्रायः यही खेल खेला करते थे। अब भी इसका चलन है। देव के समय में तो और भी अधिक रहा होगा। हमारा शरीर किस पुतले से कम है? अतः आत्मा के लिये

लाल का यह खिलौना कितना उपयुक्त है। उस पर भी लाल खिलौना का मनोहर अनुप्रास। इस प्रकार के चुभते हुए उपमान देवजी ने ख़ूब ढूँढ़ निकाले हैं। लाल की खोल और लाल की परवाल आदि उपमाएँ बहुत प्रचलित हैं। देवजी ने भी उनका उल्लेख किया है। परंतु उनमें वह सुंदरता नहीं, जो लाल खिलौना में है; क्योंकि लाल परवाल आदि की समीक्षा करते ही वीभत्सता आने लगती है, जिससे खिलौना बिलकुल अछूता रहता है। इतना ही क्यों, इसके प्रतिकूल खिलौने में रोचकता आती है।

कुछ रूपक

उपमाओं की भाँति ही देवजी ने रूपक भी बहुत चुस्त बाँधे हैं। दो एक रूपकों की बानगी देखिए। बाज़ार का रूपक है। बाज़ार भी ऐसा-वैसा नहीं, देह-नगर का बढ़िया बाज़ार लगा है। सब सामान जुटा है। आयु का दिन है, जीव-रवि उगा हुआ है गुर (गुरु और गुड़) की बिक्री हो रही है। मोह की गोनियाँ (बोरे) बेची जा रही हैं। बिके हुए माल पर छितीश की छाप लगती है; यमराज निरीक्षण के लिये उपस्थित है और बनिए भी मौजूद हैं। शाम को बाज़ार के उठ जाने का भी ज़िक्र है। सभी कुछ तो है। बाज़ार का और सामान ही क्या बाक़ी रहा ? यह सामान सजाकर देवजी कहते हैं—

आवत आयु को द्यौस अथोतु गए रबि जीव अँध्यारि में ऐहै।
दाम खरे कै खरीद खरो गुर मोह की गोनिन फेरि बिकैहै॥
देव छितीस की छाप बिना जमराज जगाती महा दुख दैहै।
जात उठी पुर देह की पैठ अरे बनिए बनि ए नहिं रैहै॥

सन्निपातावस्था का एक रूपक और उल्लेख योग्य है। इसमें देवजी समस्त संसार को सन्निपातग्रस्त पाते हैं। वह कहते हैं—

लोभ कफ, क्रोध पित्त, प्रबल मदन वात,
मिल्यो सन्निपात उतपात ठलच्यो रहै;
आकबाक बकि-बकि औचक उचकि चकि,
दौरि-दौरि थकि-थकि मरन पच्यो रहै।
सब जग रोगी है सँयोगी औ बियोगी भोगी,
पथन रहन मनोरथन रच्यो रहै;
होय अजरामर महौषधि सँतोष सेवै
पावै सुख मोक्ष जो त्रिदोष से बच्यो रहै।

त्रिदोष—कफ, पित्त, वात के—बिगड़ने से ही सन्निपात होता है। वे तीनों दोष यहाँ मौजूद हैं। सन्निपात में रोगी बकता, झकता, उचकता, भागता है। वही यहाँ हो रहा है। इसके बाद त्रिदोष से बचानेवाली, सन्निपात से मुक्ति प्राप्त करानेवाली औषध भी प्रस्तुत है। सारांश यह कि सन्निपात पैदा होने से उससे अच्छा होने तक का सामान यहाँ प्रस्तुत है।

कुछ मंतव्य

देवजी की कविता को पढ़नेवाले जानते हैं कि वह कितने सूक्ष्मदर्शी और उदार विचार के पुरुष थे। वैराग्य-शतक में भी उनकी इन भावनाओं का प्रतिबिंब स्थान-स्थान पर लक्षित होता है। इन वर्णनों में एक ओर उनकी सूक्ष्म-दर्शिता और दूसरी ओर उदार भावना दोनों का बड़ा सुंदर समन्वय पाया जाता है। अपनी उदारता में वह यहाँ तक बढ़े हुए मिलते हैं कि शैव, वैष्णव, सनातनी, आर्य-समाजी हिंदू-मुसलमान आदि छोटे-छोटे सांप्रदायिक संकीर्ण विचार-क्षेत्रों से बहुत दूर प्रांत और देश—सबकी चहारदीवारी लाँघकर विश्व के अखंड विस्तीर्ण क्रीड़ाक्षेत्र में समान रूप से विचरते हुए पाए जाते हैं। देवजी ने वैराग्य-शतक में विश्व-प्रेम की बड़ी उदात्त भावना का अभिव्यंजन किया है। वह जन्म की सार्थकता ही इसमें मानते थे कि ऊँच-नीच हिंदू-मुसलमान, शैव-शाक्त का संकीर्ण विचार छोड़कर प्राणि-मात्र का हितसाधन किया जाय। इसीलिये उन्होंने जगद्दर्शन-पचीसी में कहा है—"जीवन को फल जगजीवन सों हित करि जग में भलाई करि लेयगो सु लेयगो।" इस प्रकार का वाक्य अकस्मात् ही केवल एक ही बार निकल पड़ा हो, ऐसी बात नहीं है। इसी आशय की बातें अन्यान्य स्थलों पर भी व्यक्त की गई हैं। जैसे आत्मदर्शन-पचीसी में "जेई जगमीत तेई जग में सुजान जन सज्जन सुशील सुख शोभा सरसाहिंगे" और तत्त्व-दर्शन-पचीसी में "मानत सनेह सब ही सों मन भायो है" आदि। इन पुनरावृत्तियों से स्पष्ट प्रकट होता है कि देवजी का मत इस संबंध में बिलकुल दृढ़ था। इसी प्रकार वह इस बात पर भी बराबर ज़ोर देते हुए पाए जाते हैं कि ईश्वर की प्रभुता पहचानने के लिये मनुष्य को विश्वास से काम लेना चाहिए, तर्क और पार्थिव प्रयोगों द्वारा उसकी सत्ता का प्रमाण ढूँढ़ना भूल है। अदृष्ट के दृष्ट प्रमाण कहाँ संभव हो सकते हैं।

उनमें तो विश्वास ही काम देता है। 'विश्वासो फलदायकः' के अतिरिक्त और कोई चारा ही नहीं है। इसीलिये देवजी ने प्रतीति और विश्वास की महिमा बहुत गाई है। यदि ईश्वर से साक्षात्कार करना है, तो विना प्रतीति किए हो ही नहीं सकता—"जोगी जपी तपी पंडित प्रेमी प्रतीति विना पचि हारे न पायो", "पाइए प्रगट परमेश्वर प्रतीति में"—आदि वाक्यों में उन्होंने इसी सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। एक बात पर और ज़ोर देते हुए भी वह पाए जाते हैं। वह है एकांतनिष्ठा। सांसारिक मृग-तृष्णा की उपेक्षा कर अनन्य भाव से परमात्मा की शरण स्वीकार करना उनका बड़ा व्यापक और बहुत ही महत्त्वपूर्ण उपदेश है। "एकै अभिलाख लाख-लाख भाँति देखियत देखियत दूसरो न देव चराचर में", "एक मन मेरो मेरे काम को न रह्यो देव स्याम रंग ह्वै करि समानो स्याम रंग में", "जौही लौं न जाने अनजाने रही तौलौं अब मेरो मन भाई बहकाए बहकत नाहिं", "नख सों शिखा लौं सब स्याममयी बाम भई बाहिरहू भीतर न दूजी लख लेखिए"—आदि अनेक उदाहरणों में उन्होंने एकांतनिष्ठा का महत्त्व भिन्न-भिन्न रूपों में दर्शाया है। यह एकांतनिष्ठा कितनी अभीष्ट है, इसकी विवेचना करने की न तो आवश्यकता है और न प्रसंग ही। इतना जान लेना पर्याप्त है कि एकांतनिष्ठा सफलता की सबसे प्रधान कुंजी है। अस्तु।

उपसंहार

सब बातों पर विचार करने से मालूम होता है कि वैराग्य-शतक बड़ा ही अनूठा ग्रंथ है। हिंदी-साहित्य का यह बड़ा मूल्यवान् रत्न है। यह बात अवश्य है कि इसका मूल्य आध्यात्मिक है। भौतिक उपयोगितावाद के इस युग में इस प्रकार की कविताओं का समादर प्रायः कम ही होता है। किंतु कविता आख़िरकार कविता ही है और उसमें उपयोगिता के उस स्थूल रूप को देखने की इच्छा करना भ्रांति है। वहाँ पर उपयोगिता के सूक्ष्म रूप के दर्शन होते हैं। वह भी उपयोगिता ही है, जिससे मानव-हृदय के उन सोए हुए सुकुमार भावों को जाग्रत् होने का अवसर मिलता है, जिनके होने से कोई मनुष्य पूर्ण मनुष्यत्व प्राप्त कर सकता है। इस दृष्टिकोण से विचार करने पर इस प्रकार की कविताएँ भी अनुपयोगी न ठहरेंगी। मेरी धारणा है कि यदि उदारता और सहृदयता के साथ वैराग्य-शतक का अध्ययन किया जायगा, तो ग्रंथ सब दृष्टियों से अत्यंत उत्कृष्ट सिद्ध होगा।

विष्णुदत्त शुक्ल

स्वर्ग-सुख

(१)

मातावदल नगर का नामी मिस्त्री था। साइ-किल और मोटर-साइकिल दुरुस्त करने के काम में वह उस्ताद था। इस संबंध का कोई भी काम उसकी दूकान से वापस न जाने पाता था। अब वह वृद्ध हो चला था। उसके गाल पचक रहे थे। चेहरे पर झुर्रियाँ स्थान जमाने लगी थीं। आँखें गड्ढों में धँसी जा रही थीं। बात यह थी पिछले दस वर्ष उसने बड़ी मिहनत में बिताए थे। सड़क के चौराहे के कोने में, बड़े अच्छे मौक़े पर, उसकी दूकान थी। इसलिये सवेरे से लेकर रात के बारह बजे तक उसके यहाँ ग्राहकों का आना-जाना बराबर लगा रहता था। ख़ासी आमदनी की बात ठहरी। इसी प्रलोभन में मातावदल की दूकान रात के बारह बजे तक खुली रहती थी।

मातावदल ने अब रुपया भी काफ़ी पैदा कर लिया था। उसकी दूकान पर अब कई छोटे-छोटे लड़के काम करते थे। अब मातावदल को अकसर फ़ुरसत रहती थी। जब कभी लड़के शैतानी कर बैठते, तो मातावदल किसी को पकड़कर चपत लगाता, किसी के कान मल देता और किसी-किसी को दो-चार खरी-खोटी सुना देता। लड़के थोड़ी देर में मिल जाते और आपस में हँसी करने लगते। इन्हीं लड़कों में एक लड़का रघुआ नाम का था। कोई-कोई उसे रग्घू भी कहा करते थे। पर असल में क्या रघुआ और क्या रग्घू,

दोनों ही नाम उसके बिगड़े हुए नाम थे। वास्तव में नाम उसका बड़ा दिव्य था—राघव।

उस लड़के का 'राघव' नाम जैसा दिव्य था और जैसे उसको पुकारनेवाले उसे 'रघुआ' कहकर एक हलके प्यार की छाप लगा देते थे, वैसे ही राघव का स्वभाव भी कुछ कम दिव्य न था। वह बड़ा हँसोड़ था, बड़ा दिल्लगीबाज़। वह अपने सब साथियों को ख़ूब हँसाया करता था।

मातावदल को अब खाँसी आने लगी थी। जब वह किसी पर बिगड़ने लगता था, तो खाँसीके साथ-साथ उसकी साँस भी उखड़ पड़ती थी। दोपहर को मातावदल घर पर खाना खाने न जाता, किसी-न-किसी लड़के को घर भेजकर खाना मँगा लेता था। एक दिन पानी बरस रहा था। ऐसी झड़ी लगी थी कि किसी लड़के का दूकान से निकलकर सड़क पर आना कठिन हो रहा था। दोपहर हो गई थी। सब लड़के बारी-बारी से, समय निकाल-कर, छाता लगाकर अपने-अपने घरों से खाना खा आए थे। अब मातावदल की बारी थी। जिस समय लड़के खाना खाने के लिये गए थे, उस समय तो उतनी ज़ोर से पानी नहीं बरसता था, पर अब तो क्षण को भी पानी का बरसना बंद नहीं हो रहा था। यह हालत देखकर मातावदल बड़बड़ाने लगा। वह इस तरह बकने लगा—अब यह पानी भी दम नहीं लेगा। कितनी देर से देख रहा हूँ, साला बंद ही नहीं होने आता है।...पराँठे तो भीग ही जायँगे, आलू-गोभी का साग भी सत्यानास हो जायगा! कैसा साला......उँह......झड़ी लगाए हुए है।

रघुआ ने मुँह नीचे किए हुए, अपने साथियों की ओर एक बार आँखों का चक्कर लगाकर धीरे से कहा—बुड्ढा बकरा सनका—सनका। बस, अब......(तब तक एक साथी इस्माइल ने ज़रा-सा हँस दिया) खाँसना ही चाहता है।

रघुआ यह कहकर चुप हो गया। इस्माइल हँस-हँसा-कर टेढ़ा-तिरछा मुँह बनाने लगा। तिरबेनी से न रहा गया, वह ठट्ठा मारकर हँस पड़ा। रघुआ धीरे से कह उठा—लो बचू, अब की मरम्मत हुए विना......। वाक्य पूरा भी न हो पाया था कि बुडढा बोला—क्या है रे तिरबेनी, बड़ी हँसी छूट रही है। आऊँ क्या? सालों को बोसों मरतबे समझाया, मानते ही नहीं। आज एक-एक को देखूँगा—क्यों हँसता है बे? बोल तो!!

तिरबेनी ने मुँह लटका लिया। वह बोला—कुछ नहीं दादा, यह रघुआ......देखो-देखो, अभी—अभी हँसी लगा रहा है।

बुड्ढा बोला—वह तो चुपचाप टायर लगा रहा है। साला झूठ बोलता है। इतना कहकर वह उठा और चला तिरबेनी के चपत जमाने। एक दो-तीन, अरे-अरे—चटापट, देखते-देखते, उसके, पाँच-सात चपतें बैठ गईं। बुड्ढा कहता गया—ले साले, ले साले, और बहुत हँसेगा।

तिरबेनी कहता गया—नहीं दादा—नहीं दादा। अब नहीं।

लेकिन सच पूछो तो मातावदल बहुत सहती हुई चपतें, पोले हाथों से, लगाता था। वह ख़ुद यह नहीं चाहता था कि तिरबेनी चपतें सहन न कर सके और रोने लगे। उसे किसी का रोना बहुत बुरा लगता था।

बुड्ढा चपतें लगाकर, लौटकर अपने बिछे हुए तखत पर बैठ भी न पाया था कि रघुआ बोल उठा—बड़ा साला फुर्तीला है। रघुआ इतना ही कह पाया था कि बुड्ढे ने मुँह घुमाकर, एक-आध सफ़ेद-सफ़ेद चमकने-वाले बालोंवाली भौंहें चढ़ाकर पूछा—क्या है रे रघुआ?

रघुआ बोला—कुछ नहीं दादा, एक बुड्ढा मुसवा था, सो चटपट मेरी टोकनी से एक धान की खील उठा-कर चट कर गया और मैं देखता ही रह गया। बड़ा साला बदमाश है, बड़ा खुर्राट।

रघुआ की बात पर इस्माइल और तिरबेनी दोनों के दोनों फिर खिलखिला पड़े। बात यह थी कि रघुआ के पास जो टोकरी रक्खी थी, उसमें अब धान की खीलें गिनती की तीन रह गई थीं। और, वहाँ किसी चूहे का पता न था।

इसी समय एक ग्राहक आकर तिपाई पर बैठ गया और कहने लगा—मेरी साइकिल का टायर दो जगह फट गया है। उसमें टायर के टुकड़े रख देने की ज़रूरत है।

बुड्ढे ने जैसे कुछ सुना न हो। वह कह रहा था—देखा आपने, साले सब-के-सब शैतान के बच्चे हैं। आपस

में हँसते हैं, और मुझे बहला देते हैं । अभी-अभी इस छोकरे की खोपड़ी गरम करके लौटा था कि देखो, फिर हँसने लगा ।

ग्राहक बोला—अजी, जाने भी दीजिए, लड़के ठहरे । लड़कों का स्वभाव ही... ।

बुड्ढा बिगड़कर बोल उठा—जाने क्यों दे जनाब ! यह दूकान है, या कोई चंडूख़ाना ।

ग्राहक—बड़ी जल्दी आपका मिजाज़ गरम हो जाता है । मैंने तो धीरे से आपसे कहा और आप इस तरह बिगड़ उठे ।

अब बुड्ढा कुछ शांत होकर बोला—बिगड़ने की बात नहीं है बाबूजी, ये सब-के-सब बड़े शैतान हैं, आप इन्हें नहीं जानते ।

ग्राहक—ख़ैर, होगा । आप भी तो कभी लड़के रहे होंगे । क्या आप बिलकुल सीधे-सादे—एकदम—बहुत ही अच्छे लड़के रहे होंगे ? मुझे तो यक़ीन नहीं होता । माफ़ कीजिएगा ।

अब माताबदल ने भी थोड़ा मुसकरा दिया । वह बोला—ख़ैर, कहिए आपका काम क्या है ?...और हाँ रे रघुआ, देख पानी कुछ मध्यम हुआ, जा तो, खाना ले आ ।

रघुआ ने चट से एक नई साइकिल ली और चल खड़ा हुआ । इस्माइल बोला—बाबूजी, रघुआ नई साइकिल ले गया ।

बुड्ढा बोला—देखी, बाबूजी आपने, उस छोकरे की शैतानी ! नई साइकिलें ग्राहकों के लिये ली गई हैं या इन बदमाशों के लिये ?

ग्राहक—आपका कहना भी ठीक है । पर आप इसकी निगरानी क्यों नहीं रखते ?

बुड्ढा—निगरानी !......अब निगरानी—आप ही बतलाइए, जब तक ख़बर पाऊँगा, तब तक वह लेकर चंपत हो जायगा ! यही तो इनकी बदमाशी है । और मैं आपसे अर्ज़ क्या कर रहा हूँ ।

ग्राहक—अच्छा, अब हमारे फटे टायर के अंदर टुकड़े तो रखवा दीजिए । कितनी देर से बैठा हूँ ?

(२)

माताबदल के घर में उसकी बुढ़िया पत्नी थी और एक कन्या । बच्चे तो उसके कई हुए थे, पर कुछ ही दिनों तक अपनी लीला का आलोक दिखाकर अंतर्द्धान हो जाते रहे थे । कन्या अभी छोटी ही थी । कोई सात वर्ष की होगी । भगवान् शंकर की अनुकंपा से ही उसकी यह कन्या बची है, बुढ़िया का ऐसा ही विश्वास था । वह शंकर की बड़ी भक्त थी । जब से उसने अपनी सुध सँभाली, तब से एकादशी को बराबर उपवास रहती आ रही है । इसीलिये बड़ी आशा से उसने अपनी इस कन्या का नाम पार्वती रक्खा था ।

पार्वती ही उस बुढ़िया के अँधेरे घर का प्रकाश थी । जब कभी वह जो चीज़ चाहती, तब, उसी समय, उसके लिये, वही चीज़ बुढ़िया मँगा देती थी । एक मास्टरनी उसे पढ़ाने को उसके घर पर आती थी । बुढ़िया और बुड्ढे, दोनों का विश्वास था कि लड़कियों के स्कूल में पार्वती को भी अगर पढ़ने को भेजा जायगा, तो वह पढ़ेगी तो कम, लेकिन शौक़-ज़ौक और फ़िज़ूलख़र्ची ज़्यादा सीख लेगी । इसीलिये पार्वती की शिक्षा उसके घर पर ही होती थी । लेकिन पढ़ने में उसका जी नहीं लगता था । वह तो दिन-भर मुहल्ले की लड़कियों के साथ खेला करती थी । मास्टरनी आती, तो उसे कभी मालूम होता, आज पार्वती की तबीयत ठीक नहीं है, उसके सिर में दर्द है, वह आज नहीं पढ़ेगी । कभी मालूम होता, आज उसकी गुड़िया का ब्याह है, भला आज पढ़ने का क्या काम ? इस तरह पार्वती की शिक्षा का कार्य बहुत ही मंद गति से चलता था । बड़ी मुश्किल से वह साल डेढ़ साल में मामूली नाम लिखना सीख सकी थी ।

रघुआ जब माताबदल के लिये खाना लेने आता, तो थोड़ी देर के लिये पार्वती रघुआ के साथ भी हँस-खेल लेती थी । रघुआ पार्वती को परेशान किए बिना न मानता । वह कभी उसके सिर के बालों में खोंसने के लिये गुलाब के फूल ले आता ; कभी अँगरेज़ी खट-मिट्ठी धीरे-धीरे रस चूसनेवाली मिठाई । वह जब मिठाई ले आता, तो पार्वती को दिखा-दिखाकर खाने लगता । पार्वती झपटकर उसके हाथ या जेब से मिठाई छीन लेने की चेष्टा करती । इस तरह जब तक एक-आध बार गुथकर आपस में लड़ न लेते, एक-आध बार इधर से उधर भाग न लेते और अन्य किसी तरह की और कोई बात न होती, तो धोखे से

चिकोटी काटकर एक दूसरे को हँसा या ऊपरी मन से ऊँ-ऊँ करके रुला न लेते थे, तब तक दो में से किसी को संतोष न होता था। शिकायतें कभी बुढ़िया के पास पहुँचतीं और कभी सीधे माताबदल के पास। कभी रघुआ कहता—देखो बाबूजी, दीदी ने मेरी टोपी कीचड़ में फेंककर गंदी कर दी है, कभी पार्वती कहती—नहीं दादा, मैंने यह कुछ नहीं किया है। इसी ने मेरी गुड़िया का सिर हिला-हिलाकर उखाड़ डाला है। बेचारा माताबदल जब कभी दोनों पक्षों की बात सुनने बैठता और चाहता कि कुछ-न-कुछ फ़ैसला कर दिया जाय, तो वह दोनों को अपराधी पाकर हैरान हो उठता और ऊपर मन से कहने लगता—यह रघुआ बड़ा शैतान हो गया है, क्यों री? अब इसको निकाल दिया जाय। क्यों? पार्वती उस समय मुँह लटका लेती और उसके मुँह से फिर कोई बात सहसा नहीं निकलती थी। मातावदल अपने पोपले मुँह पर मंद-मंद हास्य छिटकाता हुआ पार्वती के पीछे पड़ जाता था। वह यह जानते हुए भी कि पार्वती रघुआ का हटाया जाना पसंद न करेगी, बार-बार इसी की बातें करने लगता था। लाचार होकर पार्वती को कहना पड़ता—नहीं दादा, रघुआ की मैं कोई शिकायत थोड़े ही करती हूँ। उसने जब मेरी शिकायत की, तब फिर मुझे भी उसकी शिकायत करनी पड़ी। नहीं तो, वैसे, मैं उससे कुछ ज़्यादा नाराज़ थोड़ा ही हूँ। मातावदल पार्वती का यह उत्तर पाकर जब कहता—तो रघुआ बड़ा ही अच्छा लड़का है। क्यों न? जाड़ा आ गया है, उसके लिये ऊनी कोट बनवा दिया जाय, क्यों?

पार्वती उसी समय आकर वृद्ध मातावदल की गोद में बैठकर कभी उसकी दाढ़ी के बाल सहलाने लगती और कभी उसके कोट के बटन खोलने लगती थी। यही मातावदल के प्रश्न का उत्तर होता था। और उस समय मातावदल अपने जीवन को धन्य मानकर निहाल हो जाता था।

(३)

रघुआ दूकान में ही सोता था। उसके घर-द्वार कोई न था। जब उसने अपनी सुध सँभाली थी, तब उसने अपने आपको गंगा घाट पर भीख माँगते हुए पाया था। मातावदल एक दिन गंगा स्नान करके ज्यों ही लौटने लगा, त्यों ही रघुआ पैसे लेने के लिये कई लड़कों के साथ उसके पीछे पड़ गया। और लड़के तो अन्य लोगों से कुछ पैसे पा चुके थे, पर उस दिन रघुआ को एक पैसा भी न मिला था। इसीलिये वह बड़ी दूर तक मातावदल के पीछे-पीछे चला आया। अन्य लड़के लौट गए थे। मातावदल ने अपनी जेब टटोली, तो एक भी पैसा न था। रुपए ही रुपए थे। विवश होकर उसे कहना पड़ा—यहाँ तो पैसे नहीं हैं। और तू इतनी दूर तक मेरा पीछा करता हुआ आ रहा है, इसलिये अब तुझे लौटाऊँगा भी नहीं। चल, दूकान पर तुझे पैसे दूँगा। इस तरह रघुआ मातावदल की दूकान तक उसके पीछे-पीछे चला आया था।

दूकान पर बक्स से पैसे निकालकर ज्यों ही मातावदल रघुआ को पैसे देने लगा, त्यों ही उसके मन में आया कि उसका हाल-चाल भी पूछ देखूँ। इसलिये पैसे संदूकचे के ऊपर रखकर मातावदल ने पूछा—पैसे लेकर क्या करेगा, बोल?

रघुआ तब ज़रा और छोटा था। यही ५-६ वर्ष का रहा होगा। उसके बालों में कड़ुआ तेल पुता हुआ था। साथ ही धूल भी काफ़ी जमी हुई थी। स्वस्थ देह पर एक फटा-पुराना चीकट कुरता था, जिसकी बाहें हाथों को पार कर जातीं, यदि वे लौटाई न गई होतीं। कुरते की लंबाई पैर की गाँठों को पार कर गई थी। इस कुरते के सिवा उसके बदन पर कोई दूसरा कपड़ा न था। इसलिये कहना होगा, भीतर से वह नंगा था।

खीसें बाकर, आगे के बड़े-बड़े दो दाँत दिखलाते हुए, रघुआ ने कहा—जिबेली खायँगे—जिबेली।

मातावदल की छोटी कन्या पार्वती तब ढाई-तीन वर्ष की रही होगी। वह भी तोतली बोली बोलने लगी थी। इसीलिये 'जिबेली' शब्द के समझने में मातावदल को ज़रा भी देर न लगी। उसके मन में आया कि उसे एकदम से उठाकर उसका धूलि-धूसरित मुख चूम ले, पर कुछ सोचकर वह स्थिर रहा।

अब मातावदल ने पूछा—तेरी मा कहाँ है?

रघुआ—मा—मा, क्या जाने कहाँ चली गई। दस-बारह दिन से मिली ही नहीं। सभी जगह तो ढूँढ़ फिरा।

माता०—तो वह कहीं चली गई !

रघुआ ने कुछ उत्तर न दिया। उसकी आँखों में आँसू झलक आए।

मताबदल ने फिर पूछा—और तेरा बाप कहाँ है ?

रघुआ ने उत्तर दिया—मैं नहीं जानता।

माताबदल मन-ही-मन कहने लगा—बेचारा अनाथ है। फिर वह बोला—अच्छा, अब तुम कहाँ जाओगे ?

रघुआ—वहीं अपने साथियों के पास जाऊँगा, और कहाँ।

माता०—वहाँ जाकर क्या करोगे ?

रघुआ—पैसे माँगूँगा, जिलेबी खाऊँगा और घूमूँगा।

माता०—रात में कहाँ रहते हो ?

रघुआ—अपने साथियों के साथ, जहाँ जी में आया, वहीं सो रहा।

माता०—अगर तुम मेरे यहाँ रहो, तो कैसा हो ? रोज़ जलेबी खाने को मिलेगी, कपड़े भी पहनने को मिलेंगे। इसके सिवा जो कुछ तू चाहेगा, वह भी दिया जायगा।

रघुआ कुछ सोचने लगा।

माताबदल भी रघुआ के मन का भाव ताड़ने की चेष्टा करने लगा। थोड़ी देर तक जब रघुआ मौन रहा, तो माताबदल ने फिर पूछा—बोलो, क्या कहते हो ?

रघुआ ने कहा—मैं तुम्हारे यहाँ नहीं रहूँगा।

माता०—क्यों ?

रघुआ फिर चुप था। माताबदल ने कहा—तुम्हें मेरे यहाँ कोई तकलीफ़ न होगी। यह कहकर उसने अपने यहाँ काम करनेवाले एक लड़के तिरबेनी से मिठाई और जलेबी मँगाकर रघुआ को खिलाई।

रघुआ ख़ुशी-ख़ुशी मिठाई खाने लगा। आज उसने पेट-भर मिठाई खाई। मिठाई खाने के बाद उसने निकट ही सड़क पर लगे हुए पाइप में पानी पिया। अब वह बड़ा ख़ुश देख पड़ा।

माताबदल ने कहा—ये लड़के दूकान में काम करते हैं, इन्हीं के साथ खेला करना। क्यों, है न तुम्हारा जोड़ ?

रघुआ ने ख़ुश होकर, दाँत वाकर कहा—हाँ।

बस, रघुआ माताबदल के यहाँ हँसी-ख़ुशी से रहने लगा। एक-आध बार जब उसे अपने पुराने साथियों की याद आई, तो वह भग भी गया। पर उनके साथ रहकर फिर वह भूख न सह सका और फिर लौट आया। जब कभी उसका कोई साथी मिल जाता, तब वह देर तक उससे तरह-तरह की बातें करता रहता। कभी-कभी उसकी इच्छा उसका साथ देने की भी हो आती, पर उस गंदे जीवन से उसे अब घृणा हो गई थी। इस तरह रघुआ माताबदल के घर और बाहर से धीरे-धीरे पूरी तरह मिल गया।

(४)

पार्बती अब सयानी हो रही थी। उसके मृदुल चंचल स्वभाव में गंभीरता आने लगी थी। दौड़कर चलना, रघुआ पर किसी विशेष वस्तु के लिये एकदम से आक्रमण करना, साधारण-सी बात पर उससे मान करना या ठट्ठा मारकर हँसना धीरे-धीरे कम हो चला था।

लेकिन रघुआ का लड़कपन अभी तक वैसा ही बना था। जब कभी मौज में आता, ज़रा भी सड़क ख़ाली देखता, तो वह चट साइकिलबाज़ी के हथकंडे दिखाने लगता था। कभी साइकिल पर चढ़े-चढ़े उसका अगला पहिया उठा लेता, कभी दो साइकिलें लेकर क्षण-क्षण में एक से दूसरी पर आता-जाता और दोनों को बराबर चलाता रखता, कभी उसकी 'सीट' पर पेट के बल लेट जाता, पैर 'कैरिएर' पर पीछे रख लेता और दोनों हाथों से दोनों ओर के पैडिल घुमा-घुमाकर साइकिल दौड़ाता और जब चाहता, तभी चट से साइकिल खड़ी करके नीचे आ जाता। इस तरह के खेल दिखलाते हुए उसे अपार हर्ष होता था। एक बार रघुआ ये खेल दिखलाने में व्यस्त था, उसी समय एकाएक पार्बती दूकान पर आ गई। दूकान के अंदर बैठी हुई वह चुपचाप रघुआ के खेल देखती रही। एक बार रघुआ दो साइकिलों को चलाते हुए दोनों की सीटों पर उछल-कूद कर रहा था। एकाएक सामने एक आदमी आ गया। रघुआ ने उसको बचाने की चेष्टा की, तो धड़ाम से दोनों साइकिलों को लेकर सड़क पर आ रहा। दर्शकों ने करतल-ध्वनि की और उसी समय पार्बती भी हँस पड़ी। फिर तो रघुआ दूकान में पार्बती को बैठा हुआ देखकर बहुत लजा गया। वह दूकान की ओर बढ़ा, तो उसने देखा पार्बती उसकी ओर देखकर मुँह में रूमाल लगाए हुए

मुसकरा रही है। अब तो रघुआ और भी कट गया। मातावदल उसे संतोष देते हुए बोला—क्या हुआ, जो गिर पड़ा। दर्जनों खेल दिखलानेवाला खिलाड़ी यदि कभी एक-आध बार संयोग से चूक जाय, तो इससे क्या होता है।

रघुआ इस पर कुछ बोला नहीं। पर कोई एक भाव उसके मन को मसोसने लगा। बार-बार उसके जी में आया, अगर मैं अपने मन में साइकिल पर पूरी तरह से अधिकार होने का अभिमान न करता, तो काहे को आज मुझे पार्वती के सामने लज्जित होना पड़ता। बार-बार वह अपनी चंचलता को धिक्कारने लगा। उसका चेहरा बिलकुल उतर गया।

रघुआ को अन्यमनस्क देखकर पार्वती ने कहा—दादा, मैं तो रग्घू भैया के खेल देखकर एकदम से चकित हो गई।

यह कहकर पार्वती रघुआ की ओर देखने लगी।

मातावदल बोला—हाँ बेटी, रघुआ साइकिल का मास्टर है।

पार्वती बोली—कहीं नुमायश या मेला हो और वहाँ रग्घू भाई अगर अपने इस तरह के करिश्मे दिखलाने का तमाशा करें और टिकट लगा दें, तो सैकड़ों रुपए पैदा कर सकते हैं।

मातावदल—वैसे ही रघुआ कौन कुछ कम पैदा करता है। अब उसने रुपया जमा करना शुरू कर दिया है। तीन-चार सौ रुपया तो जमा कर लिया होगा। क्यों रे?

रघुआ प्रसन्नता से गद्गद हो गया। उल्लसित मुख से, अपने दोनों बड़े-बड़े दाँत बाहर निकालकर वह बोला—हाँ दादा, अब तो पूरे चार सौ रुपए हो गए।

मातावदल—फिर क्या है, जहाँ एक हज़ार पूरे हो गए, रघुआ का ब्याह कर दूँगा।

रघुआ ने पार्वती की ओर देखते हुए कहा—नहीं दादा, मैं ब्याह-वाह नहीं करूँगा। इसी तरह बड़े मज़े में हूँ

मातावदल—दुत्! पागल कहीं का! यह क्या कहता! ब्याह नहीं करेगा, तो क्या तेरे लिये रोटी पो-पोकर खिलाने को पार्वती यहाँ बैठी रहेगी।

रघुआ एकायक अप्रतिभ हो गया। उसकी समझ में नहीं आया कि अब वह क्या उत्तर दे। और कुछ इधर-उधर न देखकर वह एक ग्राहक की साइकिल की मरम्मत करने में लग गया। इतने में दो ग्राहक आ गए। मातावदल की बात ज्यों-की-त्यों रह गई। पार्वती भी घर की ओर चल दी।

(४)

पार्वती का ब्याह हो गया। वह अपनी ससुराल चली गई। घर पर पार्वती की बुढ़िया मा ही अकेली रह गई। रोटी बनाने के लिये एक महराजिन आने लगी। कुछ दिनों तक तो पार्वती का अभाव बहुत खलता रहा; पर धीरे-धीरे सब काम ढंग पर आ गया।

जब कभी पार्वती की मा की तबियत ख़राब होती, तो वह सोचती, यदि इस समय मेरी पार्वती होती, और मेरे निकट बैठती, सिर में दर्द होता तो तेल की मालिश करती; पैरों में दर्द होता तो पैर दाबती। हाय, इस समय मेरी पार्वती भी नहीं है—

मातावदल के कोई लड़का न था। उसके प्राणों की निधि, उसकी एकमात्र आशा, अगर कोई थी, तो पार्वती। सो वह भी अपने घर की हुई। अब रघुआ ही निरंतर उसके सामने रहता था। लेकिन तब और अब के रघुआ में बड़ा अंतर हो गया था। पहले तरह-तरह की रँगीली बातें करके चुहलबाज़ी करने और लोगों को सदा हँसाते रहने में ही उसका सारा समय जाता था। और न सही, तो वह अपने साथियों से लड़ ही बैठता था, कुछ देर के लिये यही एक नुसख़ा बन जाता था। पर अब रघुआ एक युवक के रूप में आकर मातावदल की दूकान का मिस्त्री था। उसके साथी रमाइल और तिरबेनी भी धीरे-धीरे चले गए थे। तिरबेनी कहीं मोटरड्राइवर हो गया और रमाइल ने उन्नति करके साइकिल की दूकान खोल ली थी। पहले जब कभी रघुआ को भूख लगती, तो वह झट मातावदल के लिये खाना लाने के बहाने घर को चंपत हो जाता था। अब दोपहर के बाद एक भी बज जाता है और रघुआ काम छोड़कर खाना खाने नहीं जाता। उधर मातावदल घर पर पड़ा रहता है। उसे दम आती है। खाँसी तो उसके साथ जन्म को लगी हुई है। जब कभी रघुआ को खाना खाने के लिये देर हो जाती, तो महराजिन खाना ढककर चल देती। खाना ठंडा हो जाता। रघुआ अब

कभी पहुँचता, तो उसी ठंढे खाने को पेट के अंदर जैसे-तैसे छोड़ लेता था। पहले चार पराँठे खाने की भूख होती, तो पार्वती से मीठी-मीठी सोंधी-सोंधी बातें करते-करते, चुटकियाँ बजाते हुए, छः खा जाता और कुछ मालूम न पड़ता था। अब चार की भूख होते हुए भी दो ही मुश्किल से पेट में छोड़ पाता था। देर हो जाने पर मातावदल कहता—आज तो तुमने बड़ी देर कर दी रग्घू।

रग्घू या तो कुछ उत्तर ही न देता, अथवा कह देता—हाँ दादा, काम ही ऐसा आ गया था।

मातावदल—काम-ही-काम देखते हो, कुछ शरीर भी तो देखा करो। इसी से सब कुछ लगा है। तुमसे रोज़ कहता हूँ, ब्याह कर लो, लेकिन तुम मेरी कुछ सुनते ही नहीं।

लेकिन रघुआ ऐसी बातों का उत्तर देना नहीं जानता।

जब कभी पार्वती ससुराल से आती, तो एक नया संसार निर्मित हो जाता। उसके माता-पिता उससे बातें करते हुए फूले न समाते। पार्वती के लिये तरह-तरह का भोजन तैयार कराया जाता, बंगाली मिठाई और फलों की घर में काफ़ी इफ़राद रहती। कभी घर में गाना गानेवाली बुलाई जातीं और रात के एक बजे तक संसार का स्वर्ग मातावदल के घर के आँगन में नाचा करता। इस प्रकार उन दिनों आनंद-विनोद मातावदल के परिवार के कोने-कोने में समाया रहता था।

लेकिन रघुआ के मुख पर सदा गंभीरता की छाप रहती। पार्वती जब कभी कोई बात उससे कहती, तो वह बड़ी विनम्रता के साथ उसका उत्तर देकर चुप हो जाता। रघुआ का यह शुष्क व्यवहार पार्वती बहुत दिनों तक टालती रही। एक दिन जब उसका जो न माना, तो उससे कहा—राघव भैया, आज मैं तुमसे कुछ बातें करना चाहती हूँ।

रघुआ ने चकित होकर कहा—मुझसे!

पा०—हाँ, तुम्हीं से।

रघु०—क्या, कहो।

पा०—देखती हूँ, तुम्हारा स्वभाव ही एकदम से बदल गया है। मुझसे भी तुम एकदम फटे-फटे से रहते हो। इस तरह बातें करते हो, जैसे मैं इस घर के लिये कोई नई हो गई हूँ। क्या बचपन की बातें भी तुमने अपने हृदय से निकाल कर फेंक दी हैं? क्या तुम्हें कभी इतना अवकाश नहीं मिलता कि तुम घड़ी-दो घड़ी को मुझसे भी मिलो, कुछ अपनी बात सुनाओ, कुछ मेरी सुनो?

रघुआ चुप था।

पार्वती ने कहा—मैंने जो कुछ कहा, क्या तुमने उसे सुना नहीं?

रघुआ ने फिर भी कुछ उत्तर नहीं दिया। उसकी आँखों में आँसू भर आए।

पार्वती ने कहा—मैंने तुमको कभी दूसरा नहीं समझा। मेरे घर में तुम सदा मेरे भाई की तरह रहे हो। लेकिन ससुराल से आने के बाद तुममें बड़ा परिवर्तन देख रही हूँ। वह हँसना, वह मसखरी की बातें करना, वह छीन-झपट और वह मान-विरोध तो जैसे तुम सदा के लिये भूल गए हो! सच बताओ, क्या तुमको यहाँ कुछ कष्ट है?

रघुआ ने अब भी कोई उत्तर नहीं दिया।

पार्वती उसी तरह कहती गई—देखती हूँ, तुम्हारे मुख पर वह श्री भी अब नहीं रही है। सुनती हूँ, न तुम्हें खाने की परवा है, न पहनने की। दादा ने बतलाया है, वह तुमसे कह-कह के हार गए, पर तुम अपना ब्याह भी करने के लिये तैयार नहीं हो। यह सब कैसी बातें हैं? तुम पागल तो नहीं हो गए हो?

अब रघुआ चुप न रह सका। उसने अपने आँसू पोछ डाले और कहा—आप ये सब बातें मुझसे क्यों पूछती हैं? मैं आपकी बातों का उत्तर तो न दूँगा, लेकिन—लेकिन मैं यह जानना चाहता हूँ कि आपका इन बातों से क्या प्रयोजन है?

पा०—क्या कहते हो, किससे ये बातें कर रहे हो? क्या तुमसे ये बातें पूछने का मुझे अधिकार नहीं है?

रघु०—न, तुम्हें इन बातों के पूछने का कभी अधिकार नहीं था, यह मैं नहीं कहता। लेकिन अब वह अधिकार......।

रघुआ की आँखें लाल थीं। उसका मुख एकदम तमतमा उठा था। उसने कहा—मैं इस संबंध में अब आपसे क्या कहूँ। आपके शरीर में कहीं 'हृदय' नाम की कोई चीज़ है या नहीं, मैं तो यही निश्चय नहीं कर सका।

पार्वती ने गंभीर होकर कहा—तुम भूल कर रहे हो राघव ! तुमने अभी संसार नहीं देखा है । देखा भी है, तो दूर से; उसका अनुभव तो क़तई नहीं किया। तुम्हारी ही तरह मैं भी रोना जानती हूँ । तुम तो पुरुष-जाति के हो । तुम उतना रोना जानते भी नहीं, जितना मैं जानती हूँ । जितना तुम रोते हो, उससे अधिक मैं रोती हूँ । लेकिन ज़रा दूर तक सोच देखो । इस रुदन में क्या रक्खा है ?

रघुआ एकटक पार्वती की बातें सुनता रहा। वह कुछ बोला नहीं । पार्वती कहती गई—और ये बातें पूछने के अधिकार की बात जो तुमने कही, सो उसमें भी तुमने भूल की है । यदि वह अधिकार मुझे कभी था, तो क्या तुम समझते हो कि वह कभी मुझसे छिन भी सकेगा ? मैं सच कहती हूँ राघव, मुझसे वह अधिकार कोई नहीं छीन सकता ।

रघुआ ने देखा, पार्वती का प्रफुल्ल मुख एकदम से उतर गया है, उसके गले का स्वर एकदम से विकृत होना चाहता है ।

पार्वती कहने लगी—तुम मेरे जितने निकट तब थे, अब उससे भी अधिक निकट हो । तुम ब्याह कर लेते, तो मैं तुम्हें सहज ही में यह समझा सकती कि वास्तव में तुम मेरे कितने निकट हो

रघुआ ने कहा—आपकी बातें बड़ी कठिन हैं । मैं उन्हें सुनते हुए सुखी तो होता हूँ, पर फिर भी उन्हें समझता नहीं । शायद समझ भी न सकूँगा ।

पार्वती—तुम कैसे ना-समझ हो, यह मैं जानती हूँ । तुम कैसे ज़िद्दी हो, यह भी मुझसे छिपा नहीं है । लेकिन तुम मेरी एक बात मानो, ब्याह कर लो ।

रघुआ—किससे ?

पार्वती के मुख पर मुसकराहट दौड़ गई । रघुआ भी हँसने लगा ।

पार्वती बोली—बड़े बने हुए हो ।

रघुआ—लेकिन तुमसे अधिक नहीं ।

पार्वती—बड़े ढीठ हो गए हो ।

रघुआ—लेकिन तुमसे अधिक नहीं ।

पार्वती—अब तुम पिटोगे ।

रघुआ—क्या अभी कुछ कसर रह गई है । इतना पिट चुका हूँ कि अभी तक छाले अच्छे नहीं हुए हैं ।

पार्वती—देखूँ तो, दो-एक ।

रघुआ ने छाती खोलकर दिखा दी। बोला—देख लो ।

पार्वती ने देखा, रघुआ के बदन की एक-एक पसली गिनी जा सकती है । वह बोली—वाक़ई बहुत दुबले हो गए हो ।

रघुआ—लेकिन अब जल्दी ही तगड़ा हो जाऊँगा ।

पार्वती—कैसे ?

रघुआ—बस, दो-तीन महीने में देख लेना ।

पार्वती—तो मेरी कही मान लोगे—ब्याह कर लोगे न ?

रघुआ हँसने लगा ।

पार्वती—सच बोलो, क्या पक्का कर लिया ?

रघुआ—हाँ ।

पार्वती—कहाँ—किसके साथ ?

रघुआ—अब यह न पूछो ।

पार्वती—देखो, अब तुम पिटना चाहते हो ।

रघुआ—जितना पीटना था, पीट चुकीं । अब नहीं पीट सकोगी ।

पार्वती—तो बोलो, अब तुम इस तरह तो कभी न रहोगे, जैसे आजकल रहते हो ।

रघुआ—नहीं ।

पार्वती—अच्छा, मेरी क़सम खाओ ।

रघुआ—मैं किसी की क़सम नहीं खाता ।

पार्वती—तो मेरे शरीर पर हाथ रखकर कहो ।

रघुआ—बस, हो चुका । अब अधिक मुझे विवश न करो ।

दोनों की बातें अभी समाप्त न हो पाई थीं कि महराजिन ने दो थालियों में खाना परोसकर दोनों को खाना खाने को बुलाया । दोनों अठखेलियाँ करते हुए खाना खाने लगे । पार्वती ने कचौड़ी-तरकारी का एक कौर रघुआ के मीठे दूध में छोड़ दिया । रघुआ ने अपना दो चमचा मीठा दूध पार्वती की तरकारी में उँडेल दिया । इसी तरह दोनों हँसते-हँसाते रहे ।

खाना खाने के बाद रघुआ ने माताबदल से कहा—मैं आज सिनेमा देखने जाऊँगा और ज़रा देर से लौटूँगा ।

पार्वती ने कहा—दादा, मैं भी जाऊँगी ।

माताबदल बोला—चली जाओ अपने रघुआ भाई के साथ । रघुआ, इसको भी साथ लेता जा ।

(६)

पाँच वर्ष और बीत गए। न माताबदल इस संसार में है, न उसकी बुढ़िया। लेकिन रघुआ अब भी दूकान का मैनेजर है। पार्वती अब ससुराल छोड़कर यहीं अपने पिता के घर आ गई है। उसका स्वामी यहीं, एक बैंक में, एकाउंटेंट होकर आया है।

रघुआ अब भी अविवाहित है। वह सदा प्रसन्न रहता है और दूकान पर बैठा हुआ पार्वती के बच्चों को खिलाया करता है। उन बच्चों को हँसाने-खिलाने में उसने अपने जीवन को मिला दिया है।

एक बार रघुआ के सामने पार्वती ने अपनी नन्ही-सी बच्ची से पूछा—तारा, तू किसकी बच्ची है, बता तो।

तारा ने रघुआ की ओर उँगली उठा दी। दोनों निहाल हो गए। रघुआ ने अपने मन-मानस में तैरकर अनुभव किया, संसार का स्वर्ग-सुख भी, जान पड़ता है, ऐसा ही है।

पार्वती ने तारा को गोद में उठाकर उसका मुख चूम लिया। बोली—तू बड़ी रानी बिटिया है।

भगवतीप्रसाद वाजपेयी

ख़ैयाम की रुबाइयाँ

(१)

यौवन में उत्साहित होकर
मैंने देखे संत अनेक;
और ध्यान से उनके प्रवचन
सुने तर्क-संयुत सविवेक।
किंतु न कुछ भी समझ सका मैं,
मिली न इस रहस्य की थाह;
गया वहाँ जिन पैरों, लौटा
उन पैरों ही, उस ही राह।

(२)

उनकी संगति से जो मैंने
बोए ज्ञान-बीज अभिराम;
तथा बढ़ाता रहा जिन्हें मैं
सहकर वर्षा-सरदी-घाम।
उन्हें पकाकर मैंने पाया
केवल यह ही शस्य महान्;
"आया जलप्रवाह-सा जग में,
जाऊँगा अब पवन समान"।

(३)

क्या जाने कैसे प्रदेश से,
क्या जाने क्यों, किसके ज़ोर;
ध्येयहीन जल के प्रवाह-सा,
बहता आया हूँ इस ओर।
और छोड़कर मृगतृष्णा-सी
इस ऊसर अवनी के स्थान;
बहा जा रहा हूँ, क्या जाने,
कहाँ आज मैं पवन समान।

(४)

"किन लोकों से भगकर आए!
किसका था पाया आदेश?
अनुमति की परवाह न कर
अब भागे जाते हो किस देश?"
वृथा—वृथा, ये प्रश्न वृथा हैं!
वृथा मान-अपमान-विचार;
इस मदिरा की घूँटों में, बस,
डूबेगा स्मृति का संसार।

बलदेवप्रसाद मिश्र

दोहन

LAW & ORDER
INDIAN MASSES
INDIA
BRITISH IMPERIALISM
INDIAN CAPITALISM

महाकवि भूषण की इतिहास-अनुकूलता

(४)

औरंगज़ेब-शिवाजी-भेंट

भूषणजी की कविता से शिवाजी के संबंध की जितनी ऐतिहासिक घटनाओं का पता चलता है, उन सबकी अपेक्षा औरंगज़ेब की आगरेवाली भेंट का वर्णन भूषणजी ने अधिक किया है। अफ़ज़लख़ाँ, शायस्ताख़ाँ बहलोलख़ाँवाली घटनाओं तथा सालेरी के भीषण युद्ध का वर्णन भूषणजी ने दस-ग्यारह अथवा उससे भी कम छंदों में कर दिया है; परंतु इस भेंटवाली घटना में उन्होंने चौदह * छंद लिखे हैं। इससे ज्ञात होता है कि स्वयं भूषणजी भी इस घटना को वैसा ही महत्त्वपूर्ण समझते थे।

इस भेंट का कारण जैसा इतिहास में पाया जाता है, यह है—

"मिर्ज़ा राजा जयसिंह ने शिवाजी की सिफ़ारिश देहली-दरबार से की कि बीजापुरवालों के साथ लड़ने में तथा मुल्क † हस्तगत करने में शिवाजी ने दरबार की पर्याप्त सहायता की है, इसलिये दरबार उनका यथोचित आदर तथा सम्मान ‡ करे।" बादशाह ने इसका उत्तर अत्यंत प्रसन्नता से दिया। और, इस उत्तर के साथ शिवाजी से भेंट करने की इच्छा × प्रदर्शित करके (शिवाजी के लिये) बहुमूल्य पोशाक भी भेजी, जो शिवाजी को आगरे जाते समय रास्ते ही में मिली थी+।

भूषणजी ने आगरे की रवानगी के संबंध में सिर्फ़ इतना ही कहा है—'ह्याँ तें गयो चकत्तै सुख दैन को।' अर्थात् यहाँ (दक्षिण) से चकत्ता (औरंगज़ेब) को सुख देने के लिये शिवाजी गए। मिर्ज़ा राजा जयसिंह का शिवाजी की सिफ़ारिश दरबार से करना, शिवाजी का भेंट के लिये उद्यत होना तथा बादशाह का शिवाजी के लिये पोशाक भेजना, यह बातें इस बात का पता देती हैं कि भेंट के पूर्व बादशाह और शिवाजी में हित-संबंध स्थापित हो चुके थे, कोई विरोधी भाव नहीं रहा था। इसी से भूषणजी ने 'ह्याँ तें गयो चकत्तै सुख देन को' लिखा है। परिणामतः भूषणजी का यह वर्णन उपर्युक्त परिस्थिति के अनुरूप कहा जा सकता है। (शिवराज-भूषण, छंद २०४) [उद्धृत अवतरण में जो 'ह्याँ तें' शब्द आया है, वह विचारणीय है। काव्य-रचना के समय भूषणजी यदि दक्षिण में उपस्थित न होते अथवा अन्य किसी स्थान पर होते, तो 'ह्याँ तें' शब्द प्रयुक्त न हुआ होता। जहाँ वक्ता को स्वयं स्थिति-स्थान का निर्देश करना अभिप्रेत होता है, वहाँ स्थान के नाम की जगह सामान्यतः 'ह्याँ तें' (यहाँ से) शब्द की योजना हुआ करती है। इस छंद में भी यह शब्द इसी अर्थ में बहुत ही स्वाभाविकता तथा सरलता से व्यवहृत हुआ है। इस शब्द का प्रयोग भूषणजी ने अपनी कविता में एक जगह और किया है। यथा—औरंग जो चढ़ि दक्खिन आवै तो ह्याँते सिधावै सोऊ बिनु कप्पर। शि० भू०—छंद ३२०। उद्धृत अवतरण में तो यह शब्द दक्खिन का अर्थ स्पष्ट सूचित करता है। भूषणजी को शिवाजी के समसामयिक न माननेवाले इस मामूली (सामान्य) शब्द पर अवश्य विचार करें।]

* शिवराज-भूषण छंद ३४, ३८, ७६, १४८, १८६, १६८, २०४, २०६, २६५, ३०६, ३१०; शिवाबावनी छंद १५-१६ तथा फुटकल छंद ४६।

† सभासदी बखर, टिप्पणी ५२।

‡ प्रो० सरकार महोदय ने बखरों के आधार पर यह भी अनुमान किया है कि शिवाजी को दक्षिण की सूबेदारी देने की सिफ़ारिश मिर्ज़ा राजा ने की होगी। 'त्याने (जयसिंगाने) दक्षिणच्या सुभेदारीची लालूच दाखविली असेल हें अगदीं संभवनीय दिसतें'—पृष्ठ १०४।१०६ (शिवाजी, शिवकाल मराठी)।

× शिवाजी से भेंट करने की इच्छा इस पत्र से पूर्व भी औरंगज़ेब ने प्रदर्शित की थी। पहले पत्रों के सिलसिले में और जयसिंह के उत्तर में यह पत्र और पोशाक भेजी गई।

+ शिवकालीन पत्र-सार-संग्रह, पत्र नं० ११२३।

दरबार का दिन

दरबार का दिन १२वीं * में सन् १६६६ नियत हुआ था। वह बादशाह की पचासवीं क़मरी सालगिरह का दिन था, और इसी रोज़ बादशाह का तुलादान होनेवाला था। दरबार भी ख़ूब सजाया गया था और इस रोज़ शिवाजी से दरबार में भेंट होना ठहरा था (शिवाजी, शिवकाल पृ० १०६)।

भूषणजी की कविता से यद्यपि दरबार की कोई निश्चित तारीख़ नहीं पाई जाती, तथापि इसका पता अवश्य मिलता है कि किसी 'जशन' के रोज़ यह दरबार हुआ था, और दरबार की सजावट इंद्र को लजानेवाली थी। यथा—

जसन के रोज यों जुलूस गहि बैठो जोऽब इंद्र आवै सोऊ लागै औरँग की परजा। शि० भू०—छंद १६८।

बादशाह को सलाम न करना

दरबार में जाने के बाद शिवाजी ने ज़मीन चूमकर डेढ़ हज़ार अशरफ़ी नज़र और छः हज़ार रुपए निछावर किए।

—औरंगज़ेबनामा, खंड ३ पृ० ६७

फ़ारसी तवारीख़ों को विश्वस्त माननेवाले श्रीयुत प्रो० सरकार महोदय ने अपने 'शिवाजी-शिवकाल' (मराठी एडिशन) में ठीक इसी का अनुवाद किया है। पृष्ठ १०६

भूषणजी सलाम करने तथा नज़र पेश करने की घटना के सर्वथैव विरुद्ध हैं। नज़र पेश करने का हाल तो उक्त चौदह छंदों में कहीं नहीं पाया जाता। बादशाह को सलाम न करने का वर्णन नीचे लिखे चार अवतरणों में मिलता है। यथा—

"नायो न माथहि दक्खिननाथ न साथ में फौज न हाथ हथ्यारो।"—शि० भू० ११८।

ठान्यो ना सलाम भान्यो साहि को इलाम...१६७।

प्रगट करी रिस साह को सरजा करि न सलाम—३०१।

जानि ग़ैर मिसिल गुसैल गुसा धारि उर कीन्हीं न सलाम न बचन बोले सियरे—शिवाबावनी, छंद १७।

यहाँ पर हमको पूज्य मिश्रबंधुओं का यह अनुमान सत्य-सा प्रतीत होता है कि "भूषणजी जब अपने नायक की ख्याति बढ़ाने को कोई असंभव अथवा असत्य बात कहते थे, तो उसे एकआध बार दबी ज़बान कहकर छोड़ देते थे, परंतु उसे बार-बार बड़ा ज़ोर देकर नहीं कहते थे।" अर्थात् जो बात उन्हें विश्वसनीय और सत्य मालूम होती, उसे वह बार-बार कहते थे, जैसा कि ग़ुसलख़ाने और सलाम के विषय में उन्होंने कहा है (भूमिका भूषण-ग्रंथावली पृ० ७४)। फ़ारसी तवारीख़ों के सिवा सभासदी बखर में तीन सलाम करने का वर्णन पाया जाता है, परंतु वहाँ पर सलाम की उपपत्ति इस तरह लगाई गई है कि यह तीनों सलाम बाहशाह के लिये नहीं किए गए, किंतु एक श्रीशम्भुमहादेव के प्रति, दूसरा श्रीभवानीजी के प्रति और तीसरा अपने पिता शहाजी के प्रति। जैसे—

"पादशाहा बोलला जे, 'आवो शिवाजी राजे' असे बोलतांच राजियांनीं तीन सलाम केले, मनांत भाव धरिला कीं, श्रीशम्भुमहादेव एक, दुसरा श्रीभवानी, तिसरा महाराज पितियास, ऐसे तीन सलाम केले—सभासदी बखर, पृ० ४६।"

यह तो ज़ाहिर है कि बखर-ग्रंथ शिवाजी के समकालीन नहीं है, पश्चात् के हैं। समसामयिक इँग्लिश ताजिरों के चार-पाँच पत्रों में जो इस संबंध में उपलब्ध हैं, न तो शिवाजी का बादशाह के प्रति मुजरा करने का ज़िक्र है और न नज़र पेश करने का ही। इन पत्रों में इस भेंट की घटना का अन्य वर्णन इतिहास से ठीक मिलता-जुलता है। (शिवकालीन*पत्र-सार-संग्रह, पत्र-नं० ११२८, ११२६, ११३६, ११४१—पृ० ३१४, ३१७, ३१६)।

---

* मुंशी देवीप्रसादजी रचित औरंगज़ेबनामे से दरबार की तारीख़ १८ ज़ीक़ाद, ज्येष्ठ-वदि ५, १३ में पाई जाती है। खंड ३ पृष्ठ ६७।

* गत १७ मार्च को भारत-इतिहास-मंडल, पूना की ओर से शिवाजी महाराज की त्रिशतसांवत्सरिक जयन्ती मनाई गई। उस शुभ अवसर पर जो शिवस्मारक ग्रन्थावली प्रकाशित हुई है, उसमें 'शिवकालीन पत्र-सार-संग्रह'—दो भागों में—प्रकाशित हुआ है, जिसमें मराठी, फ़ारसी, पोर्तुगीज़, डच, इँग्लिश आदि समसामयिक २३४० पत्र मराठी में संग्रहीत हुए हैं। उपर्युक्त पत्र Enlish factories in India, by Sir William Foster, Vol. 12, Page 161, 175-176 से उद्धृत किए गए हैं। इस संग्रह से शिवाजी महाराज के इतिहास पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ा है।

२१३६ नं० के पत्र में तो यहाँ तक बताया गया है कि यदि दरबार में शिवाजी की मान-खण्डना न होती, तो वह अवश्य कोरनिशात बजा लाते और अपनी राज-निष्ठा व्यक्त करते; क्योंकि बादशाह के कई बार निमंत्रित करने पर वह इसी उद्देश्य से दरबार में आए थे। यथा—"बादशहानें बारंबार आमंत्रण केल्यामुळें शिवाजी स्वतः ला सुरक्षित समजून बादशाहाला कुर्निसात करून राजनिष्ठा व्यक्त करण्या करितां म्हणून गेला ; परंतु दरबारांत गेल्यावर आपल्या पेक्षां कमी दर्जा चें उमरावाँ चे खालीं उभें केल्या मुळें बादशहाची पर्वा न करितां तो निधडया छातीचा वीर संतापून तिरस्करानें दरबाराचा त्याग करून निघून गेला।"

इसी तरह पत्र नं० ११२१ में पाया जाता है कि "शिवाजी ने दरबारी शिष्टाचार (दरबारी अदब के नियमों) का उल्लंघन किया, इसलिये उन्हें कई दिनों के लिये दरबार में आने की मुमानियत हो गई।" पत्र-नं० ११२८ से भी इसका पता चलता है कि "दरबार में बादशाह के सामने जाने पर जो शिवाजी का बर्ताव हुआ, वह बादशाह को पसंद न आया, इसलिये शिवाजी के साथ कठोरता का व्यवहार किया गया।" यद्यपि इन दो पत्रों में सलाम न करने का स्पष्ट उल्लेख नहीं है, तथापि दरबारी नियमों का उल्लंघन यथा बादशाह को पसंद न आनेवाला व्यवहार बादशाह के सामने जाते ही सलाम न करने के सिवा और कौन-सा हो सकता है ?

स्वयं मिर्ज़ा राजा जयसिंह को इसकी आशङ्का थी कि शिवाजी बादशाह के सामने नम्र न होंगे, इसलिये दोनों बाप-बेटों—जयसिंह-रामसिंह—ने शिवाजी के साथ मित्रता का व्यवहार किए जाने का अभिवचन दिया था। (पत्र-नं० ४४७) (शिवाजीला बादशहा पुढ़े नम्र होण्यास भाग पाडणें अशक्य असल्यामुळें रामसिंह वा त्याचा बाप यांनीं त्याला मित्र त्वानें बागविण्याचें वचन देऊन औरंगजेबाकडे पाठ विलें होतें —पृ० ३१६) इन समसामयिक पत्रों से भली भाँति विदित होता है कि भूषणजी का कथन (बादशाह को सलाम न करने का) बिलकुल सत्य है और निरी ठकुरसोहाती नहीं है।

गैरमिसिल ठाड़ो सिवा

दरबार में पंचहजारी * सरदारों में खड़ा करने का वर्णन भी बिलकुल ठीक पाया जाता है। सभासदी बखर में इसकी अधिक स्पष्टता है कि शिवाजी को राजा जसवंतसिंह के बाद खड़ा किया गया था। यह उस समय पंचहजारी सरदार थे। यह जसवंतसिंह वह थे, जो कई बार दक्षिण में शिवाजी से हार चुके थे। इसीलिये सभासदी बखर में कहा गया है—"जसवंतसिंगा सारखा उमराव ! याच्या पाठी माझ्या लष्करांनीं पाहिल्या असतील" शिवाबावनी के छंद-नं० १६ का "राजा जसवंत को बुलायकै निकट राखे" यह वर्णन शिवाजी की भेंट से संबंध रखनेवाला अवश्य है, परंतु यह निश्चित नहीं मालूम होता कि यह वर्णन दरबार की भेंट के समय का है अथवा ग़ुसलख़ानेवाली भेंट का; क्योंकि इसी छंद के तीसरे चरण में "भूषन तबहुँ ठिठुकत ही ग़ुसुलख़ाने सिंह लौं झपट" इस तरह का वर्णन हुआ है, जिससे ग़ुसुलख़ानेवाली भेंट से इस वर्णन का संबंध होना पाया जाता है। यह बहुत संभव है कि जसवंतसिंह के सदृश "स्वामिकाज + की लाज रखनेवाले" दोनों समय उपस्थित हों।

इस प्रकार अनुचित स्थान पर खड़ा करने से अपमानित होने पर शिवाजी अतिशय क्रुद्ध हुए और अनबन होने का ब्योंत स्पष्टतः दिखाई देने पर, (जयसिंह-पुत्र) रामसिंहजी ने शिवाजी को बरजने का बहुत कुछ प्रयत्न किया, परंतु शिवाजी ने एक न माना। 'धूम-धाम कै न मान्यो रामसिंह हू को बरजा' —शि०भू०, छंद १६८।

यह वर्णन सभासदी बखर के, 'मग रामसिंग धीर धरणें म्हणून बोलूँ लाग ले'—(अर्थात् रामसिंह ने धैर्य धारण करने—सब्र करने के लिये कहा)—इस वर्णन से ठीक मिलता है।

---

* पंचहजारिन बीच खड़ा किया मैं उसका कुछ भेद न पाया।

—शि० भू० २०१

+ राजा जसवंत को बुलाय कै निकट राखे, तेऊ लखैं नीरे जिन्हैं लाज स्वामि-काज की।

शि० बावनी, छंद १६

दरबार में शिवाजी निःशस्त्र * थे, यह भूषणजी का वर्णन भी इतिहास से ठीक पाया जाता है, यथा—

दशद्वादशसाहस्रैरश्वावाराधिपैः स्थितम् ।
तथाप्यशस्त्रककरः क्रूरत्वं न विमुक्तवान् ॥ ३७ ।२

† पर्णाल पर्वत ग्रहणाख्यान

आगरा अथवा देहली

शिवाजी और औरंगज़ेब की यह भेंट आगरे में हुई है; क्योंकि इस समय के तीन महीने पूर्व से ही औरंगज़ेब आगरे में आकर रहा था, जैसा कि औरंगज़ेबनामे में कहा गया है—

"सन् १६६६,४ फ़रवरी को बादशाह जमना में होकर आगरे पहुँचे । मसलिहत देखकर कुछ दिनों के लिये वहीं रहे और बेगमों को देहली से बुला लिया ।"

—औरंगज़ेबनामा, पृ० ६५

इस समय दरबार आगरे में होते थे, और शिवाजी तारीख़ ६, सन् १६६६ को आगरे पहुँचे ।

—शिवाजी-शिवकाल, पृ० १०६

भूषणजी के छंद ७६ से इस भेंट का आगरे में होना पाया जाता है, जैसा कि "रस खोट भए तें अगोट आगरे में सातौ चौकी डाँकि"। अर्थात् वचनभंग आगरे में हुआ और यहीं पर सात चौकियाँ बिठाई गईं । बखर-ग्रंथों में इस भेंट का देहली में होना लिखा गया है, जो ठीक नहीं प्रतीत होता । स्वर्गीय लोकमान्य तिलक महाराज ने 'जेधे शकावलि' के संबंध में लिखते समय कहा है—"इकडील बखरीं तून दिल्लीस भेट झाल्याचे जे उल्लेख आहेत त्यांचा अर्थ इतकाच कीं, ही भेट स्थूल मानानें मोगलाचे राजधानीत म्हणजे दिल्लीस झाली" अर्थात् यहाँ की बखरों में देहली में भेंट होने का जो उल्लेख है, उससे स्थूलतः यही समझना चाहिए कि यह भेंट मुग़लों की राजधानी में हुई—शिवचरित्र-प्रदीप, पृ० १५ । भेंट के समय बादशाह आगरे में रहा करते थे, इसका ज़िक्र ऊपर आ चुका है ।

'जेधे शकावलि' में भूषणजी के सदृश 'चौकी' शब्द का प्रयोग किया गया है, यथा—"शिवाजी राजे आगरियास जाऊन औरंगजेबाची भेट घेतली, बिघाड होऊन राजश्रीस चौकिया दिल्या ।" अर्थात् राजा शिवाजी आगरे पहुँचकर बादशाह औरंगज़ेब से मिले, अनबन होने पर राजा को चौकियाँ दी गईं । इससे मालूम होता है कि उस समय मराठी तथा हिंदी में 'पहरे में देना' इस अर्थ में 'चौकी देना' इस पद का प्रयोग होता था । आजकल की मराठी में इसका प्रचार नहीं रहा है ।

बंधन से मुक्ति

अन्य इतिहास-ग्रंथों से मालूम होता है कि क़ैद से छुटकारा पाने के लिये शिवाजी ने एक अनोखा उपाय सोचा । पहले बीमार होने का बहाना किया, कुछ दिनों पश्चात् बीमारी से सुधर जाने के समाचार दरबारी लोगों में पहुँचाए; और इसकी ख़ुशी में मेवे तथा मिठाई के बड़े-बड़े पिटारे वज़ीरों और अन्यान्य सरदारों के पास रवाना करते रहे । एक रोज़ अवसर पाकर अपनी जगह विश्वस्त नौकर रखकर स्वयं ही पिटारे में जा बैठे पिटारे में शहर के बाहर पहुँचे, जहाँ पर घोड़े पहले ही से तैयार खड़े थे । घोड़े पर सवार होकर ऐसा निकल गए कि किसी को कानों-कान ख़बर न होने पाई ।

भूषणजी की कविता से उक्त घटना का पता नहीं चलता, उन्होंने इशारतन् सिर्फ़ इतना ही कहा है कि मीग उमरावों के बीच में से और ठौर-ठौर की चौकियाँ

---

* साथ में फौज न हाथ हथ्यारो—शि० भूषण छंद १८६ ।
जोर सिवा करता अनरत्थ भली भई हत्थ हथ्यार न आयो ।
—२०६

† 'पर्णालपर्वत ग्रहणाख्यान' की रचना 'जयराम' कवि ने की है । यह शिवाजी के समकालीन थे । संस्कृत की तरह मराठी और हिंदी में भी इन्होंने शिवचरित्र की रचना की है । जैसा उनके इन श्लोकों से पाया जाता है—ततः श्रीमच्छिवेनेयं सुरती लुंठिता पुनः । तद्वृंदवमहाराष्ट्रभाषायुग्मेन वर्णितम् ॥ २६ ॥ तदप्यहो महाराष्ट्रहिन्दुस्थानभवेन वै । भाषायुग्मेन विहितं ततः सह्याद्रिमस्तकः ॥ ३२ ॥ इस पर्णालपर्वत ग्रहणाख्यान' के विषय में प्रो० सरकार ने अपने 'शिवाजी-शिवकाल' में 'फ़ार (बहुत) विश्वसनीय व उपयुक्त ग्रंथ' कहा है । इससे इसकी सत्यता का पता चलता है । परंतु खेद है कि इनकी शिवाजी-विषयक हिंदी-कविता कहीं नहीं पाई जाती । भूषणजी का वर्णन इनके वर्णन से बहुत कुछ मिलता हुआ पाया जाता है; क्योंकि दोनों समकालीन तथा एक ही दरबार में रहा करते थे ।"

लाँघ कर 'परेवा' (कबूतर) के सदृश ऐसा निकल गए कि किसी को ख़बर न लगी। पलँग ज्यों-के-त्यों पड़े रहे। सब देहलीवाले हाथ मलते रहे (फुटकल छंद ४६)। कबूतर के सदृश निकल जाने का वर्णन भूषणजी के समकालीन जयराम कवि के इस वर्णन से बिलकुल मिलता-जुलता है—

द्रष्टव्यं स्वामिभिस्तत्र कियद्यत्नेन रक्षितः।
तथापि पक्षिवत्तूर्णं पुत्रेण सह निर्गतः॥
पर्णालपर्वत-ग्रहणाख्यान, अध्याय २।३८

गुसलखाना

शिवराज-भूषण के छंद नं० ३४, ७६, २०४, २०६, २६५ और शिवाबावनी के छंद १६ इन छः छंदों में .गुसलख़ाने का वर्णन हुआ है। भूषणजी के इस वर्णन से इसका अवश्य पता चलता है कि दरबार के सिवा .गुसलख़ाने में भी बादशाह से भेंट हुई। 'कीन्ही तब नौरँग ने भेंट सिवराज की'। यह शिवा-बावनी के छंद १६ का वर्णन गुसलख़ानेवाली भेंट का ही परिचायक है। दरबार के रोज़ शिवाजी बादशाह के अपमानकारक बर्ताव से क्रुद्ध हुए थे और दरबारी उमरा उन्हें मना * रहे थे, परंतु शिवाजी उस रोज़ फिर दरबार में नहीं आए। और उन्हें चौकियाँ दी गईं। मालूम होता है, भूषणजी वर्णित .गुसलख़ानेवाली भेंट दराबर के कुछ दिनों पश्चात् हुई। सभासदी बखर में .गुसलख़ाने के संबंध में एक अपूर्ण-सा उल्लेख पाया जाता है; वह इस प्रकार—"ऐसे किती एक गोष्टी बोलून एकांतीं घुसलखानियांत भेटोस बोलाविलें (म्हणजे) भेटी घेऊन मजकूर बोलूँ" अर्थात् बादशाह के एकांत में—,गुसलख़ाने में—बुलाने पर उनके साथ इस प्रकार संभाषण करेंगे। उद्धृत अंश गुसलख़ानेवाली भेंट से पूर्व का पाया जाता है; बादशाह शिवाजी से एकांत में मिलना चाहते थे, और शिवाजी भी, इस एकांत की भेंट में बादशाह से क्या कुछ बोलना चाहिए, इस संबंध में विचार कर रहे थे। बहुत संभव है, इसके थोड़े ही पश्चात् बादशाह शिवाजी से मिले हों और वह मिलन भूषणजी के कथनानुसार तथा उस समय की शाही प्रथा के अनुसार एकांत में—.गुसलख़ाने में हुआ हो। यहाँ पर भी बादशाह ने अपनी सुरक्षितता के लिये उमरावों के सफ़ (फड़) बाँधे और शिवाजी को शस्त्र † रहित होकर आने का हुक्म दिया। अनंतर भेंट की। .गुसलख़ाना ऐसे ही अवसरों के लिये नियत था। औरंगज़ेबनामे ‡ से इसका पता चलता है कि उन दिनों राजकारण-विषयक ख़ास-ख़ास सभा (मजलिसें) .गुसलख़ाने में हुआ करती थीं, और सिर्फ़ विश्वस्त सरदारों को .गुसलख़ाने तक आने की इजाज़त थी। .गुसलख़ाने की दरोगाई एक इज़्ज़त का ओहदा समझी जाती थी और वह ख़ास-ख़ास सरदारों को ही सरफ़राज होती थी। इससे भी अनुमान हो सकता है कि दरबार के सिवा गुसलख़ाने में अवश्य भेंट हुई होगी। उस समय बादशाही .गुसलख़ाना ख़ाली स्नानागार नहीं कहा जाता था।

मिर्ज़ा राजा जयसिंह को पैंतीस क़िले देना

शि०भू०छंद नं० २१२-२१३ में भूषणजी ने मिर्ज़ा राजा जयसिंह को क़िले देने का हाल लिखा है। छंद २१३ इनकी संख्या भी नियत कर दी है। पैंतीस क़िले सौगुना बड़ाई लेने के लिये शिवाजी ने राजा जयसिंह को दिए। सभासदी+ बखर में सत्ताईस और औरंगज़ेबनामे × में तेंतीस क़िले देने का वर्णन है। कहीं-कहीं बत्तीस तथा तीस क़िले देने का भी ज़िक्र है, परंतु ३५ क़िले देने का वर्णन अधिक विश्वस्त माना जाता है और भूषणजी भी ठीक यही कहते हैं। जयसिंह से दबकर शिवाजी ने पैंतीस क़िले पहले दिए। तत्पश्चात् दोनों में जो संधि हुई, उसमें २३ क़िले बालाय घाट और निज़ामशाही तलकोंकन मुग़ल-दरबार को देना

* अरे ते गुसुलखाने बीच ऐसे उमराय लै चले मनाय महाराज शिवराज को।—शि० भू० ३४।

बादशहा नें त्याच्या समाधाना करितां अनेक सरदार पाठविले, अर्थात् बादशाह ने उसके (शिवाजी के) मनाने के लिये कई सरदार भेजे।—पत्र-सार-संग्रह, पृ० ३१७, पत्र-नं० ११३६।

† हटकि हथ्यार फड़ बाँधे उमरावन के, कीन्हीं तब नौरँग ने भेंट शिवराज की।—शि० बावनी १५।

‡ औरँगज़ेबनामा, भाग दूसरा, खंड चौथा, पृ० ७८, १६।२४।

+ पृ० ४४।५३।

× खंड तीसरा पृष्ठ ६३।

क़रार पाया और शेष बारह क़िले (छोटे-बड़े) शिवाजी के लिये रहे। पत्र-सार-संग्रह पत्र-नं० १०६४।१०७७ (छं० २१३ में "दिन दोऊ ना लगाए गढ़ लेत पंच-तीसको" प्रयाग तथा काशी की प्रतियों में लिखा गया है, जो प्रतिलिपि की भूल मालूम होती है; क्योंकि छं० २१२ में उसके विरुद्ध यह वर्णन है कि 'यह क़िले कैयों बरस में लिए गए'—लेत की जगह देत होना चाहिए)।

नवसेरीख़ान

शि० भू० छंद नं० ३०७ में नवसेरीख़ान के साथ अहमदनगर में जो भीषण युद्ध होने का वर्णन भूषणजी ने किया है, वह जेधे-शकावलि, शिवापूर दफ़्तर की याददाश्त तथा शिवापूर देशपांडे-बही की शकावलि से मिलता-जुलता है—शिवचरित्र प्रदीप पृ० १८,४०,४६। उपर्युक्त शकावलियों से यह युद्ध १५७६, ज्येष्ठ-महीने में होना पाया जाता है।

प्रो० सरकार के शिवकाल से, इस युद्ध में शिवाजी की हार होने का पता चलता है, और सन् १६६४ में फिर यशस्विता से अहमदनगर के लूटने का वर्णन है। पृ० ७७।

प्रो० सरकार वर्णित सन् १६६४ की लूट के समय नवसेरीख़ान का कहीं निर्देश नहीं है, इससे भूषण-वर्णित घटना से उसका संबंध नहीं पाया जाता। भूषणजी का वर्णन शक १५७६ सन् १६५७ की नवसेरीख़ानवाली घटना से संबंध रखनेवाला है। प्रो० सरकार के शिवाजी-शिवकाल में इस युद्ध की तारीख़ ४ जून, सन् १६५७ है; 'जेधे शकावली' में नियत तारीख़ नहीं है, महीना (ज्येष्ठ) लिखा हुआ है; शिवापुर दफ़्तर की याददाश्त में आषाढ़ शुद्ध ३, शक १५७६ लिखा हुआ है। संभवतः यह तीनों मितियाँ (तारीख़ें) एक दूसरी से मिलती-जुलती हैं।

यह युद्ध नासिर (नवसेरी) ख़ान के साथ हुआ। इसका पता तो प्रो० सरकार के शिवचरित्र से अवश्य चलता है, परंतु उनका यह वर्णन कि "मावलीदल के परास्त होने से शिवाजी इस युद्ध से खिसक * गए," युक्ति-युक्त नहीं जान पड़ता। सभासदी बखर (इसको प्रो० सरकार विश्वसनीय मानते हैं) के पृष्ठ ५ पर यह उल्लेख है—"मग अमदानगर शहर मारिलें, मोगलाशीं मोठें युद्ध केलें—सातशें घोडे पाडाव केले; हत्ती ही पाडाव केले, द्रव्य बहुत सांपडलें"—अर्थात् अहमदनगर में मुग़लों से घमासान युद्ध हुआ, सात सौ घोड़े और हाथी लूट लिए गए, द्रव्य भी बहुत मिला। इससे पाठक स्वयं विचार करें कि शिवाजी इस युग में पराजित हुए अथवा विजयी? अब इस उल्लेख के संबंध में एक आक्षेप यह हो सकता है कि इसमें भी नौसेरी-ख़ान का नाम नहीं है, अतः यह सन् १६५७वाले युद्ध से संबंध रखनेवाला नहीं है; इस शंका के समाधान के लिये पहले उद्धृत अवतरण के 'मग' तत्पश्चात्—अनंतर—शब्द पर विचार करना चाहिए। अहमदनगर के पहले (वैशाख वद्य १२ * शक १५७६, ३० एप्रिल † १६५७ को) जुन्नर पर शिवाजी ने धावा किया था और तत्पश्चात् एक महीने के अंदर ही अहमदनगर पर चढ़ाई की। इसलिये सभासदी बखर में जुन्नरवाली घटना के दो पंक्तियों बाद ही अहमदनगर की घटना लिखी गई है। यद्यपि बखर में घटना का काल नहीं दिया गया है, तथापि अनुक्रम की दृष्टि से (जुन्नर के बाद) यह वर्णन आया है। इससे सन् १६५७ का ही समझा जा सकता है। नौसेरीख़ान के नाम तथा काल के निर्णय के लिये जेधे-शकावलि से सहायता मिलती है। जेधे-शकावलि का वर्णन इस प्रकार है—

शक १५७९ हेमलंबी संवत्सर

वैशाख मासीं जुन्नर लुटलें—वैशाख में जुन्नर लूट लिया। ज्येष्ठ मासींनौसीरखान यासी युद्ध अमदानगरी राजश्री सिवजी राजे यांणीं केलें।

अर्थात् ज्येष्ठ के महीने में नौसेरीख़ान के साथ अहमदनगर में राजा शिवाजी ने युद्ध किया।

सभासदी-बखर—जेधे-शकावलि के वर्णन के साथ यदि भूषणजी ‡ का वर्णन पढ़ा जाय, तो मालूम होगा कि इस युद्ध में शिवाजी की ही जीत हुई है।

---

* शिवाजी-शिवकाल, मराठी संस्करण, पृष्ठ ३५।

* शिवापुर दफ़्तर की याददाश्त पृ० ५० शि० च० प्रदीप।

† शिवा-शिवकाल, पृ० ३१९।

‡ अहमदनगर के थान किरवान लैकै,
नवसेरी खान ते खुमान भिर्यो बल ते;

इस युद्ध में शिवाजी की जीत होने का पता इससे मिलता है कि इस घटना के थोड़े ही दिनों बाद जुन्नर तथा अहमदनगर के नियत सरदारों (मुलतफ़तख़ान,

प्यादन सों प्यादे पखरैतन सों पखरत,
बखतरवारे बखतरवारे हल ते।
'भूषन' भनत एते मान घमसान भयो,
जान्यो न परत कौन आयो कौन दल ते;
सम वेष ताके तहाँ सरजा सिवा के, बाँके
बीर जानें हाँके देत मीर जाने चलते। २०७।
—शिव० भूषण

नासिरख़ान, मीरजुमला) के नाम औरंगज़ेब ने अतिशय क्रुद्ध होकर पत्र लिखे हैं, और उन्हें यह हिदायत की है कि शिवाजी का मुल्क जला दिया जाय, उसकी प्रजा का क़त्लेआम किया जाय जो शिवाजी से मिल-जुलकर रहें, उनके सिर उड़ा दिए जायँ † इत्यादि। यदि इस युद्ध में नौसेरीख़ान की फ़तह होती, तो औरंगज़ेब इस प्रकार न चिढ़ता, और न ऐसे क्रोधभरे पत्र लिखने की आवश्यकता ही होती।

रामचंद्र-गोविंद काटे

† शिवाजी-शिवकाल पृ० ३५, पत्र-सार-संग्रह, लेखांक ७३३।

डाकू

बड़ा ही घना जंगल था। कोसों तक इधर-उधर झाड़ी ही झाड़ियाँ थीं। मतंग वृक्षराज अपने वैभव से उन्मत्त झूम रहे थे और डूबते हुए सूर्य की लालिमा उनसे लिपटती जा रही थी। पशु-पक्षी बसेरा लेने आ रहे थे और धीरे-धीरे सन्नाटे का साम्राज्य फैल रहा था। किंतु जंगल के बीचवाले कुटीर से किसी स्त्री का करुण क्रंदन निकलकर पाषाण एवं चट्टानों को भी पिघला रहा था।

कुटीर में एक टिमटिमाता हुआ चिराग़ जल रहा था। वहीं बैठी हुई एक परम सुंदरी स्त्री ज़ार-ज़ार रो रही थी। उसकी गोद में चार-पाँच महीने का बच्चा था। उसी को वह छाती से लिपटाए हुए रो रही थी, मानों इस क्रंदन द्वारा किसी खोई हुई चीज़ को वह ढूँढ़ना चाहती थी या किसी को बुला रही थी। किंतु दीवारों से टकराकर वह आर्तनाद लौट जाता और फिर सन्नाटे में विलीन हो जाता था।

बच्चा बहुत भूखा था। वह छाती से लिपटा हुआ माता का स्तन चूस रहा था। हाँ, जब तब वह चौंक पड़ता और ऊपर मुँह उठाकर देखने लगता था। वह उसे हृदय से लिपटा लेती। यदि फिर भी वह न मानता, तो कलेजा पत्थर करके उसे दो बार पुचकार भी देती। पुचकारते समय में दुःखों को भूलकर उसके प्यारे मुखड़े पर मोती बिखेर देती—नहीं उँडेल देती। वह हक्का-बक्का होकर और भी रोने लगता।......... हाय, वह इस समय अपने लाल को कैसे मनाती ? एक समय था, जब वह उसे अच्छी तरह रिझाती थी और घंटों उसकी बलैयाँ लिया करती थी। किंतु आज यह असंभव था। जिसे हम कभी अपने ही हाथों किए रहते हैं, वही कार्य एक दिन असंभव कार्यों की श्रेणी में आ जाता है। बच्चा सो गया, किंतु वह अभी रो ही रही थी कि डाकू आया। कितनों का ख़ून उसकी आँखों में नाच रहा था। कितनों के धन का मद उसका माथा घुमा चुका था। पौरुष एवं पुरुषार्थ का अभिमान उसके अंग-प्रत्यंग से झलक रहा था। आते ही उसने बड़े कड़े स्वर में कहा—"क्या रोती ही रहोगी ?" स्त्री ने धीरे एवं कातर स्वर में कहा—"तो क्या रोने भी नहीं दोगे ?"

पश्चात्ताप और विषाद की आँधी ने डाकू को तोप दिया। किंतु दया अथवा आँसू किसे कहते हैं, वह उसे मालूम नहीं था। वह नहीं समझता था कि संसार में इनकी भी आवश्यकता है। उसकी समझ में असंख्य धन लुटाना और उसे एकत्रित कर सर्प-मणि-जैसा सुरक्षित रखना ही उसका सर्वमान्य साधन, तप, एवं व्रत था। चैन और शांति से उसे प्रयोजन न था। वासना का आह्वान और लोभ का मनन ही उसका सर्वप्रधान उद्देश्य था।

कुछ क्षणों तक वह किंकर्तव्य-विमूढ़ खड़ा रहा—उसके हृदय-पटल पर मानव-भावों का उदय हो आया था। किंतु इस नई ज्योतिर्माला से उसकी आँखें चौंधियाने लगीं। अस्तु,कोशिश करके उसने इसे बुझा दिया। और अमानुषता के अंधकार में उसका सच्चा स्वरूप झलकने लगा। पाषाण-हृदय निर्मम पड़ा था। जिह्वा-छुरिका ज़ख्मों को ज़हरीला करने के लिये तुली थी और पाशविक वृत्ति, उद्दंड अत्याचार के लिये लँगोटा बाँधे तैयार थी।

डाकू ने कुछ देर बाद कहा—"कहता हूँ चुप रहो।"

स्त्री—"कैसे ?"

डाकू—"जैसे भी हो सके।"

स्त्री—"यदि तुम्हीं मेरी जगह होते !"

डाकू—"तो क्या ?"

स्त्री—"तब शायद तुम भी मेरी तरह ही रोते!...... अच्छा हटो, जाओ, दया करो।—किंतु तुम यहाँ आए ही क्यों ? धन के नाम तो मेरे पास कानी कौड़ी भी नहीं। फिर—फिर मेरे पास एक डाकू का क्या काम ? अब कोई चीज़ नहीं, जिसका प्रलोभन तुम्हें खींचकर मेरे पास लाए। कृपा करो ! अह, दया करो !! मुझे रोने दो और रो-रोकर मरने दो। रोने में तथा रोकर मरने में बड़ा आनंद है।"

ये बातें कहते-कहते स्त्री की आँखें सूख गईं। उनमें से अहंकार, द्वेष, तृष्णा, खेद एवं विषाद की चिनगारियाँ उड़ रही थीं। फिर भी वह उस भयंकर डाकू के खरूए पैरों को पल में सहस्र बार चूम रही थी। केवल इसीलिये कि वह उसे रोने दे।

जब तक वह अपनी कह रही थी, डाकू चुपचाप सुनता रहा। फिर बातें समाप्त होने पर वह कुछ सोचता चला गया। जितनी देर वह वहाँ खड़ा रहा, उसके मुख-प्रदेश में खेद और पश्चात्ताप की छाया आ-आकर उसकी मुखाकृति को बदल जाती थी। कभी वह एक का रंग जमा जाती, कभी दूसरे का। किंतु किसी एक का रंग स्थायी न रहने पाता, न चोखा होने पाता था। उसके अंतस्तल में दो विपरीत भावों का घोर संघर्षण हो रहा था। एक से वह परिचित था, किंतु दूसरे से अनभिज्ञ।.........उसकी पाशविक तथा मानवीय वृत्तियों की हार-जीत उसके मुख-मुकुर में झलक रही थी!

× × ×

अँधेरी रात मानों खीझकर आई। काली, गोरी अच्छी या बुरी सभी चीज़ों को ग्रास कर बैठी थी। दुनिया के कोने-कोने को अपनी काली कमरी से ढक, अपने एकोऽहम् की वृत्ति को प्रसन्न करती प्रसन्नता की साँसें ले रही थी—संसार का हृदय डर से काँप रहा था। थके-माँदे एवं भयातुर मानव निद्रा की गोद में जाकर छिपे हुए थे। डाकू भी उस घने वट की छाया तले चौतरे पर पड़ा खर्राटें ले रहा था। ऐसी रात्रि में वह कम सोता था, कारण इससे उसकी साँठ-गाँठ थी। इसी के काले राज्य में उसकी ललह थी। पाँसे उसी के पड़े थे। उसने सोने-चाँदी के थैले ढुनका दिए। और उसके तथा उस काली रजनी के सिवा उन्हें कोई भी नहीं देख सका। गोपनीय गुप्त ही रहता है, बात फूट नहीं सकती थी। दोनों ही एक दूसरे के विश्वस्त थे।

आधी रात ढल चुकी थी। भोर की हवा अब कुछ देर में उठने ही को थी कि वह चौंककर उठ बैठा। दो-चार अँगड़ाइयाँ लीं और फिर पड़ रहा। किंतु निद्रा ऐसों की सेविका नहीं। वह संतोष की तो चेरी है, किंतु वासना की बैरिन है।—डाकू फिर उठ बैठा, खड़ा हो गया और टहलने लगा। सर थामा, आँखें मींजी और भुनभुनाने लगा......।

"अह, कल ही की, की हुई बातें और आज स्वप्न देखता हूँ!! काम चाहे जितना भी भयंकर रहा हो, उसे करते मेरा रोयाँ तक न सिहरा। किंतु आज, अभी स्वप्न में, फिर भी उन्हीं कर्मों का कर्त्ता था।—और मैं थर-थर काँप रहा था। कलेजे को जूड़ी हो आई, आँखें जलने लगीं और सर को तो मानो कोई हथौड़े से पीट रहा हो।—आश्चर्य नहीं यदि मुझे बुख़ार हो आया हो।.........अह, पैर लड़खड़ा रहे हैं। इस शेर के-से बूते को क्या हो गया? लोहे के पैर लड़खड़ाने क्यों लगे? नहीं समझ सकता।..........अह!"

कहते-कहते वह बैठ गया। हाथों पर सिर रख लिया और फिर कहने लगा—"वह कितना सुंदर था। यदि वह कोई अजीब पुतला होता, तो मैं उसे देखने से न ऊबता। शायद उसे अपनी झोपड़ी में रख छोड़ता और दो फूल-पत्तियों से उसे साजकर देखता और निहाल होता। किंतु मेरे लिये रुपया उससे भी प्यारा निकला। मैंने समझा, उसके पास बहुत है और राह का रोड़ा फेंकने के लिये उसके ख़ून से अपनी तलवार लथपथ कर ली। वैसे ख़ून को भी मैंने नहीं देखा था। उसकी गोरी गरदन से निकलती हुई ख़ून की धारा मेरे हृदय में सीधे ढलने लगी थी। हृदय उसी से भर गया और घाव-सा दुखने लगा था!"

"वह अपनी स्त्री और नवजात पुत्र को नाव पर लिये न-जाने किस मनसूबे से कहाँ जा रहा होगा। नाव आधी दरिया में थी, जभी मैं तैर गया, किंतु नाहक ही मैंने दौड़ मारी। वहाँ रुपया के नाम छदाम भी न था।.........और वह माँझी भी मुझसे ख़ूब लड़ा। मर्द था, उसके ऐसा जवान मैंने कम देखा है। पर उसे भी पार लगा दिया। और शिकारी के क्रोध में इन दोनों स्त्री और बच्चे को व्यर्थ ही यहाँ खींच लाया। किंतु नहीं, उस समय तो सोचा था, बच्चे को बलि देने के लिये और स्त्री से रसोई कराने के लिये। आज भी मेरा विचार बदला नहीं। किंतु न-जाने क्यों उस नन्हे से खिलौने से मुझे मोह होता है, और उस सुंदरी से कुछ भी कहते डर लगता है। जब वह रोती थी, तभी जी में आया, उसके केश खींच ज़मीन पर गिरा दो एँड़ लगाऊँ ......किंतु चार आँखें होते ही मेरी मरदानियत ढीली पड़ गई। उसके पति का स्वरूप आँखों पर चढ़ आया

और अपने किए का पछतावा होने लगा । यों तो मैंने हज़ारों को झपट दी होगी और द्रव्य से घर भर दिया है ; किंतु ऐसी ग्लानि की चुभती ज़हरीली बरछी से मेरे हृदय को किसी की भी याद ने जर्जरित न किया होगा ।

"............जैसे ही नाव पर मैं चढ़ गया था, उसने कहा था—'कुछ भी नहीं है'.........मैं उजड्ड था, तलवार खटखटाने लगा । उसने कहा—'क्यों, क्या चाहते हो ? सब कुछ उपस्थित हैं, ले लो !' और बस, मेरे सामने गरदन झुका दी थी । मुझमें अपने पौरुष का अभिमान हो आया । मैंने कहा—'युद्ध और धन चाहता हूँ !' बोला—'धन तो है ही नहीं, फिर दूँ कहाँ से । किंतु यदि वह दूसरी वस्तु चाहते हो, तो मुझे भी शस्त्र दो, तुम्हारी युद्ध-पिपासा मिटा दूँ ।' मूर्ख ने मेरे क्रोध में आँच दे दी । मैं खीझ उठा और वार कर दिया । उसकी स्त्री ने बच्चे को लिए हुए मेरे पैरों को पकड़ लिया, माँझी ने जो अब तक खड़ा था, दौड़कर मेरे हाथ को पकड़ लिया । किंतु बल का मद भी बुरी चीज़ है । मैं उसी के नशे में चूर हो गया । झटककर दूसरा वार किया और उसका काम तमाम कर दिया । स्त्री मूर्छित हो गई, किंतु माँझी मुझसे लिपट पड़ा । घंटों घमासान युद्ध रहा । किंतु मैंने उसकी निशस्त्रता का लाभ उठाया । उसे मार गिराया । फिर दोनों लाशों को गंगा में बहा, उस नौका को अपने तीर खे लाया ।"

वह चुप हो गया । फिर कलेजा सहलाने लगा । धरती पर पड़ रहा और कराहने लगा । किंतु आज उसे डर लगता था । वह यहाँ नहीं ठहर सका । उस कुटी की राह ली, जहाँ उसके बंदी, स्त्री और बच्चा, पड़े बिलख रहे थे ।

× × ×

भोर के सूर्य चमक रहे थे । उनकी सौरभ-किरणें जहाँ-तहाँ छिटक रही थीं, और वह उसी द्वार पर सोच-मग्न खड़ा था । रात-भर जो अग्नि उसके अंतस्तल में जलती रही, उसके ताप एवं धुएँ से उसका मुख स्याह हो गया था । आँख का रंग उतर गया था और चमड़ा झुलस-सा गया था । जो बुढ़ापा पचहत्तर वर्ष की अवस्था में भी उसे भूल बैठा था, उसी ने आज अकस्मात् उसके "कल्ले कब्ज़ों" को पकड़ उन्हें ढीला और मर्माहत कर डाला ।

यहीं तक नहीं, आज ज्वर की ज्वाला उसे व्यथित कर रही थी । वह डर रहा था कि कहीं उसकी मृत्यु न हो जाय । किंतु शीघ्र ही जी में जीवन का कुछ भरोसा हो आता । वह सोचता 'जान के बदले जान' दूँगा । उस बच्चे की बलि शायद मेरा कल्याण कर सके ।

आह, उसकी यह कामना स्वार्थ का कैसा ज्वलंत उदाहरण थी । यह मानव-हृदय की निर्दयता, उद्दंडता तथा जीवन-तृष्णा की चरम सीमा थी । हिंसा करके भी वह अपना कल्याण चाहता था । किंतु यह भयंकर भूल थी । पशुवृत्ति उसके हृदय में यह संकल्प करती हुई हलकी साँसें ले रही थी और मनसूबा किसी कोने में खड़ा लज्जा से धँसा जाता था ।

जान से प्यारी इस धरातल में कोई भी वस्तु नहीं । उसके रक्षार्थ हम एक बार अपना सर्वस्व देने को भी तैयार हो जाते हैं । हम सब कुछ देकर भी अपने को नहीं देना चाहते । अपने को खोकर भी हम "अपने को" जैसी जर्जर वस्तु को क्यों ढोते फिरते हैं ? यह एक कठिनतर समस्या है । हाँ, तो यह वृत्ति हम सभी में है, फिर स्वार्थ के पुतले डाकू में यह क्यों न होती ? उसने बलि के प्रश्न को हल कर डाला । तर्क के झमेलों को पछाड़ दे मारा और फिर निश्चय कर लिया कि यदि करना ही है, तो आज ही और अभी क्यों न करे । बस, उठ खड़ा हुआ । एक बार पुनः तामस ने उसके ढीली रगों को सीधा कर दिया । वह सीधा उसकी कोठरी में चला । वहाँ पहुँचा और जाकर खड़ा हो गया ।

निर्दयता करते समय बड़े-से-बड़े निर्दयी का भी दिल एक बार दहल जाता है—किंतु जिसकी जैसी लत रहती है, वही हृदय के सभी भावों को दबाकर सर्वोपरि हो जाती है । कुछ देर वह भी दुविधा की खींचा-तानी में रहा । फिर बंदिनी सरला से बोला—"हमें बचा दे दो ।"

सरला इस आकस्मिक माँग पर चौंक उठी । पर धीरता से काम लेते हुए उसने पूछा—"क्यों, किस लिये ?"

यह बड़ा कड़ा प्रश्न था । और प्रश्न का निशाना भी उसके दिल पर बे-तरह पड़ता था । वह इतना

सहज तथा सादा होते हुए भी उसे अट्टहास-प्रद प्रतीत हुआ। वह लज्जित हो गया, पछतावे में पड़ गया। करुणा से कातर हो शोक का शिकार बन बैठा। किंतु ये घूँट एक आचरणहीन डाकू को बड़ी कड़ुवी लगी। जिस बाड़े में उसे कोई अदृश्य शक्ति खींचे लिए जाती थी और रह-रहकर तीते प्यालों को उसके होंठों से लगाती जाती थी, वह उससे निकल भागा और अपने पुराने मैदान में आकर खीझ उठा। उसने तमककर कहा—"मैं उसे बलि देने के लिये चाहता हूँ।"

उसके 'हूँ' शब्द के साथ ही मानों भू-मंडल उसकी ओर त्योरियाँ बदल हुंकार कर उठा। कहीं दूर-प्रदेश से कल्याणकारिणी जगद्धात्री के वीर-वाहन का भो हुंकार सुनाई पड़ने लगा और चमकने लगा वही मैया का गर्व-गर्वित खड्ग। डाकू काँप उठा। पर क्या पैर पीछे धरता? नहीं, भला सिंह और शूर कब मुड़ते हैं!

उसने सरला को चुप उद्भ्रांत बैठी देख, फिर कहा—"एक बार पुचकार ले अपने बेटे को, फिर दे दे मुझे, मैं उसे काली की भेंट करूँ। देर न लगा।"

व्यथिता अपने होश में न थी। वह इस समय समझ नहीं रही थी कि वह क्या कह रहा है। वह फिर भो चुप रही।

कुछ देर के बाद सरला ने कहा—"नैराश्यसागर में डूबने से बचने के लिये आशा के इस तिनके को भी न रहने दोगे। क्या इस नन्हे-से खिलौने पर तुम्हें तरस नहीं आता?.........हा जननी!"

डाकू—"व्यर्थ समय क्यों नष्ट करती हो? जी चाहे इसे दो बार पुचकार लो!.........वरना, मैं इसे लिए जाता हूँ।" यह कहते हुए बड़ी रुष्टता से वह सरला की गोद से बच्चे को छीनने लगा।......आनंदस्वरूप बालक चिल्ला उठा और देवीस्वरूप जननी रो उठी। किंतु वह छीन ही ले गया और वह धरती पर पछाड़ खाकर गिर पड़ी!—उसके आगे संसार अंधकारमय था। वह बच्चे को बाँह के नीचे दबाकर चलता हुआ और वह मूर्छित हो गई।

× × ×

दीना को मूर्छा भी शरण न दे सकी, मुँह मोड़कर चली गई!!......धरणी पर ख़ूब छटपटाई, ख़ूब तड़पी, ख़ूब रोई कि हठात् पागलों की नाईं उठ खड़ी हुई और लगी बड़बड़ाने.........क्यों, कहाँ वह छीनकर ले गया है मेरा लाल?......मा काली को बलि चढ़ाने के लिये? क्या अपनी संतान का मैया भक्षण करेगी? क्या निरीह बालक के निर्दोष रक्त से उसकी रक्त-पिपासा तृप्त होगी? उफ़्! मेरा प्यारा, मेरा प्राण, मेरा हृदय, मेरा लाल..... और खाद्य किसका? मेरी स्नेहमयी मैया का.........। क्यों, क्या पूछने की आज्ञा होगी जननी कि तुम्हें अपने बच्चों का रक्त कैसा लगता है? तड़पती जान को देखकर मनुष्य में भी देवतों की-सी दया जग उठती है, किंतु नहीं, यही क्या तुम्हारे आहार-विहार के लिये समुचित दृश्य है?.........नहीं, नहीं मा, मैं इसे नहीं मानूँगी। एक बार तू भी कहेगी, तो मैं इसे हँसी समझ तुम्हारी कृपालुता का वास्तविक रूप जानने के कारण तुम्हारे चरणों पर आँखों की मोतियाँ उड़ेल दूँगी। मनुष्य ही नहीं, देवता भी कहते हैं—"दुःख-भयहारिणी हो, लोकोपकार के लिये आर्द्रचित्त हो।

"क्या यह सभी असत्य है? नहीं कदापि नहीं!...... किंतु कैसे मानूँ यह, यदि मेरी ही गोदी का गुलाब चुन लिया गया तुम्हारी थार में सजे जाने के लिये! ....अच्छा यही सही, लो खा लो मेरे बच्चे को।...... किंतु विश्वास रक्खो, उसे तुम्हारे कौर से झपटकर निकाल लूँगी और तुम्हें बतला दूँगी कि माता तुम नहीं, मैं हूँ।.........जननी! आज तुम्हारी बेटी तुम्हें मातृत्व की शिक्षा देने पर उद्यत है। क्षमा करना इस धृष्टता को!.........वह निर्दयी, हत्यारा, क़साई, तुम्हारे आगे उसे 'डित कर देगा, तुम उसके मनोहर गुलाबी रक्त का पान करोगी?......छीः...मातृत्व, धिक्कार है तेरे नाम को! मा, क्या मुझे यह तुमको स्मरण दिलाना पड़ेगा कि मातृत्व पाषाणवत् नहीं होता, वरन् कोमल और मृदुल......!"

अपनी कंचुकी से एक तीक्ष्ण-छुरिका निकालकर वह बकती-झकती काली-मंदिर की ओर बड़ी तेज़ी से चल पड़ी।

× × ×

वह यों ही झूमती मंदिर के द्वार पर पहुँची। उतावली थी, पगली थी, निर्बुद्धि थी। सब कुछ कर जाने के लिये उद्यत थी। किंतु चौखट पर पहुँचते ही विचित्र

दृश्य आँखों के सामने था। डाकू उसे देखते ही उसके चरणों में "माता मुझे क्षमा करो" कहते हुए आ गिरा।

सरला ने देखा, उसका पुत्र माता के पदपद्मों के निकट बैठा हुआ प्रसन्नचित्त खेल रहा है, और देवी की मूर्ति के अधरों पर मातृत्व की सजीव मुस्कुराहट खेल रही है, मानो सरला से वह पूछ रही है कि क्या वह मातृत्व जानती है अथवा नहीं ?

सरला का हृदय आनंद, मोह, करुणा, लज्जा एवं विस्मय से भर गया। डाकू के अंतस्तल में आज एक विचित्र ज्योति जग रही थी। आश्चर्यजनक परिवर्तन प्रवेश कर चुका था।

यह सब कुछ लीलामयी जननी का आमोदमय अभिनय था।

डाकू और सरला दोनों ही मातृपद-पंकज पर लोटने एवं आनंदाश्रु बहाने लगे। फिर शीघ्र ही मंदिर में आरती आरंभ हो गई और पत्ते-पत्ते माता की आरती में योग देते हुए कह रहे थे—

सर्वस्यार्त्तिहरे देवि नारायणि नमोऽस्तु ते !!

श्रीगुप्तेश्वरप्रसाद श्रीवास्तव

बलाहक !

१

हम अनुमाने, मौन ठाने, हरि आने चित्त ,
कोऊ तपसी हौ, बैस तप माँहि काटौगे ;
हौ तुम प्रबुद्ध, बोधि आजु काग-मंडलीन ,
वेद औ पुरानन के पुन्य-ठाट ठाटौगे ।
पै तुम लखाने काग हू तें गए बीते यार ,
करिकै अनर्थ और पाप-पुंज पाटौगे ;
चीकने बने हौ काह, भीतरै भरी भँगार ,
तुम तौ बलाहक हौ, घोंघिन ही चाटौगे ।

२

जतन किए हू पै न पाए चलि हंस चाल ,
सिखत बलाहकजू ! आपनी बिसरिगे ;
साथ के सखा हू बनि बैठे आपदा मैं बाम ,
चुँथत मराल-पंख, पंख हू उचरिगे ।
छूट्यौ मानसर बास, लागे मुकता न हाथ ,
सूख्यौ पंक, मीन मुए, ताल हू उजरिगे ;
इतके तज्यो है साथ, उतके गह्यो न हाथ ,
बनिकै त्रिसंकु व्यर्थ, बीच मैं बगरिगे ।

३

जोपै बदो होतो मानसर ही बलाहकजू , तौ तुम बकुल-कुल काहे अवतरते ;
ऊपर तें साधु जैसे सूधे न लखाते कबौं, भीतर तें डुमकि न मीन गप करते ।
बैठि अरविंदन पै भद्रता बिचित्र धारि , करिकै ठठोली काहे हंस-हँसी भरते ;
होते जुपै भीतरौ के ऊजरे ज्यों ऊपर के , सुजन सराहिबे की बानि चित्त धरते !

४

राखत न दोह कोह, सरल सुभाउ हंस ,
हंस इनके न सुने, पैज ते पछरिगे ;
इन अन्हवायो तोहिं, मानस मैं दै सुपास ,
औगुन तिहारे आपु ही ते तौ उघरिगे ।
तौहूँ भाँति-भाँतिन के पायो परितोष नीके ,
संबुक सवाद तोहिं, मूरख ! बिसरिगे ;
खायो पै पचाय नहिं पायो मुकतान ताते ,
दोऊ दग मोतिया के बिंदुन बिगरिगे ।

५

ये तौ राजबंस अवतंस महाभाग हंस ,
जानि तोहिं खोटो, तऊ खोरि इन भाख्यो ना ;
जैसी चलि आई रीति इनके सनातन तें ,
तैसी अभिलाषैं इन पूरीं, एक राख्यो ना ।
करि उपकार अपकार ही लह्यो है अंत ,
तैं नहिं सकान्यो, इन मन माँहि माख्यो ना ;
तौहूँ नहिं आए बाज, फूट के बयो है बीज ,
तैसेई लुनौगे, कबौं कटु फल चाख्यो ना ।

रमाशंकर मिश्र "श्रीपति"

उपाध्यायजी और अद्वैतवाद

'माधुरी' की पूर्ण संख्या ७० में हमने श्रीगंगाप्रसादजी उपाध्याय के अद्वैतवाद-शीर्षक लेखों की जो आलोचना लिखी थी, उस पर पूज्य पंडितजी ने जो वक्तव्य छपाया है वह प्रथम तो उनके अत्यधिक क्षोभ का परिचय देता है और दूसरे उसमें वही तर्कशैली और वे ही विषय अत्यधिक हेर-फेर के साथ पुनः उठाए गए हैं जिनका अत्यंत सरल स्पष्टीकरण हमने अपने उपर्युक्त शीर्षक पूर्वलेख में किया था। फिर भी मान्य संपादकजी के अनुरोध से हम कुछ विवेचनरूप में पूज्य उपाध्यायजी और पाठकों के चरणों में निवेदन करना चाहते हैं। यह विषय ही ऐसा है, जो मतभेद को शरण देता है। अर्पण और दर्शन, ये साधना की दो परम गति हैं। अर्पण में ध्वनि और दर्शन में आलोक है। एक का क्षेत्र भक्ति और दूसरे का ज्ञान है; एक में संगीत-कविता है, दूसरे में शास्त्रार्थयुक्त विवेचन। एक का संबंध हृदय से है, दूसरे का बुद्धि से। कविता ने अपने साम्राज्य से भेद को निकाल दिया है, परंतु दर्शनशास्त्र जब तक कि वह उच्चातिउच्च कोटि का सानुभव न हो, भेद को आश्रय देता ही है। परंतु काव्य की तरह दर्शन में भी प्रेम और मीठी वाणी का व्यभिचार नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे लेख से उपाध्यायजी को अप्रसन्नता हुई है। हम पूज्य पंडितजी से इसके लिये क्षमा चाहते हैं; क्योंकि वह वय धर्म-कर्म और विद्या में सब प्रकार हमारे अर्घ्य हैं।

स्वयं हमें उपाध्यायजी के अद्वैतवाद पर लेख लिखने से अप्रसन्नता बिलकुल नहीं हुई। हाँ, इतना अवश्य प्रतीत हुआ था कि उन लेखों में शंकर-दर्शन का विवेचन ठीक नहीं हुआ और उनसे बहुत कुछ भ्रम उत्पन्न होने की सम्भावना थी, इसलिये हमने समाधान लिखा था। उपाध्यायजी-जैसे विद्वान् को फिर उन्हीं शंकाओं की उलझन है, इससे पुनः कुछ विस्तार से लिखने को विवश होना पड़ा है। अत्यंत शिष्ट भाषा और संयत भाषा आदि शब्द सौजन्य और क्षमायाचना की रीति से लिखे थे; क्योंकि अपने साहित्य में दुर्भाग्य से चली हुई जो अभद्र समालोचना की शैली है, उसकी ओर से मेरे मन में बड़ी घृणा है। पूर्व लेख के आरंभ में ही हमने यह कह दिया था कि शंकर को ठीक-ठीक पाठकों के सामने उपस्थित करना पहली आवश्यकता है, यदि हम चाहते हैं कि उस धुरंधर दार्शनिक के साथ कहीं अन्याय न कर बैठें। शंकर की लेखनी सहस्रशीर्षा होकर अनंत स्थानों पर इस बात को कहती है कि सृष्टि के व्यवहारगत नाम-रूपों के मूल में एक अविकारी, अविनाशी, नित्य, अद्वैत, अमृत, वस्तुतत्त्व को मत भुलाओ, सदा सर्वत्र उसके दर्शन करो। इस मौलिक दृष्टिबिंदु की अवहेलना करके जो समालोचक बार-बार नाक-कान और मेज़-कुर्सी पटक-पटककर यह प्रश्न करता ही जाय कि इन भेदों को तुम तथ्य क्यों नहीं मानते, तो उसके चरणों में केवल अंजलि-कर्म ही विधेय है। जगत् के जो असंख्य भेद हैं, वे व्यवहार-सत्य हैं, उनमें ब्रह्म की स्वाभाविकी ज्ञानबल-क्रिया का विषय दृष्टिगोचर हो रहा है, उनकी सत्ता का पृथक्-पृथक् ग्रहण वांछनीय नहीं। केवल एक मूल-उपादान कारण को ही ध्यान में रखकर यदि ब्रह्म के विवर्त पर विचार किया जाता (और यदि पूज्य पंडितजी भी ऐसा ही करने की कृपा करते), तो मानों प्रश्नकर्ता एकदम वेदांत तथा अन्य दर्शनों के मूल-भेद से ही टक्कर लेता और विषय भी थोड़े स्थान में आ जाता। "नेह नानास्ति किंचन, मृत्योः स मृत्युमाप्नोति उनानेह पश्यति, एकमेवाद्वितीयम्" आदि अनेक श्रुतियों के आशीर्वाद से शंकराचार्य ने कार्य-करण संघात से व्याकृत जगत्प्रपंच या नामरूपों के मूल में स्थित एक सत्य तत्त्व के अनुसंधान और प्रतिपादन द्वारा संसार का अनंत कल्याण किया है। शंकर के समान ज्ञानविज्ञान-सिद्ध निर्भय दार्शनिक संसार में नहीं हुआ। एक अनुभव अभेद अद्वैत को ओर ले जाता है, दूसरे की प्रतिज्ञा भेद की सत्यता-प्रतिपत्ति है। भेद से तात्पर्य जगत् की वस्तुओं के उपादान कारण के भेद से है। सांख्य, जगत् के उपादान कारण से सृष्टि जिस प्रकार मानता है, उसको शंकर ने थोड़े ही में इस प्रकार लिख दिया है—

सांख्यानां त्रयो गुणाः साम्येनावतिष्ठमानाः प्रधानम्। न तु तद्व्यतिरेकेण प्रधानस्य प्रवर्तकं निवर्तकं वा किंचिद्बाह्यमपेद्यमवस्थितमस्ति। पुरुषस्तूदासीनो न प्रवर्तको न निवर्तक इत्यतोऽनपेक्षं प्रधानं......। २।२।४

अर्थात् तीन गुण जब साम्य अवस्था में रहते हैं, वह सांख्यों की प्रधान है। उस प्रधान का प्रवर्तक या निवर्तक कोई बाह्य कारण नहीं है, वह अचेतन होते हुए भी स्वतः सृष्टि-प्रक्रिया में प्रवृत्त हो जाती है। पुरुष (विभु और नाना होते हुए) उदासीन रहता है, न प्रवर्तक है, न निवर्तक। प्रकृति सत्य है, वह स्वयं ही अव्यक्त से व्यक्त हो जाती है। अद्वैत-वेदांत इस प्रकार संसार के नाना विनिमयों में अचेतन को अविकारी नहीं मानता। शंकर ने डिंडिमघोष के साथ ब्रह्म को ही अभिन्न निमित्त और उपादान कारणवाला माना है। ब्रह्म का स्वभाव निरुपाधि या निर्गुण रूप (Transcendental) तब तक प्रतीत नहीं हो पाता, जब तक वह उपहित अर्थात् उपाधि संयुक्त होकर नामरूपों में व्याकृत न हो जाय—यही निर्गुण का सगुण (Immanent) होना है। शंकर के शब्दों में यों है—

यदि हि नामरूपे न व्याक्रियेते, तदा अस्यात्मनो निरुपाधिकं रूपं न प्रतिख्यायेत। यदा तु पुनः कार्यकरणात्मना नामरूपे व्याकृते भवतः, तदा अस्य रूपं प्रतिख्यायेत (बृहदारण्यक भाष्य २।५।१९)

विना नामरूप के व्याकृत हुए आत्मा के निरुपाधिक रूप की ख्याति न हो सकती। कार्य और करण (इंद्रियों) के संघात से एक प्राणबीज क्रमशः स्थूल होता हुआ नामरूपों में व्यक्त होता है, तभी उस ईश्वर का रूप ख्यात होता है। स्थावर से लेकर प्राणस्पंदन-पर्यन्त उत्तरोत्तर विशिष्ट सृष्टि-प्रक्रिया निरर्थक नहीं है, इसके द्वारा उसी विभूतिमत् का स्वभाव प्रकट हो रहा है। इस प्रकार यह जगत्प्रपंच सार्थक है। सृष्टि से प्रलय तक का स्पंदन किसी निष्ठुर जड़ स्वभाव का व्यर्थ अट्टहास नहीं, वरन् सर्वप्राणभृत्-क्रियात्मक सूत्र-संज्ञक अंतर्यामी ब्रह्म का स्वभाव-प्रवर्तन है। प्रश्न है कि मूल में जो चेतन निर्गुण तत्त्व है, वह किस प्रकार विविध मूर्त पदार्थों में व्याकृत हो सकता है। इसका उत्तर वह सृष्टि-क्रम है जैसा शंकर ने दिया है। यह प्रतीयमान् जगत् मूल-कारण से अन्य नहीं, जैसे कुंडलकटक सुवर्ण से अन्य नहीं। इसके अनन्यत्व की ओर ही ध्यान दिलाना शंकर को वारंवार अभीष्ट है। कुछ लोग दूध और दही के विपरिणाम का उदाहरण लेकर समझते हैं कि ब्रह्म से जगत् भी इसी प्रकार पृथक् हो जाता होगा। इन लोगों के लिये शंकर ने कहा है कि त्रिकाल में भी कारण से कार्य अन्य नहीं हो सकता, वर्षशत में भी दूध रूप कारण से दही अन्य नहीं हो सकता। यथा—

तस्मात्क्षीरादीन्येव द्रव्याणि दध्यादिभावेनावतिष्ठमानानि कार्याख्यां लभन्त इति न कारणादन्यत्कार्यं वर्षशतेनापि शक्यं निश्चेतुम्। तथा मूलकारणमेवान्त्यात्कार्यात्तेन तेन कार्याकारेण नटवत्सर्वव्यवहारास्पदत्वं प्रतिपद्यते। २।१।१८

अर्थात् क्षीर ही दधिभाव से अवस्थित होकर कार्यरूप में परिणमित कहा जाता है। कारण से अन्य कार्य नहीं हो गया। दही को पृथक् समझने लगना ही नानात्व की ख्याति है। फिर दूध दही एक-एक पदार्थ का नाम लेकर कार्यकारण का अनन्यत्व कहाँ तक दिखा सकते हैं। संक्षेप में गाय, भैंस, घास, दूध, दही, खोया इन सब कार्याकारों के पीछे एक मूल-कारण है। वही नट की तरह नानारूप रखकर सब व्यवहारों में प्रतीत हो रहा है। वह कारण अभिन्न निमित्त-उपादान है।

यहाँ विपक्षी की आपत्ति यह है कि कुलालादिक की तरह ब्रह्म को निमित्त करण (Efficient cause) मानने में कुछ हानि नहीं, लेकिन जगत् ठहरा सावयव, अचेतन और अशुद्ध, उसका उपादान कारण भी वैसा ही होना चाहिए, क्योंकि कार्यकारण में सरूपता होती है, पर ब्रह्म है निष्कल, निष्क्रिय, शांत, निरवद्य औरनिरंजन, इसीलिये ब्रह्म के अलावा उपादानकरण कुछ और मानना चाहिए (वेदांत-भाष्य १।४।२३)।

शंकर ने इस पर कहा है—

एवं प्राप्ते ब्रूमः—प्रकृतिश्चोपादानकारणं च ब्रह्माभ्युपगन्तव्यं निमित्तकारणं च। न केवलं निमित्तकारणमेव। कस्मात्। प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्।

अर्थात् प्रकृति या उपादानकारण भी ब्रह्म ही है, निमित्तकारण भी वही है। केवल निमित्तकारण ब्रह्म नहीं है; क्योंकि जो प्रतिज्ञा और दृष्टांत ऋषियों की श्रुतियों में मिलते हैं, उनसे ऐसा ही निष्कर्ष निकलता है। हमने यह बात वैशाख के लेख में स्पष्ट कर दी थी कि शंकर ने श्रुति और आगम प्रमाणों को सब तर्कों से अधिक

श्रद्धास्पद माना है ; औपनिषदिक ज्ञान स्वानुभूतिकोटि का है, इसलिये एक स्वानुभवी महात्मा के लिये ऐसा करना स्वाभाविक भी था । परंतु जिनको श्रुतिप्रमाण के अतिरिक्त इस विषय पर स्वतंत्र विचार करना हो, उनके लिये भी शंकर ने विमर्शसामग्री प्रस्तुत की है । निमित्त कारण किसी वस्तु की सृष्टि के लिये ही आवश्यक होता है, जैसे कुंडल बनाने के बाद सुवर्णकार के लोप हो जाने से कुंडल की स्थिति निर्बाध रहती है। उपादानकारण अपने स्वरूप से वस्तु में चला जाता है; जैसे सुवर्णकटक और कुंडल में। उपादानकारण के विना सृष्टि स्थिति और लय कुछ नहीं हो सकता ।

यद्धि यस्मात्प्रभवति यस्मिंश्च प्रलीयते तत्तस्योपादानं प्रसिद्धम् (१।१।२५)

जिसका प्रभव और लय जिसमें होता है, वही उसका उपादान कहलाता है। अब जगत्रूप कार्य की सृष्टि ब्रह्म से होती है, यह निर्विवाद है, उसका लय भी अंत में उसी में हो जाता है, स्थितिकाल में भी ब्रह्म के विना जगत् की सत्ता बाधित हो जाती है, एक क्षण के लिये भी विना चेतन के इसकी स्थिति संभव नहीं—इससे ब्रह्म ही इसका कारण है । इसीलिये शंकर ने एक ब्रह्म को निमित्त और उपादान दोनों ही कारण कहा है। फिर विपक्षी के पास इसके लिये कौन-सा पुष्ट प्रमाण है कि चेतन आत्मा विकारात्मक परिणाम कर ही नहीं सकता। कर्तृत्व और कर्मत्व एक ही वस्तु में हो नहीं सकते, यह अटल नियम नहीं है । ऊर्णनाभि बाह्य साधन की अपेक्षा न करके स्वयं ही जाले का सृजन और ग्रास करने में स्वतंत्र है। आस्तिक भाव से शंकर ने देवादिक को भी इसी कोटि का स्वप्रभाव से कर्तृत्व-कर्मत्वयुक्त मानकर ब्रह्म के साथ उदाहरण-सादृश्य दिखाया है। ब्रह्म के मन के रेत से प्राण-स्पंदन, फिर प्राणांश के संहत होने से बाह्य आधार या घनवस्तुएँ यही सृष्टि क्रम है । शंकर ने इसी प्रकरण में आगे कहा है—

पूर्वसिद्धोऽपि हि सन्नात्मा विशेषेण विकारात्मना परिणमयामासात्मानमिति । विकारात्मना च परिणामो मृदाद्यासु प्रकृतिषूपलब्धः ।१।४।२६।

अर्थात् आत्मा या ब्रह्म प्रकृति है ; क्योंकि वह स्वयं किसी का विकार नहीं । वह कार्य की उत्पत्ति से प्राक्-सिद्ध है, तो भी वह विकृतिरूप में अपना विशेष विपरिणाम कर सकती है। मिट्टी जैसे प्रकृति होती हुई घट-कपाल आदि विकारों को जन्म देती है (घट की दृष्टि से मिट्टी उसकी प्रकृति है, पर और जल आदि की दृष्टि से मिट्टी भी विकृति हो सकती है, परब्रह्म स्वयं केवल प्रकृति ही है) ऐसे ही ब्रह्म भी मूल-प्रकृति है, जो नानात्व की ख्याति के पीछे छिपी है ।

इस जगत् प्रपंच के पाप-पुण्य से ब्रह्म अणुमात्र भी लिप्त नहीं होता ; क्योंकि कारण में कार्य के स्वभाव का कोई दोष संक्रांत नहीं हो सकता । यहाँ प्रश्न हो सकता है कि जन्ममरणजरारोगादि अनेक अनर्थ—जालमय जगत् को रचा ही क्यों; यदि रचा ही गया, तो मन को प्रसन्न करनेवाली हितमयी सृष्टि ही क्यों न बना ली गई—इत्यादि बातों का उत्तर शंकराचार्य ने विस्तारपूर्वक प्रयोजनाधिकरण और इतरव्यपदेशाधिकरण में दिया है । जगत् अनादि है, उसमें बीजांकुर-न्याय से सृष्टि और लय चल रहे हैं । यह प्राण-स्पंदन अनंत है । ब्रह्म सृष्टि से पहले था यह बात केवल दार्शनिक अर्थ में ही ठीक (Logical sense only) है, अन्यथा जगत् जब नहीं था, ऐसे समय की कल्पना भी नहीं हो सकती। जीवों के नित्य स्वभाव के अनुरूप सुख-दुःख होते हैं, ब्रह्म में विषमता नहीं है । इसमें प्रत्येक बात के व्याख्यान के लिये यहाँ स्थान नहीं है । इसका विचार वेदांत की रीति से पृथक् लेख का विषय है । फिर भी पाठकों को एक बात स्मरण रखनी चाहिए । वह यह कि इस जगत् को शंकराचार्य ने जहाँ एक ओर माया की उपाधियुक्त चेतन ब्रह्म का विवर्त माना है, वहीं साथ-साथ इसे आत्मा का परिणाम भी कहा है । कुछ लोग परिणाम शब्द से सांख्य की प्रधान से उत्क्रांत होनेवाली सृष्टि का ही ग्रहण करते हैं। उन्हें विवर्त शब्द कुछ खटका करता है। वेदांत में परिणाम और विवर्त दोनों ही शब्दों का प्रयोग किया गया है । शंकर ने कितने स्थानों पर परिणाम शब्द का प्रयोग किया है—

परिणमतेऽनपेक्ष्य बाह्यं साधनं—परिपूर्णशक्तिकं ब्रह्म । २।१।२४ कथं पुनः पूर्वसिद्धस्य सतः कर्तृत्वेन व्यवस्थितस्य क्रियमाणत्वं शक्यं संपादयितुम् ? परिणामादिति ब्रूमः १।४।२६

अर्थात् जिस आत्मा में कर्तृत्व (निमित्तकारणयोग्यता) था, उसी में कर्मत्व (उपादानकारणयोग्यत्व) कहाँ से आ गया ? उत्तर है—परिणाम से ।

यहाँ निमित्त और उपादान या विवर्त और परिणाम में विरोध नहीं है। जगत् को चेतन की दृष्टि से विवर्त कहा जाता है, और माया, प्रकृति या शक्ति की दृष्टि से विपरिणामी। दूसरे शब्दों में यों कहिए कि माया-उपहित चेतन में विवर्त-उपादानता है और केवल माया में परिणामी उपादानता है। शंकर को समझने के लिये जिस उदारबुद्धि की आवश्यकता है (या डाक्टर जाली के मतानुसार Freedom from wrongly interpreting its technical terms) उससे विचार करके देखें, तो पता चलता है कि ब्रह्म और जगत् के अनन्यत्व का संतत प्रतिपादन करते हुए भी उन्होंने व्यवहार-पक्ष में कार्य-प्रपंच का प्रत्याख्यान नहीं किया है। इसका विवरण आगे करेंगे।

वेदांत का इतना स्पष्टीकरण जान लेने पर यदि हम उपाध्यायजी के खंडन को देखते हैं, तो पता चलता है कि पंडितजी ने शंकर के मूल-अभिप्राय (अर्थात् परमार्थपक्ष में कार्यकारण-अनन्यत्व) को बार-बार भुला दिया है। वेदांत में जगत् को मिथ्या कहा गया, उसका तात्पर्य यह कि ब्रह्म का रूपांतर जगत् है। जगत् बदलनेवाला है अर्थात् ब्रह्म जगत्रूप में भासित होता है और जगत् भी फिर बदलकर अपने पूर्वकारण में आ सकता है। यदि सांख्य भी बदलने का यह अर्थ ले ले, तो क्या विरोध हो? परंतु अन्य दर्शन यह नहीं मानते कि जगत् भी कारणरूप में बदलकर अपने पूर्वरूप ब्रह्म को प्राप्त हो सकता है। अँगूठी, कड़े आदि सब बदलनेवाले हैं। पर जिसकी अपेक्षा से ऐसा कहा जाता है, वह चीज़ सुवर्ण है। अँगूठी कड़े की अपेक्षा से कुंडल में नहीं बदलती, बल्कि सुवर्ण की अपेक्षा से बदलती है। इसलिये कटक-कुंडल अँगूठी ये वाणी के विकार हुए, इन्हें केवल नाम का आलंबन है, वस्तुतः स्थिति नहीं। ऐसे ही वेदांत जब जगत् को बदलनेवाला कहता है, तब उसका अर्थ विचारणीय है। जगत् सृष्टि से लेकर प्रलय तक अनेक रूप धरता है; पर उनकी सत्ता अव्यभिचारी नहीं है, केवल नाम-मात्र है। यह बदलना जिसकी सापेक्षता से कहा जाता है, वही चीज़ महत्त्व की है। वह मूल-कारण ब्रह्म है। सांख्य आदि जिनका नाम उपाध्यायजी गिनाते हैं, इसी अर्थ में बदलनेवाला नहीं मानते, वहाँ सापेक्षता प्रधान की ही है। इसी से वेदांतकृत मिथ्या अर्थ से उनका विरोध होता है। अशिक्षित मनुष्य जब 'संसार को बदलनेवाला मानता है', तब उसका ध्यान वेदांत की तरह ब्रह्म-प्रकृति के विकारात्मक परिणाम की ओर नहीं रहता। उपाध्यायजी जिस अशिक्षित मनुष्य का नाम लेते हैं, वह कारण के धर्मों से अलग ही कुछ स्वतंत्र धर्म 'बदली हुई चीज़' में मान लेता है, पर वेदांत का सिद्धान्त तो इससे ठीक दूसरा है—

अपीतिरेव हि न संभवेद्यदिकारणे कार्यं स्वधर्मेणैवावतिष्ठेत। अनन्यत्वेऽपि कार्यकारणयोः कार्यस्य कारणात्मत्वं न तु कारणस्य कार्यात्मत्वम्। २।१।९

न हि विशेषदर्शनमात्रेण वस्त्वन्यं भवति स एवेति प्रत्यभिज्ञानात्। २।१।१८

जब कारण भविष्यद्रूप में कार्य बदलता है, तो कारण की सत्ता कार्य में रहती है, इसीलिये फिर पूर्वरूप होते समय कार्य की कोई हस्ती नहीं रह जाती; क्योंकि वह कारणात्मक था। कारण कार्यात्मक कभी नहीं होता, अर्थात् कार्य की आत्मा कारण में नहीं जाती, बल्कि कारण की आत्मा कार्य में। जब हमने कहा कि जगत् बदल गया, तब कारणात्मक कार्य का तात्पर्य है। ब्रह्म ज्ञान या विद्या है। तदितर अज्ञान या अविद्या हुई। यही प्राणबीज है। जगत् अविद्या (न+विद्या), या अज्ञान (न+ज्ञान) जब कहा गया, तब वह अपने मूलकारण से मिथ्या हो गया (बदल गया), परंतु अपनी दृष्टि से यद्यपि उसका अस्तित्व नहीं है, तथापि शून्य भी नहीं है। इसलिये वेदांत का मिथ्यात्व शून्यवाद से बिलकुल भिन्न है। इस दृष्टि से जगत् में शून्य नहीं, माया उपहित चेतन ब्रह्म ही है। रज्जु में सर्प का भ्रम होता है, परंतु सर्प को भ्रम के समय रज्जु का आलंबन है। वैसे ही मरीचि जल को ऊषर प्रदेश का आलंबन रहता है। इसीलिये नितांत असत् नहीं कहा जा सकता। आकाश-कुसुम और शश-विषाण की तरह मृगतृष्णिका का जल आरंभण-शून्य नहीं है। इस प्रकार की ख्याति (प्रतीति) का नाम वेदांत की परिभाषा में अनिर्वचनीय अर्थात् सत् और असत् दोनों से ही विलक्षण ख्याति है। शून्यवादी असत्य ख्याति कहते हैं अर्थात् अभाव से भाव हो जाता है (Unreal Ishwara or empty individual-self)। क्षणिक विज्ञानवादी आत्मख्याति मानते हैं अर्थात् रज्जु में तथा अन्य भी किसी देश में सर्प का नितांत अभाव है, केवल बुद्धि ही

सब पदार्थों के आकार को धारण करती है (Objects are all mental ideas only)। न्याय और वैशेषिक मत में अन्यथा ख्याति है अर्थात् बाँबी में सच्चा सर्प दिखता है, उसी के बल से रज्जु अन्यथा सर्पवत् प्रतीत होती है, यद्यपि रज्जु में सच्चा सर्प नहीं है। सांख्य मत में अख्याति है अर्थात् रज्जु का सामान्य ज्ञान होता है, उसके विशेष का ज्ञान नहीं होता। वेदांत ने विस्तारपूर्वक इन सबका खंडन करके अनिर्वचनीय प्रतीति मानी है। अर्थात् यदि अविद्या का कार्य सर्प सत् होता, तो रज्जु के ज्ञान से उसका बाध न हो सकता, इसलिये सत् नहीं। और जो असत् होता, तो बंध्यापुत्र की तरह प्रतीति ही न होती; और प्रतीति होती है, इसलिये असत् भी नहीं। किंतु सत् असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय है। इसलिये जगत् को उपनिषदों में सत्-असत् दोनों ही कहा गया है। जगत् को बदलनेवाला कहता हुआ वेदांती वैलक्षण्य पर दृष्टि रखता है। अर्थात् ब्रह्म चेतन, जगत् अचेतन—इनकी विलक्षणता बदलने का लक्ष्य है।

ब्रह्म उपकारी और जगत् उपकार्य है। इस भाव की निष्पत्ति ही बदलना है। दोनों में अत्यंत सारूप्य (Absolute equality) मानें, तो वस्तु एक हो जाय, कार्यकारण भाव ही प्रलीन हो जाय। इसलिये कार्यकारण भाव का अस्तित्व स्वीकार करना पहली बात है। यह व्यवहार पक्ष है, यही बदलना है। फिर उस कार्यकारण का अनन्यत्व जानना परमार्थ पक्ष है, और उसी से जगत् मिथ्या है।

पारिभाषिक शब्दों तथा दर्शन के अगम्य सिद्धांतों, यहाँ तक कि वाणी से अगम्य स्वयं ब्रह्म को भी लौकिक, संस्कृत या शब्दों में समझाने में न शंकर को आपत्ति है, न हमें और न अन्य किसी धीमान् को हो ही सकती है। परंतु यदि बोलचाल की भाषा के तरल शब्दार्थ में मूल-सिद्धांत का हो आप काया-कल्प कर डालें, तो अवश्य ही कहा जायगा कि आपने अन्याय किया। हमने किसी अशुभ मुहूर्त में 'बोलचाल' न लिखकर केवल एक बार 'बाज़ारू' शब्द लिख दिया था। उसके पुरस्कार में उपाध्यायजी ने एक सौ एक बार बाज़ारू की आवृत्ति करके उसका मानों रूप ही खड़ा कर दिया है। महात्मा तिलक या अन्य वेदांती पर्याय देकर ही—तर्क से नहीं—अपने विरोधियों का मुँह बंद कर सके हैं या उपाध्यायजी के अनुसार उन्होंने पीछा छुड़ाया है, यह बात कौन मान सकता है? इसके अनुसार तो शंकराचार्य भी पर्याय दे-देकर ही अपने विरोधियों को घुमाते रहे। पर्यायों के पटल में झंपित आक्षेप-सूर्य को पुनः प्रकाशित करने का श्रेय तो अद्वैतवाद के लेखक को ही है। संस्कृत से भाषा बनाने में पर्याय तो देने ही पड़ेंगे। यदि पर्याय दें, तो पंडितजी कहते हैं कि पर्याय की सफ़ाई है; यदि विस्तार से समझावें, तो कहें कि केवल विस्तार से समझा दिया गया है। वेदांत जब रज्जु में सर्प का उदाहरण देता है, तब सर्प का भ्रम न तो प्रमाण (आँख) के दोष से है, न प्रमेय (रज्जु) के दोष से, न प्रमाता के लोभ, स्वार्थ, असावधानी आदि दोष से है। बल्कि एक चौथे ही दोष मंद प्रकाश या तिमिर से ऐसा होता है। यही स्थान जगत् के मिथ्यात्व अर्थात् नानात्व की प्रतीति में अविद्या का है। उपाध्यायजी बदलने का साधारण बुद्धिवाला अर्थ देकर फिर वेदांत से झगड़ते हैं कि तुम इस अर्थ के अनुसार अपने सिद्धांत को मंडित नहीं कर सकते। आपने मेज़ का उदाहरण देते हुए लिखा है—"मेरे सम्मुख मेज़ है। यह चौकोर है, इसकी सतह हिलती नहीं, मैं अपनी आँख को कुछ-कुछ मिचमिचाता हूँ, तो मेज़ बदली हुई मालूम होती है, परंतु मैं यह नहीं कहता कि मेज़ बदल गई; क्योंकि तबदीली मुझमें हुई है, मेज़ में नहीं।" यदि उपाध्यायजी जन्म-भर बिना रुके आँखें मिचमिचाते ही चले जायँ और यह भी भूल जायँ कि बिना मिचमिचाई हुई भी आँखें होती हैं, तब तो वह अपने में प्रमातृत्व धर्म मानकर यह कहेंगे या नहीं कि मेज़ दरअस्ल बदली हुई मालूम होती है। जिस समय आँखों में कुछ विकार स्वयं उत्पन्न करके आप मेज़ को बदलकर देखते हैं, उस समय आपको कहना ही पड़ेगा कि मेज़ बदल गई। और यदि आप यह भी भूल जायँ कि यह विकार (मिचमिचाना) आपका ही उत्पन्न किया हुआ है और थोड़ी देर के लिये ही है, तब तो सचमुच मेज़ को आप अन्यथा ही समझने लगेंगे। आपके उदाहरण से वेदांत का विरोध वास्तव में तो है नहीं, परंतु आप दो अवस्थाओं की मिलावट से ऐसा कर देते हैं। आपका मेज़ को बदली हुई न समझना आँख मिचमिचाने के बाद का ज्ञान है, और यदि आप नेत्रविकृति के समय भी मेज़ के बदलने के भ्रम में

नहीं पड़े, तो इसका कारण नेत्रविकार के कारण मेज़ का न बदलना नहीं है, बरन् आपको अपने शरीर का जैसा ज्ञान है, उस ज्ञान में अच्छी आँख के बजाय सचमुच मिचमिचाती हुई आँख के ज्ञान न होना ही कारण है। इसी तरह वेदांत में जगत् भी अन्य नहीं होता, केवल कूटस्थ चिदाभास जीव का अविचारज्य अध्यास है। ज्ञानी उसके पारमार्थिक रूप को जान लेता है, व्यवहार-पक्ष में मेज़ की स्थिति मानकर वह भी उस पर लिखने बैठता ही है। हाँ, उसके परमार्थ-ज्ञान का उसकी 'भाषा' अर्थात् लोकस्थिति को संस्कृत करने के ऊपर बड़ा प्रभाव पड़ता है।

नेत्रों में विकार उत्पन्न करके उपाध्यायजी ने एक नए संसार की सृष्टि की, वहाँ मेज़ आदि सब पदार्थ भी वैसे ही बदल गए। अब बढ़ई जिस मेज़ को चीड़-फाड़ डालता है, उसका उदाहरण लेते हैं। इसमें भी वेदांत से विरोध नहीं। परंतु जब बौद्धों के समान जाग्रत् और स्वप्न की अवस्थाओं को (आपके पक्ष में विकृत नेत्र की मेज़ और दोषशून्य मेज़ के संसारों को) मिलाकर तर्क करते हैं, तभी हेत्वाभास रच जाता है। पहले लेखों में भी उपाध्यायजो ने यही भूल की थी और हमने इसका सविस्तर समाधान और स्पष्ट विवेचन वैशाख के लेख में (मा० पृ० ४८८) जाग्रत् और स्वप्न के हाथी के उदाहरण में कर दिया है। शारीरक भाष्य में इसका स्पष्टीकरण जो देखना चाहें, वे २।२।२६ सूत्र को देखें। वहाँ शंकर ने ज़ोर देकर कहा है कि स्वप्न के अनुभव को हेतु बनाकर जाग्रत् की उपलब्धि का अपलाप हम सहन नहीं कर सकते। और स्वप्न-जागरित का वैधर्म्य भो भली भाँति दिखाया है (दर्शितं तु वैधर्म्यं स्वप्नजागरितयोः)। नेत्रों में विकार उत्पन्न करके (जो आपकी स्वप्नावस्थारूप है) मेज़ का बदलना तथा नेत्रों को विकारशून्य करके (जो जाग्रत्-अवस्थारूप है) मेज़ का अपने हाथ से या बढ़ई के हाथ से बदलना—इन दोनों में कुछ अंतर नहीं, यदि आप बदलना रूप ज्ञान के प्रमाता (Knowing Agent) भी उसी-उसी अवस्था के लें। मेज़ के मूल में लकड़ी थी; चीरने के बाद भी लकड़ी ही है। लकड़ी की अपेक्षा से मेज़-रूप रचना-विशेष और चिरी हुई लकड़ी दोनों ही अवस्थांतर-मात्र हैं। मेज़ और ईंधन ये दो शब्द-मात्र या नाम हैं, जो लकड़ी के विकार से उत्पन्न हुए हैं। लकड़ी सत्य और वाचारम्भण नामधेय मिथ्या हैं। विकृति मेज़ और ईंधन की प्रकृति लकड़ी है, परंतु लकड़ी अंतिम प्रकृति नहीं, वह स्वयं किसी की अपेक्षा से विकृति है। वेदांत तथा अन्य दर्शनों की खोज मूल-प्रकृति की ओर है। वेदांत उसे चेतन ब्रह्म कहता है जिसके विवर्त से ये नामरूप ऐसे ही भासित होते हैं, जैसे सागर में बीचि, बुद्बुद् आदि। जो लोग अचेतन को ही मूल-प्रकृति कहकर रुक जाते हैं, उनसे प्रश्न है कि क्या वह किसी की विकृति नहीं, क्या उसमें स्वयं व्याकृत होने की सामर्थ्य है, क्या चेतन ब्रह्म उस पर कुछ प्रभाव डाल सकता है, अचेतन और चेतन की सहस्थिति में उनका संबंध क्या हो सकता है, ब्रह्मस्वभाव के किसी धर्म का कार्य में आना आपको स्वीकृत है या अशेष धर्मों की विलक्षणता अभिप्रेत है अथवा केवल चैतन्य का ही प्रधान में निराकरण है ? सांख्यों का असंग अकर्तापुरुष जो नाना है, चेतन की आवश्यकता को बिलकुल नहीं सुलझा पाता। पर वेदांत निमित्त और उपादान दोनों कारणों की अभिन्नता ब्रह्म में दिखाकर लोक व्यवहार में प्रपंच को सत्य मानता है। शंकर ने ही इसे कितनी बार कहा है—

न चास्य प्रसिद्धस्य भोक्तृभोग्यलक्षणविभागस्य बाधनं युक्तम् ।२।१।१३।

अर्थात् व्यवहार-प्रसिद्ध भोक्ता और भोग्य (विषयी और विषय, ब्रह्म और जगत्) का विभाग (प्रकृति और विकृति रूप वैलक्षण्य) इसका बाधन संभव नहीं। उपाध्यायजी लिखते हैं—"वस्तुतः विवर्त का अर्थ ही यह है कि वस्तु हो न, परंतु दृष्टि पड़े।"

इसके लिये संस्कृत का लक्षण भी दिया है—अतात्त्विकोऽन्यथाभावः विवर्त इति उदीरितः। ठीक है। परंतु आपने इसे वेदांत की दृष्टि से समझाने की कोशिश क्यों नहीं की। वस्तु हो न, परंतु दृष्टि पड़े—तो क्या वेदांत अभाव से भाव मानता है ? यह तो शून्यवाद हो गया, जिसका शंकर ने ख़ूब खंडन किया है। वस्तु तो ब्रह्म है ही, वही, जगत्रूप में देख पड़ रहा है। शून्यवादियों के तर्क निराश्रित होने के कारण वितंडारूप से लोगों को केवल भ्रम में डालनेवाले हैं—

अभावाद्भावोत्पत्तिं कल्पयद्भिरभ्युपगतमपह्नुवानैर्वैनाशिकैः सर्वो लोक आकुलीक्रियते ।२।२।२६।

इसलिये वेदांत की रीति से विवर्त का स्पष्टीकरण आवश्यक है। उपादान के समान सत्तावाला और अन्यथा-स्वरूप परिणाम कहलाता है। जैसे अपने उपादान दुग्ध के समान सत्तावाला कहिए व्यावहारिक सत्तावाला दधि-मिष्ठ दुग्ध से अन्यथा कहिए अम्ल है, इससे दुग्ध का परिणाम है, वैसे ही उक्त प्रपंच भी अविद्या के समान व्यावहारिक सत्तावाला और अरूप अविद्या से अन्यथा अर्थात् रूपवाला होने के कारण अन्यथा-स्वरूप भी है, इसी से अविद्या का परिणाम कहाता है। अब विवर्त देखिए—अधिष्ठान से विषमसत्तावाला अन्यथा-स्वरूप विवर्त कहाता है। जैसे व्यावहारिक और पारमार्थिक सत्तायुक्त रज्जु में केवल व्यावहारिक सत्तावाली सर्प-उपाधि है, वही परमार्थ दशा में बाधित हो जाती है, पर रज्जु बाधित नहीं होती, इससे रज्जु का विवर्त है। वैसे ही माया-उपहित (Super-imposed) चेतन में केवल व्यावहारिक सत्तायुक्त और उस दशा में अबाधित प्रपंच चेतन से बाधित होने के कारण उससे अन्यथास्वरूप भी है। यही चेतन का विवर्त है। अधिष्ठान जो ब्रह्म है उससे विषम सत्ता जगत् की है, इससे अतात्विक है और ब्रह्म से अन्यथा भाव (विशेष वैलक्षण्य) भी है अर्थात् अन्यथा-स्वरूप है। दोनों लक्षणों में शब्दों के भेद से बात बिलकुल एक है। तिलक ने जो लक्षण विवर्त का दिया है, उससे उनके दिए हुए दृष्टांत में बिलकुल विरोध नहीं है। "उस नाम-रूप से ढका हुआ और उसी के मूल में सदैव एक-सा ही स्थित रहनेवाला अमृत वस्तु-तत्त्व ही—वह आँखों से भले ही न देख पड़े—ठीक-ठीक सत्य है।" (गीता-रहस्य)।

उपाध्यायजी मेरे अस्तित्व-विहीन और लोकमान्य के 'मिथ्या उसको नहीं कहते, जो अस्तित्व में है ही नहीं' शब्दों को लेकर परस्पर विरोध दिखाते हैं। यदि यह वास्तव में विरोध होता, तो बड़ी आसानी से उपाध्यायजी शंकर के ही दोनों प्रकार के शब्दों को उद्धृत कर स्वयं वेदांत के आचार्य में भी स्व-व्याघात दोष दिखा सकते थे। 'अस्तित्व में है ही नहीं' यह कहने से शश-विषाण की तरह शून्यवाद का पक्षपाती वेदांत नहीं है, इसलिये मिथ्या उसको नहीं कहते, जो अस्तित्व में है ही नहीं, यह वाक्य ठीक ही है। यह उत्तर असत् ख्याति के लिये है। जब हम चेतन को बराबर अधिष्ठान कहते हैं, तो अस्तित्व में है नहीं, यह कैसे मान लें। सत्ता तो ब्रह्म (सच्चिदानंद लक्षण) में और जड़ प्रकृति में भी है। यही कारण और कार्य का समान धर्मत्व है। ब्रह्मणोऽपि तर्हि सत्ता लक्षणः स्वभाव आकाशादिष्वनुवर्तमानो दृश्यते ।२।१।६। अर्थात् ब्रह्म का सत्ता लक्षण स्वभाव आकाशादिक में जाता हुआ देखा जाता है। पुनः परमार्थ पक्ष में जगत् को अस्तित्वविहीन इसलिये कहा जाता है; क्योंकि ब्रह्म ज्ञान से उसकी सत्ता का बाध होता है। उपादान और निमित्तकारण दोनों ही जब ब्रह्म में अभिन्न हैं, तब परिणामी प्रपंच भी अपने अधिष्ठान के विना सत्य नहीं है। जैसे—

यथा घटकरकाद्याकाशानां महाकाशानन्यत्वं, यथा च मृगतृष्णिकादीनामूषरादिभ्योऽनन्यत्वं दृष्टनष्टस्वरूपत्वात्, स्वरूपेणानुपाख्यातत्वात्, एवमस्य भोग्यभोक्त्रादिप्रपञ्चजातस्य ब्रह्मव्यतिरेकेणाभाव इति द्रष्टव्यम्। इदं शास्त्रीयं ब्रह्मात्मत्वमवगम्यमानं स्वाभाविकस्य शारीरात्मकत्वस्य बाधकं सम्पद्यते, रज्ज्वादिबुद्धय इव सर्पादिबुद्धीनाम्। बाधिते च शारीरात्मत्वे तदाश्रयः समस्तः स्वाभाविको व्यवहारो बाधितो भवति ।२।१।१४।

अर्थात् घटाकाश महाकाश से जैसे अन्य नहीं, ऊषर से मृगजल जैसे अन्य नहीं है, क्योंकि उसी में दृष्ट और नष्ट होता है और मृगजलादि के अपने रूप की कुछ सत्ता नहीं, ऐसे ही भोक्ताभोग्य लक्षण, इस प्रपंच का भी ब्रह्म के विना अभाव ही है। जब शास्त्रीय ब्रह्मात्मकता का ज्ञान हो जाता है, तब जो जगत् शरीरात्मक जान पड़ता है, उसका बाध अर्थात् नानात्व भ्रम अपास्त ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार जो विरोध उपाध्यायजी को दिखाई पड़ा, वह शंकर में भी है, पर वह वस्तुतः विरोध नहीं; क्योंकि एक ही वस्तु में पिता की दृष्टि से पुत्रत्व और पितामह की दृष्टि से पौत्रत्व धर्म रह सकते हैं। उपाध्यायजी कहते हैं कि सीप में चाँदी आदि का दृष्टांत, अस्तित्वयुक्त और नाशवान् इन दोनों धर्मों के लिये, आप मत दीजिए। दृष्टांत तो लोक में से लेने ही पड़ेंगे, पर उनका सामंजस्य बताना दृष्टांतदाता का कर्तव्य है। सीप से स्वतंत्र सीप की चाँदी नहीं है, चाँदी के विना सीपी निर्बाध रहती है। पर सीप का अस्तित्व जब एक बार अखंडनीय मान लिया, तब उसकी चाँदी का भी उसके आलंबन से यदा-कदा भान हो ही सकता है (मृगतृष्णिका में जल का सर्वदा भास रहता है)।

उपाध्यायजी कहते हैं—"परंतु बाज़ारवालों के भावों की मीमांसा की जाय, तो इससे भी कुछ और ही नतीजा निकलता है। वस्तुतः किसी मनुष्य को झूठा इसलिये नहीं कहते कि वह कभी कुछ कहता है और कभी कुछ। उसको झूठा इसलिये कहते हैं कि वह घटना के विरुद्ध बोलता है इत्यादि।" घटना के विरुद्ध तथा 'कभी कुछ और कभी कुछ' कहने में बिलकुल भेद नहीं है। पहले कभी कुछ शब्द के मानें एक बात दूसरे कभी कुछ के मानें दूसरी बात है। इस प्रकार दो बातें यदि एक ही घटना के विषय में कही जायँगी, तो निश्चय ही घटना के विरुद्ध बोलना हो जायगा। इस संबंध में दिए हुए हाथी के उदाहरण में वही पुरानी भ्रांति है। आपने कई घटनाएँ ले लीं और कभी कुछ कभी कुछ के विरोध को मिटा दिया। यदि आप एक ही घटना को लें, तब ठीक उदाहरण ऐसे होगा—हाथी आया, यह सत्य है। फिर उसी आदमी ने कहा—नहीं, हाथी नहीं आया। अब घटना के विरुद्ध भी हो गया तथा कभी कुछ और कभी कुछ भी हो गया। इसी तरह हाथी बैठा, नहीं भी बैठा; चला गया, नहीं गया आदि में विरुद्ध भाषण करनेवाले को झूठा अवश्य कहा जायगा। यदि एक काल की क्रिया को ही आप यों कहें—हाथी बैठा, उसी क्रिया को कहें हाथी उठा, तो भी झूठ ही है। एक क्षण में उठा, दूसरे क्षण बैठा, इस प्रकार के वाक्य को संसार में कोई झूठा नहीं कहेगा।

"यदि मैं या श्रीअग्रवालजी या अन्य कोई पुरुष दिन-भर एक ही बात कहा करे और 'कभी कुछ और कभी कुछ' न कहे, तो लोग क्या कहेंगे?" इसका उत्तर यह है कि यदि घटना एक है, तो उसके विषय में दिन-भर क्या, दो-चार वर्ष भी जब कभी आपसे प्रश्न किया जायगा, आपको एक ही बात कहनी पड़ेगी। भिन्न-भिन्न घटनाओं के विषय में प्रश्न होने पर यदि आप भिन्न-भिन्न बातें न कहेंगे और एक ही जवाब देंगे, तो लोग कहेंगे कि इन्हें ताज का नगर दिखाना चाहिए। उपाध्यायजी विद्यासंपन्न हैं, इस प्रकार के मिश्रित दृष्टांत देते समय थोड़ा भी विचार करने से उन्हें स्वयं सब स्पष्ट हो जाता।

शंकराचार्य का पक्ष ब्रह्मकारणवाद है। वह बार-बार सर्वात्मभाव की ओर ले जाते हैं। नामरूप में अनंत भेदों की ओर जाना है। ये भेद नाम के अतिरिक्त और कुछ हस्ती नहीं रखते। वाचारम्भणं विकारो नामधेयं, मृत्तिकेत्येव सत्यम्। मिथ्या शब्द को लेकर जो कल्पनाएँ की थीं, वे ही दृश्यमान् के लिये भी हैं। "हम कब कहते हैं कि दृश्यमान् जगत् अविनाशी है?" विज्ञवर, आप जगत् की मेज़-कुर्सी को चाहे पृथक्-पृथक् अविनाशी न कहें, परंतु उनके एक मूल कारण प्रधान को तो अविनाशी कहते हैं, उसका लय आप नहीं मानते, उसकी स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करते हैं। यही आपके और वेदांत के अविनाशी के अर्थ में भेद है। वेदांत उस प्रकृति को भी ब्रह्म की विकृति मानता है। आप दृश्यमान् का दिखाई पड़नेवाला अर्थ लेकर केवल मिट्टी, बर्तन आदि स्थूल पदार्थों की ओर ही लक्ष्य रखते हैं। वेदांत नामरूपात्मक कहकर स्थावर से आकाश और प्राणबीजपर्यंत मूर्त-अमूर्त सब पदार्थों को ले लेता है। आपने कहा—"जो दिखाई पड़ता है, वही तो रूपात्मक है।" यह तो ठीक है। परंतु केवल इतना ही अर्थ लेने से वायु और आकाश का सन्निवेश नामरूपात्मक में आप कैसे कर लेंगे? इसीलिये हमने नामरूपात्मक में सब पदार्थों का सन्निवेश करने की दृष्टि से उस पारिभाषिक शब्द का बोलचाल के दिखाई पड़नेवाले शब्द की अपेक्षा से समर्थन किया था। शब्दों के लिये विवाद करने से सिद्धांत हानि निर्बाध बनी रहती है। दिखाई पड़नेवाले में नामरूपात्मक सब पदार्थ आ जायँ, तो दृश्यमान् के लिये उसे ही रखिए, हम सहमत हैं। दृश्यमान् से केवल स्थूल पदार्थों का ग्रहण बालबुद्धि है, नामरूपवाले सब पदार्थों (All objects having for theirself name and form) का ग्रहण दर्शन सम्मत है। प्रसंगानुकूल वेदांत में स्थूल पदार्थों के लिये भी दृश् धातु आई होगी, इसमें क्या हानि है।

हमने अपने पूर्व लेख में वर्तमान विज्ञान की गति का उल्लेख किया था। वह अद्वैत की ओर गति-शील है। सौ से अधिक मूल-तत्त्व (Elements) मानने के दिन गए। अर्थात् इनके नानात्व की परेशानी मिट गई और मूल द्रव्य एक ही है, यह इलेक्ट्रन के ज्ञान से सिद्ध हो गया है। इतना एकत्व मालूम हुआ कि सब पदार्थों का कारण ईथर है, जो प्रचंड शक्तिमय है। अब दूसरी गति एकत्व से अद्वैत की ओर ही हो सकती है। विज्ञान का अगला क़दम उन्नति के मार्ग में और कुछ

हो ही नहीं सकता। मैटर एक है, शक्ति दूसरी है, अभी तक विज्ञान इनके अभेद को प्रयोगगम्य नहीं बना सका। पर खोज का विषय यही है कि क्या अंत में ये दोनों एक ही हैं। यदि एक सिद्ध हो सकें, तो अद्वैत तो मिल जायगा, पर वह अद्वैत जड़ाद्वैत होगा; क्योंकि ब्रह्म या चेतन का अद्वैत विज्ञान की प्रयोगशाला का विषय नहीं। दार्शनिक उस अद्वैत में सृष्टिकामना आदि प्रक्रियाएँ होने के कारण उसे कामना-समर्थ, इसलिये चेतन कहता है, अनुभव उसके आनंदमय स्वरूप को भी पहचान लेता है। रही प्रयोगशाला टूटने की बात—वेदांत से यदि शंकर ऐसा परिणाम निकालते, तो उनकी लेखनी भी टूट जाती; व्यवहार में सबको सत्य और नाना मानकर वह काम न करते, तो भाष्य-लेखन और पर-पक्ष-निराकरण की क्रियाओं का जन्म ही कहाँ होता। जिसने जन्म लिया है, वह इन अध्यासों से एक क्षण-भर के लिये भी नहीं बच सकता।

कारण से जो हमारा तात्पर्य है, उसे हम कई बार ऊपर लिख चुके हैं—निमित्त और उपादान की अभिन्नता (Non-separateness of Efficient and Material causes) वेदांत को इष्ट है। रस्सी के साँप दिखने का कारण, जैसा आप लिखते हैं, देखनेवाले का भ्रम नहीं है। कहना यों चाहिए कि रस्सी में साँप दिखना ही भ्रम है। उस भ्रम का कारण कुछ और है। वह प्रमाता प्रमाण प्रमेय दोष से इतर मन्द प्रकाश है। इसी प्रकार ब्रह्म पक्ष में वह अविद्या-नामक अध्यास है। यह एक देश में होता है या सर्वदेश में, ब्रह्म सावयव है या निरवयव, अध्यास के अणुमात्र भी दोष ब्रह्म में लिप्त होते हैं या नहीं, ब्रह्म में विषमता और निष्ठुरता है या नहीं—आदि जिन आक्षेपों के पुलिंदे को खोलने की धमकी-मात्र उपाध्यायजी ने दी है, उसी को शारीरक मीमांसा में शंकराचार्य ने स्वयं खोलकर उसका निराकरण भी कर दिया है। पाठक उस पुलिंदे को खुला हुआ देखना चाहें, तो शांकर-भाष्य में देख लें। पर जो सिद्धांत त्रिकाल में भी अपोह्य नहीं है, वह यह है—चेतनमेकमद्वितीयं ब्रह्म क्षीरादिवद्देवादिवच्चानपेक्ष्य बाह्यसाधनं स्वयं परिणाममानं जगतः कारणमिति स्थितम्।२।१।२६।

उपाध्यायजी ने हमारे लेख का उद्धरण देते हुए लिखा है कि हमने शब्दों की भूलभुलैया उत्पन्न कर दी है। बार-बार पढ़कर देखने से भी उसका अर्थ हमें स्पष्ट नहीं मालूम होता, विशेषतः उसके लिये जिसने पूर्व प्रसंग में आई हुई स्वप्न और जाग्रत् की मीमांसा को पढ़ लिया है। उपाध्यायजी लिखते हैं—"शंकर को कितना दृष्टान्त अभीष्ट था, यह तो उनके सिद्धांतों तथा ग्रंथों से स्पष्ट ही है।" पर पाठक इसे शंकर के शब्दों में ही सुन लें, तो अच्छा हो—

यदुक्तं बाह्यार्थापलापिना स्वप्नादिप्रत्ययवज्जागरितगोचरा अपि स्तंभादिप्रत्यया विनैव बाह्यार्थेन भवेयुः प्रत्ययत्वाविशेषादिति। तत्प्रतिवक्तव्यम्। अत्रोच्यते—न स्वप्नादिप्रत्ययवज्जाग्रत्प्रत्यया भवितुमर्हन्ति। कस्मात् वैधर्म्यात्। वैधर्म्यं हि भवति स्वप्नजागरितयोः।

अर्थात् बाह्य अर्थों को असत् कहनेवालों की यह दलील है कि स्वप्न में जिन पदार्थों की प्रतीति होती है, वे पदार्थ मिथ्या हैं। जागरित में भी पदार्थों की प्रतीति होती है। प्रतीति दोनों में समान धर्म हुआ, इसलिये जाग्रत् के स्तंभादिक भी स्वप्न के स्तंभ की तरह पदार्थों की बाह्य स्थिति के बिना ही हैं। इस पर शंकर कहते हैं कि बात ऐसी नहीं है—स्वप्न और जाग्रत् में भेद है। भेद क्या है, यह उन्होंने आगे बताया है—(१) बाधाबाध और (२) स्मृति-उपलब्धि। जब आदमी स्वप्न से जागता है, तब उसके स्वप्न के अनुभव बाधित हो जाते हैं। लेकिन जागरित दशा के स्तंभादि किसी अवस्था में भी बाधित नहीं होते और फिर स्वप्न में पदार्थों की स्मृतिमात्र (Mental states) होती है। जाग्रत् में उपलब्धि होती है। स्मृति और उपलब्धि का अंतर प्रत्यक्ष ही है, अर्थात् पदार्थ का एक में विप्रयोग और दूसरे में संप्रयोग है। शंकर का अभीष्ट ज्ञात हो गया। वह स्वप्न की तरह जाग्रत् के पदार्थों को मिथ्या नहीं कहते। पदार्थों की बाह्य स्थिति उन्हें स्वीकृत है। पर परमार्थ दृष्टि से वह उनके मूल में एक अमृत-तत्त्व को मान रहे हैं; क्योंकि बिना कारण के कार्यों की पृथक् स्थिति क्षण-भर भी नहीं रह सकती। इस प्रकार अनन्यत्व की ओर शंकर का लक्ष्य है। नाशवान्, अस्तित्वविहीन विवर्त और परिणाम इन सब शब्दों के समन्वय का विवरण हम ऊपर कर चुके हैं। उपाध्यायजी लिखते हैं—"हमारा प्रश्न तो यह है कि जो चीज़ दिखाई पड़े अर्थात् जो नाम-रूपात्मक हो, उसको हम विवर्त कैसे कहें?" हमने दृश्यमानत्व को विवर्त का हेतु अनेक स्थानों पर सिद्ध किया है। सृष्टि को चेतन ब्रह्म की दृष्टि ही से बार-बार विवर्त कहा गया है।

आप तरंग को विवर्त कहते हैं। जल की एक आकृति विशेष तरंग रूप में दिखाई पड़ती है, जिसका बाह्य रूप है। परंतु समुद्र से अलग क्षण-भर के लिये भी तरंग नहीं। पर तरंग अपने पक्ष में सत्य है। विवर्त के ऐसे ही अर्थ को ब्रह्म और जगत् पक्ष में भी घटाते हैं। नामरूपात्मक को एक मूल-प्रकृति की अपेक्षा से आप भी विकृति मानते हैं। नामरूप को परिणाम कहने में तो आपको भी बाधा नहीं है। अब यदि उपादान और निमित्त कारणों को अभिन्न सिद्ध कर दिया जाय, तो जिस नाम-रूप को केवल उपादान की दृष्टि से आप परिणाम मान चुके हैं, उसे ही अभिन्न निमित्तोपादान (या उपहित चेतन) की दृष्टि से विवर्त कहने में कुछ विरोध नहीं पड़ता। यही मूल-प्रश्न है। स्वाश्रयस्व विषय पक्ष को स्वीकार करते हुए शंकराचार्य ने इस अभिन्नता और अनन्यत्व को भली भाँति दिखाया है।

उपाध्यायजी ने ९९ और एक फ़ी सदी का विभाग करके विचित्र तर्क की प्रतिष्ठा की है। '९९ मनुष्यों को रस्सी, रस्सी दिखती है, एक को साँप; अब किसकी बात मानें ?' प्रथम तो ९९ की ओर जाना ही नियम नहीं है। एक मनुष्य अभय है, ९९ कायर, हम किसका पक्ष लें। उपनिषद् कहता है—अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि। स्वानुभव की अवस्था अभय की अवस्था है, उसमें ब्रह्म निष्पन्न स्वयंसिद्ध ज्ञात हो जाता है। तदितर जन ब्रह्म-ज्ञान से शून्य हैं, अतएव परमार्थ विषय में उनकी बात का प्रमाण नहीं। पर रस्सी में साँप का भ्रम तो सौ में सौ मनुष्यों को अपने जन्म में भी कभी न कभी हुआ ही है। ज्ञानी को ज्ञान हो जाने के बाद भी रस्सी में साँप का भ्रम क्या नहीं होता ? किन्हीं-किन्हीं को यह भ्रम कई बार हो चुका है और होता रहेगा। रस्सी में जो आवरण है, उसका भंग तब होता है, जब हमारे अंतःकरण की वृत्ति रज्जु-आकार से उसकी प्रतीति कर लेती है। एक बार ऐसा कर चुकने के बाद भी मंद प्रकाश तिमिरादि से पुनः भ्रम हो जाता है। व्यवहार-प्रतीति ज्ञानी-अज्ञानी सभी को हो रही है, पर दोनों के व्यवहार-जन्य कर्मों के फल में बड़ा अंतर है। एक नानात्व जड़ वस्तुओं में समूढ़ है, दूसरा नानात्व मोह से मुक्त होकर अद्वैत अमृत में रम रहा है। उपाध्यायजी ने ९९ और एक को अलग-अलग बाँटते हुए प्रथम ही भूल की है। ९९ पुरुष उस समय के ले लिए जब उन्हें सर्प का भ्रम नहीं है और १ पुरुष उस अवस्था का लिया जब उसे भ्रम है। असल बात तो यह है कि भ्रम का समय भी उन सौ मनुष्यों के जीवन में है, और भ्रम से मुक्ति का समय भी सबके लिये है। आपको जो नियम बनाना हो, पूरे शतसंख्यक के अनुभव से ही बनाइए। व्यवहार में सौ फ़ी सदी ज्ञानी-अज्ञानी सभी बाह्य अर्थों की सत्ता की प्रत्यक्ष उपलब्धि कर रहे हैं। परमार्थ में सौ फ़ी सदी का अनुभव (यदि उसे प्राप्त करने की सभी कोशिश कर लें) चेतन ब्रह्म के ही आनंद को सत्य अमृत वस्तु देखेगा। ध्यान रहे कि अनुभव शब्द से उठते-बैठते सोते-जागते हर वक़्त का सब तरह का 'तजुर्बा' नहीं ले लेना है, अनुभव का वेदांत-गत अर्थ स्वानुभूति या आत्मज्ञान है। केवल पुस्तक पढ़कर जो ब्रह्मैकत्व या सर्वात्मभाव की बात कहते हैं, उनका अनुभव भी यहाँ अभिप्रेत नहीं है; क्योंकि चित्र-लिखित गौ को जिसने देखा है, उसका गौ-विषयक अनुभव प्रमाण नहीं है। इसलिये जो वस्तुतः ज्ञानी है—और आत्मानुभव जगत् में सबको प्राप्त हो सकता है—उन्हीं का अनुभव मानने योग्य है।

उपाध्यायजी कहते हैं—"जगत् विनाशशील है; क्योंकि इसका आदि और अंत है। परंतु विवर्त वह है, जिसका न आदि हो, न अंत।" यदि इतने विरोध में आपका विवाद है, तो ज्ञात होना चाहिए कि शंकर ने जगत् को भी अनादि-अनंत कहा है। प्रलय और सृष्टि एक ही सिक्के के दो रूप हैं। वह भी प्रवाह है। प्रलय में यह कौन कह सकता है कि जगत् का अंत हो गया ? अध्यास अनादि-अनंत है, इसके लिये किसी सूत्र का भाष्य उठाने से पहले ही शंकर ने भूमिकारूप में लिखा है—

एवमयमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासो मिथ्या प्रत्ययरूपः सर्वलोकप्रत्यक्षः।

अर्थात् अध्यास का सभी लोगों को प्रत्यक्ष है, वह अनादि और अनंत है। यह आद्य अध्यास नैसर्गिक है, ब्रह्म के स्व-भाव से ही प्रवृत्त हो रहा है। श्वेताश्वर उपनिषद् में इसे ही 'स्वभाविकी ज्ञानबलक्रिया' कहा गया है। यह देवादिदेव की आत्म-शक्ति स्वगुणों से ही निगूढ़ है। परिपूर्णशक्तिकं ब्रह्म, न तस्यान्येन केनचित्पूर्णता संपादयितव्या।२।१।२४।—अर्थात् ब्रह्म स्वयं परिपूर्ण शक्ति है, कुम्हारादिक की तरह दंडचक्र आदि

अन्य साधनों से उसकी परिपूर्णता करने की आवश्यकता नहीं।

अब जगत् का अनादित्व सुनिए—

यथा च कारणं ब्रह्म त्रिषु कालेषु सत्वं न व्यभिचरत्येवं **कार्यमपि जगत्** त्रिषु कालेषु सत्वं न व्यभिचरति।२।१।१६।

अर्थात् कारण ब्रह्म तीनों कालों में सत्तायुक्त रहता ही है, वह कारण है। कारणात्मक जो कार्य है, वह भी तीनों कालों में रहता है, चाहे सृष्टि में हो चाहे प्रलय में। शंकर ने गीता-भाष्य (१३।१६) में यहाँ तक कहा है कि यदि जीव और जगत् ये दो ईश्वर की प्रकृति नित्य न हों, तो ईश्वर का नित्य-ईश्वरत्व ही खंडित हो जाय। तस्य नित्यसिद्धस्य ईश्वरस्य सृष्टि-स्थिति-संहृति-विषयं नित्यज्ञानं भवतीति १।१।५। अर्थात्—नित्यसिद्ध ईश्वर का सृष्टि-स्थिति और संहार-विषयक ज्ञान भी नित्य ही रहता है। संसार अनादि है (अनादित्वात् संसारस्य २।१।३५—The creation is described in the Vedanta as not an event in time done once for all—कोकिलेश्वर शास्त्रीकृत अद्वैतफिलासफी, पृ० ४)। उत्पत्ति से पूर्व वह कौन-सा विषय है, जो विषयी के ज्ञान में रहता है? इसका उत्तर है—व्याचिकीर्षिते नामरूपे—अर्थात् वे नाम-रूप जिनको उत्पत्ति के समय व्याकृत होना है। पहले और पीछे का प्रश्न केवल दार्शनिक (Logical) है, यह हम पूर्व में बता चुके हैं। अतात्विक और नाशवान् का जो समन्वय ऊपर बताया गया है, वही नाशवान् और कल्पित का है। स्थूल पदार्थों की दृष्टि से व्यवहार में इन दोनों के अर्थों में भेद भी हो सकता है। कपास को दही समझना मृगजल की कोटि का ही भ्रम है। इस प्रकार के भ्रम में शशविषाण या आकाश-कुसुम के भ्रम से विलक्षण प्रतीयमान वस्तु नितान्त असत् नहीं है, क्योंकि आलंबन-सहित है। न नितांत सत है; क्योंकि सत्य ज्ञान से मिथ्या हो जाती है। इसलिये मिथ्या या अनिवर्चनीय प्रतीतिवाली है। आप जिसको कल्पना कहते हैं, वह अभाव से भाव की उत्पत्ति की ओर लक्ष्य करती है, जो शून्यवाद का रूपांतर है। हम भी इसे स्वीकार करते हैं कि वेदांत में कल्पित का यह अर्थ नहीं है। जगत् को अतात्विक कहकर हम आपको शून्य (Void) में नहीं छोड़ते, बल्कि उसके मूल में एक चेतन पदार्थ को भरा हुआ देखते हैं, इसलिये चेतन को कारण मानना 'बच्चोंवाली बात' कैसे हो गई? अविद्या के विषय को हमने पूर्व-लेख में पृ० ४८५ से ४८६ तक स्पष्टता के लिये विस्तार से समझाया था। उपाध्यायजी की अपील पाठकों से है और हमारी भी कि आप हमारे इस प्रकरण को कृपया फिर पढ़ लें, तो प्रसंग का पता चल ही जायगा। उपाध्यायजी लिखते हैं—"विषय का अर्थ यहाँ विस्तार (स्कोप) नहीं है।" शंकर ने इसी प्रकरण में कई बार विषय और विषयी इन शब्दों को प्रयुक्त किया है। विषयी को अँगरेज़ी में Subject और विषय को Object कहते हैं। पर ये सब्जेक्ट आब्जेक्ट हैं कौन? विषयी को शंकर ने अस्मत् प्रत्यय गोचर चिदात्मा अर्थात् चैतन्य कहा है। विषय को युष्मत् प्रत्यय गोचर कहा है। ब्रह्म से लेकर ब्रह्मांड तक के दो भेद हैं—मैं और तू। यही मैं-तू का भेद द्वैत है, अकेला 'मैं' अभेद है। इसलिये 'तू' में सारे जगत् का सन्निवेश है। यह अनंत-विस्तार-मय 'तू' अविद्या के कारण होता है, इसी को शंकर ने अविद्यावत् (Dependent on Avidya) कहा है। इस अविद्यावत् का विस्तार क्या है, तू से वाच्य जो कुछ है वह सभी इसके अंदर आ जाता है। इसलिये वेदशास्त्र और पुराण, प्रत्यक्ष अनुमान और उपमान, व्यासजी, शंकर और उपाध्यायजी ये सब अविद्यावत् हुए। इसी अर्थ को विवृत करने के लिये हमने विषय का अर्थ स्कोप किया था। इस अर्थ में उपाध्यायजी रत्ती-भर भी सिद्धांत की हानि नहीं दिखा सकते। अपनी इस प्रत्यालोचना में उपाध्यायजी ने अविद्या शब्द के 'बाज़ारू अर्थ' और 'शांकरी अर्थ' दोनों ही दिए हैं। हम पूछते हैं कि यदि आप इन दोनों में कुछ भेद समझते हैं, तो पहला अर्थ देने की आवश्यकता ही क्या थी? शंकराचार्य ने उपोद्घात में स्पष्ट लिखा है—एवं लक्षणमध्यासं पण्डिता अविद्येति मन्यन्ते—अर्थात् पूर्व लक्षणवाले अध्यास को पंडित अविद्या मानते हैं। अज्ञान, अविद्या, माया, प्रकृति, शक्ति, ये सब एक वस्तु के नाम हैं—स्वरूप का आच्छेदन करनेवाले को अज्ञान कहते हैं। ब्रह्मविद्या से जिसका बाध हो, वह अविद्या है। देशकालादिक सामग्री बिना दुर्घट पदार्थ की अपनी इच्छा से उत्पत्ति करना माया है। सृष्टि के उपादान-योग्य तमोगुण-प्रधान स्वरूप को प्रकृति कहते हैं। वह कदापि स्वतंत्र नहीं है, चेतन के आश्रित ही है। इससे शक्ति

भी कही जाती है (साधु निश्चलदासकृत विचार-सागर, पृ० १६७)। उपाध्यायजी से हमारा निवेदन है कि कृष्णपक्ष और अँधेरे पाख में वस्तुस्थिति की दृष्टि से हम भी कोई भेद नहीं मानते। अध्यास या अविद्या एक ही है। हमको मतलब तो अध्यास के लक्षण से है। उसको शंकर ने विस्तार-सहित दे ही दिया है। शंकर के 'अतस्मिन् तद्बुद्धि' को उपाध्यायजी भी मानते हैं, और हम भी। पर इसको मानते हुए भी (शंकर के युक्ति-प्राबल्य की प्रशंसा करते हुए भी) आपने शंकर के ही—कथं पुनरविद्यावद्विषयाणि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि चेति—वाक्य और उसके भाष्य को अपने शब्दों में घसीटकर उलट-पुलट डाला है, यह दुर्भाग्य है। उसको आपने शंकर की ही रीति से समझने का बिलकुल प्रयत्न नहीं किया। आपके आक्षेप का निचोड़ यह है—शंकर कहते हैं, वेदशास्त्र तथा प्रत्यक्षादि प्रमाण अविद्या के आश्रित हैं, भला यह कैसी बात। वेद भी अविद्यावद् और प्रमाण भी अविद्यावद् ? इसका विस्तृत विवेचन पहले लेख में है, संक्षेप में फिर सुनिए—मनुष्य में आत्मा और देह है। आत्मा जब देह में बसने आई, उसी क्षण उसने देह के धर्मों का अध्यास किया। उसमें मैं और मेरा, यह प्रतीति हुई। चेतन आत्मा को भोजनादि कार्यों की अनध्यस्त अवस्था में कुछ आवश्यकता नहीं। क्षुधा पिपासा प्राण के धर्म है, आत्मा प्राण नहीं, इसलिये भोजन का करना न करना आत्मा के लिये एक-सी बात है। पर जब देह का आवरण हुआ, तब आहार से लोग आत्म-प्रीणन समझते ही हैं। दूसरा उदाहरण शंकर ने ही दिया है—मान लीजिए मेरे सामने वेद-पाठ हुआ, मैं उसका प्रमाता साक्षी हूँ। बिना कर्णइंद्रिय का अपने में अध्यास किए प्रमाता होना असंभव है। इसलिये असंग आत्मा प्रमाता हो ही नहीं सकती। इंद्रियों के और देह के धर्मों का आत्मा द्वारा धारण करना अध्यास ही है; क्योंकि ये धर्म उसमें त्रिकाल में भी नहीं हैं और आत्मा के देह छोड़ देने पर अकेले देह में भी ये नहीं रहते, इसलिये प्रमातृत्वादि बुद्धि अतस्मिन् तद्बुद्धि अथवा आत्मा में अविद्याकृत अध्यास ही हुई। जब आत्मा परमार्थपक्ष में प्रमाता नहीं हो सकती, तब प्रमाण भी कहाँ रहे। व्यवहार-पक्ष में जब शरीर धारण किया है, तब इंद्रियों से तदनुरूप कार्य करना तो ज्ञान के लिये भी इष्ट ही है। शंकर ने यह कब कहा है कि आँखों से हम देखना बंद कर दें, पर वह चाहते हैं कि नानात्व का त्याग कर सर्वभूतेषु आत्मानं, आत्मनि सर्वभूतानि की दृष्टि से देखें। उन्होंने सैकड़ों बार यह कहा है कि लोक के अनुभव में प्रमाण सोलह आने ठीक हैं, शरीर धरना भी लोक-स्थिति का ही एक रूप है, उसमें रहकर सुवर्ण की खोज में लोग सोने की खान में जाते हैं, मिट्टी से कुंडल कोई नहीं बनाने बैठता। ऐसा इसलिये कि करनेवाले और सामग्री दोनों ही एक अवस्था का वस्तुएँ हैं। अपने तर्क में स्वप्न और जाग्रत् की तरह यहाँ भी दो दशाओं की मिलावट आप नहीं कर सकते। वेद क्यों अविद्यावद् है ? वेद की आज्ञा है—ब्राह्मण यज्ञ करे। आत्मा में ब्राह्मणत्व और शूद्रत्व कहाँ रक्खा है, इसलिये जब तक किसी में ब्राह्मणत्व का अभिमान न मान लिया जाय, वेद की आज्ञा व्यर्थ हो जाती है। वेद आदि शास्त्रों का ज्ञान देहत्व, ब्राह्मणत्व, स्वर्गाभिलाषत्व आदि अनेक धर्मों की आत्मा में कल्पना करने के बाद ही चरितार्थ हो सकता है, यही कल्पना अध्यास या अविद्या है। उसको पुरस्कृत करके ही वेद की सार्थकता है। उपाध्यायजी कहते हैं कि अथातो ब्रह्म जिज्ञासा वाले वेदांतशास्त्र को या वेद को, जिसमें ब्रह्म का निरूपण है, आप अविद्यावद् मानिए,तो उससे आपका ब्रह्म-ज्ञान सत्य कैसे हो जायगा। शंकर ने भी इस प्रश्न को उठाया है—विपक्षी कहता है—

ननु एकत्वैकान्ताभ्युपगमे नानात्वाभावात्प्रत्यक्षादीनि लौकिकानि प्रमाणानि व्याहन्येरन्निर्विषयत्वात्, स्थाण्वादिष्विव पुरुषादिज्ञानानि। तथा विधिप्रतिषेधशास्त्रमपि,...मोक्षशास्त्रस्यापि शिष्यशासित्रादिभेदापेक्षत्वात्तदभावे व्याघातः स्यात्। कथं चानृतेन मोक्षशास्त्रेण प्रतिपादितस्यात्मैकत्वस्य सत्यत्वमुपपद्येतेति।...कथं तु असत्येन वेदान्तवाक्येन सत्यस्य ब्रह्मात्वस्य प्रतिपत्तिरुपपद्येत ?

अर्थात् यदि आपके हिसाब से बिलकुल एकत्व मान लें, तो नानात्व के अभाव से प्रमाणों का नाश हो जाय; क्योंकि प्रमाणों के लगने के लिये विषय तो रह ही नहीं गया। इसी तरह कर्मकांड भी निर्विषय हो जायगा। शिष्य और गुरु के भेद के बिना कौन किसको मोक्षशास्त्र पढ़ाएगा, उसकी ज़रूरत ही न रहेगी। फिर

मोक्षशास्त्र और वेदांत-वाक्य तो अनृत हो गए, उनसे सत्य ब्रह्म की प्राप्ति कैसे होगी ? इसका थोड़े में उत्तर यह है कि एकांत एकत्व (Absolute unity) जब तक शरीर का अध्यास है, तब तक संभव ही नहीं, फिर ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञान के होने से पहले तक भेदभाव है, उसके बाद शिष्यादि का भाव बचता ही नहीं। दो ज्ञानियों का परस्पर अविद्याकृत भेद मिट ही जाता है। वेदांत-वाक्य असत्य इस दृष्टि से हैं कि वे शब्दमय हैं और अस्ति भाति प्रिय अर्थात् सच्चिदानंद ब्रह्म की दृष्टि से शब्द अर्थात् नाम अतात्त्विक है, क्योंकि अनिर्वचनीय को, जिसे श्रुति नेति-नेति ही कहकर चुप हो रहती है 'ऐसा है, ऐसा है' यह कहना एक प्रकार से अनृत ही है। सत्य जो ब्रह्म, अनृत जो तदितर सब कुछ, इन दोनों को मिथुनीकृत्य अर्थात् मिलाकर लोकव्यवहार चल ही रहा है। दार्शनिक दृष्टि से उपाध्यायजी का खंडन आत्मा के लिये अतात्त्विक है, इसलिये उसका यह समाधान भी अनर्घ्य है। दूसरी बात यह है कि वेदांत, शास्त्र, उपनिषद् और संतवाणी ही एक ऐसा साधन है, जिससे आत्मा के स्वरूप की शिक्षा मिलती है, उसी से अविद्या-निवृत्ति का फल संभव है, और कोई विद्या तो जगत् में ऐसी है नहीं, जिससे इस विषय के बोध की लेश भी उपलब्धि हो सके।

उपाध्यायजी पुनः पूछते हैं—"एक वस्तु में दूसरी वस्तु का धर्म मानना ही अविद्या हुई। जैसे रस्सी को साँप मानना या चींटी को घोड़ा मानना, या बर्फ़ को आग मानना। और शांकर मत में प्रत्यक्षादि प्रमाण अविद्या-जन्य हैं, अतः यह कैसे विश्वास के योग्य हो सकते हैं ? क्या बर्फ़ को आग मानकर या सीपी को चाँदी मानकर जो व्यापार करेगा, उससे कुछ लाभ हो सकेगा ?" यहाँ उपाध्यायजी अंतिम या मूल सत्य को भुला देते हैं और समझ लेते हैं कि केवल सीप की चाँदी मिथ्या है, खान की चाँदी सत्य है। खान की चाँदी भी परमार्थपक्ष में मूल सत्य नहीं है, यही तो वेदांत का कथन है। सीप की चाँदी का व्यवहार भी तब सत्य होता, जब हमें ख़रीदने और बेचनेवाले दोनों ही उस काल्पनिक जगत् में विश्वास रखनेवाले मिल सकते। हमें तो खान की चाँदीवाला संसार मिला है, उसी के प्राणी हम भी हैं, जहाँ वस्तुओं की प्रतीति का साधन स्मृति नहीं उपलब्धि है। इसलिये उस व्यावहारिक जगत् में खान की चाँदी काम की है। पर जैसे सीप की चाँदी का असली चाँदी के सामने मूल्य नहीं, वैसे ही ब्रह्मपक्ष में जहाँ चेतन ही एक सत्य है, चाँदी आदि सर्व विकृति का भी कुछ मूल्य नहीं। जब आप कहते हैं कि "जो हमको सूर्य प्रतीत होता है, वह सूर्य नहीं है, कुछ और है, फिर इस ज्ञान की उपयोगिता ही क्या ?" तब कृपया यह मत भूलिए कि 'कुछ और का मतलब यह है कि ब्रह्म ही का विवर्त है। जिस दृष्टिबिंदु को लेकर हम नेह नानास्ति किंचन देखने लगें, उसके मूल्य की जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। वही तो एक तत्व है, जिसके ज्ञात होने पर और कुछ जानना शेष नहीं रहता, तथा जिसका ज्ञान महती संप्राप्ति और अज्ञान महती विनष्टि है। 'रेत के जल से बर्फ़ जमाने, जुगनू की आग से फूस जलाने और दही की फुटक से चर्खा कातने' की अनर्गल बातें तो वेदांत के विरुद्ध तब कही जा सकती थीं, जब वह बाह्य जगत् की उपलब्धि का अपलाप करके किसी भ्रम के जगत् को सत्य कहता होता। पर उस आचार्य को प्रणाम है, जो स्पष्ट-से-स्पष्ट शब्दों में यह लिख रहा है—

सूत्रकारोऽपि परमार्थाभिप्रायेण तदनन्यत्वमित्याह । व्यवहाराभिप्रायेण तु स्याल्लोकवदिति महासमुद्रस्थानीयतां ब्रह्मणः कथयति । अप्रत्याख्यायैव कार्यप्रपञ्चं परिणामप्रक्रियां चाश्रयति सगुणेषूपायेषूपयोक्ष्यते इति ।२।१।१४

अर्थात् सूत्रकार ने भी केवल परम अर्थ के विचार को लक्ष्य में रखकर जगत् का उससे अनन्यत्व कहा है। व्यवहार में तो स्वयं व्यासजी ने ही 'स्याल्लोकवत्' सूत्र में महासमुद्र से ब्रह्म की तुलना की है और कार्यप्रपंच का प्रत्याख्यान न करके परिणाम-प्रक्रिया को स्वीकार किया है। उपाध्यायजी वेदांत में सब अतात्त्विक (Unreal) देखते हैं, उसके तत्त्व (Realistic element) को नहीं देखते। अध्यास के फलरूप प्रत्यक्ष आदि निरुपयोगी हैं या नहीं—इसका उत्तर यह है कि उपादान का परिणामी कार्य कारण से कुछ विशेष धर्म अपने में उत्पन्न करता है, अन्यथा कारण और कार्य यह भेद ही न हो सके। उन्हीं विशेष धर्मों से जो कार्य का स्व-भाव हैं कार्य की प्रतीति होती है। यदि ऐसा न हो, तो एक मिट्टी से बने विविध भांडों में कुछ मूल्यभेद न रहे। पर भेद है ही, अर्थात् प्रत्येक का विशेष धर्म उसके साथ है। इसी तरह

मृगजल का भी विशेष धर्म है। उसका भी उपयोग, अच्छा या बुरा, थोड़ा या बहुत, निकल ही आवेगा, विशेष धर्म की सार्थकता तभी होगी। जिसने मृगजल देखा नहीं, उसको उसका ज्ञान कराने में कुछ उपयोग है। यदि कोई व्यक्ति ऐसा हो जाय कि वह मृगजल के सौंदर्य को देखकर प्रसन्न होता रहे, तो उसका उपयोग हो ही गया। सोने के गहने की भी जो एक आकृति एक मनुष्य को पसंद हो, वह दूसरे को व्यर्थ हो सकती है, यद्यपि मूल सोना दोनों के लिये समान स्पृहणीय है। ब्रह्म से सोने का विवर्त कहनेवाला मनुष्य अभाव से भाव नहीं कहता; क्योंकि ब्रह्म अभाव नहीं, सद्भाव है। अध्यास अख़्तियारी है या ग़ैर-अख़्तियारी—यह प्रश्न सृष्टि-प्रवाह को अनादि मानते हुए उत्पन्न ही नहीं होता। यदि कोई ऐसा समय होता, जब जगत् की असत्ता की कल्पना की जा सकती, तो ज़रूर यह पूछने की बात थी कि ब्रह्म ने अपने को सृष्टि रूप में व्यक्त ही क्यों होने दिया। फिर यदि संसार ब्रह्म की सत्ता से स्वतंत्र सत्तावाला कहा जाय, तभी आप ब्रह्म की परतंत्रता का प्रश्न उठावें अन्यथा नहीं। यहाँ तो चेतन के स्व-भाव में ही यह शामिल है कि अध्यास हो, अर्थात् वह सृष्टि चले, जिस सृष्टि में अनादिगुण के कारण पौर्वापर्य का प्रश्न उठता ही नहीं। परंतु अध्यास-आत्मक सगुण ईश्वर (Immanent) से परिशिष्ट निर्गुण ब्रह्म (Transcendental) भी रहता ही है। एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः। उपाध्यायजी प्रश्न उठाते हैं—"क्या ग़लतियाँ भी क्रमबद्ध हुआ करती हैं ?" एक ग़लती करने के बाद जो उसका संतान या विस्तार है, वह निश्चय ही पहली ग़लती का फल होने से उससे संबद्ध ही चलता रहता है। हाँ, दो जुदा हस्तीवाली ग़लतियों में कोई क्रम या संबंध नहीं देख पड़ेगा। इसका सार यह कि ब्रह्म के जिस अध्यास की हम चर्चा करते हैं, वह नाना नहीं, एक है। उसी एक मूल अध्यास के परिणाम का सब विकास है। आपके दिए हुए उदाहरण में कुर्सी पर बैठने और लिखने में क्रमबद्ध संबंध क्या है ? कुर्सी पर बैठकर लिखना ही अनिवार्य नहीं है, खाना भी खाया जा सकता है। लेख लिखकर समाचार-पत्र में भेजना अनिवार्य नहीं है, वह घर में भी पड़ा रह सकता है। इसलिये आपके जोशीले उदाहरण में सार बात कुछ नहीं है। जगत् में जिस अध्यास की हम चर्चा करते हैं, उसके बाद के सब परिणामों में हमें अनिवार्य कार्यकारण भाव देख पड़ता है।

उपाध्यायजी पूछते हैं—"ज्ञानी कौन है......उसको प्रत्यक्ष आदि न होंगे।" आत्म और अनात्म के विवेक को जाननेवाला ज्ञानी है, नाना रूपों में एक तत्व का दर्शन करनेवाला ज्ञानी है। एकत्व का ज्ञान होते हुए भी ज्ञानी पुरुष को देह रहते प्रत्यक्षादि का ज्ञान अवश्य होता रहेगा ; केवल अंत में वह अमृत तत्व में मिल जायगा। (यस्माद्भूयो न जायते)। आत्म-अनात्म के विवेक को जीव जब समझ लेता है, तब उसकी इंद्रियाँ भी तदनुरूप ही आचरण करने लगती हैं। इंद्रियाँ जीव की करण हैं, इससे जीव की वृत्ति का उनके साथ घनिष्ठतम संबंध है। यह हमारे ऊपर व्यर्थ का दोष लगाना है कि हम इंद्रियों के विकास तथा शिक्षण से रुष्ट हैं। हम तो इंद्रियों को उस लक्ष्य की साधना में लगाने के इच्छुक हैं, जहाँ ज्ञान के सूर्य से तिमिर रहता ही नहीं। अपने व्यवहार में ज्ञानी सदा यही कहता है कि मैं आँख से देखता हूँ। देखना-रूप धर्म के लिये तो विवश होकर आत्मा में आँख का अध्यास करना पड़ेगा। किंतु जब दर्शन की रीति से 'मैं देखता हूँ' इस वाक्य की विवेचना कराई जायगी, तब अवश्य ही नेत्र और आत्मा के अन्यत्व की ओर ध्यान दिलाया जायगा।

अब विवेक पद को लीजिए। जो व्यक्ति सहृदयता से एक बार भी समझने की कोशिश न करे, उसे त्रिकाल में भी नहीं समझाया जा सकता। पूज्य उपाध्यायजी अपने प्रसंगवित् होने का दावा करते हैं और इस प्रकार की अप्रामाणिक बात लिखते हैं—"डंडे को अपने शरीर का अहितकर और घास को उस शरीर का हितकर समझना "विवेक" है या "अविवेक।" इसमें वि पूर्वक विच् धातु लगता है या नहीं। आपके मत में विच् धातुवाला विवेकी पुरुष क्या करेगा ? यदि कोई डंडा लेकर आवे, तो वह कहेगा...डंडे से मेरे शरीर को कोई हानि नहीं होने की।" उपाध्यायजी का मतलब यह है कि शंकर भी घास की ओर लपकने को विवेक और डंडे से भागने को अविवेक कहते हैं, पर शंकराचार्य हाथी पर चढ़कर जिस बात की घोषणा करते हैं, उसे उपाध्यायजी नहीं सुनते। यथा—

पश्वादीनां च प्रसिद्धोऽविवेकपुरःसरः प्रत्यक्षादिव्यवहारः। तत्सामान्यदर्शनाद् व्युत्पत्तिमतामपि पुरुषाणाम् प्रत्यक्षादि-व्यवहारस्तत्समान इति निश्चीयते।

अर्थात् पशुओं का प्रत्यक्षादि व्यवहार अविवेककृत है।

अब भी न-जानें उपाध्यायजी इस बात को मानेंगे या नहीं कि शंकर के शब्दों में पशुओं का डंडे से भागना और घास की ओर लपकना, ये दोनों ही अविवेक हैं। ज्ञानी को डंडा दिखाकर यह कहना कि शरीर को अनात्म प्रतिपादित करोगे, तो हम डंडा मारकर दिखाएँगे कि तुम्हारे चोट लगती है, बर्बरता के युगों की बात होगी। जिसके ऊपर सदा नंगी तलवार लटकती हो, ऐसे किसी मस्तिष्क ने आज तक वेदांत की तो बात क्या, सामान्य-से-सामान्य दर्शन का भी उद्घाटन नहीं किया।

उपाध्यायजी ने एक अवतरण देकर कहा है कि हमने उनके शब्दों में परिवर्तन करके उनका खंडन किया है। उपाध्यायजी जिन्हें 'अपने शब्द' कहते हैं, वे यदि उन्हीं के होते तो हम उन्हें विपर्यस्त कामाओं के बीच में क्यों न रखते। असली बात यह है कि हमने उपाध्यायजी के भाव को ही दूसरे शब्दों में अवश्य रख दिया था। उपाध्यायजी ने लिखा है कि "अध्यास के किसी अर्थ में आत्मा, शरीर या इंद्रियों में अपना अध्यास नहीं करता।" हमने भी यही लिखा है—

"उपाध्यायजी कहते हैं कि आत्मा का देह और इंद्रियों को मैं समझना अध्यास के किसी लक्षण के अंतर्गत नहीं है।" पहले हमने दिखाया था कि अध्यासों के चारों लक्षणों के अनुसार देहेंद्रियाध्यास सच्चा उतरता है। साधक-साधन संबंध के विषय में निवेदन है कि अध्यास-अध्यस्त का संबंध सब संबंधों के मूल में है।

मुखमस्तीति वक्तव्यम् वाली बात से एक कालम पहले ही (पृ० ४६९-१) उपाध्यायजी के लेख का उत्तर समाप्त हो गया था। जहाँ यह लिखा था कि हम डायसन की लीला का परिचय पाठकों को बताना चाहते हैं, उससे आगे का सब अंश डायसन के विषय में है। उसे अपने ऊपर घटाकर उपाध्यायजी ने मुझे प्रोक्रस्टीज के पलँग की सी मेहमाँनिवाज़ी करनेवाला तथा पेट काटनेवाला कहकर अनजान में अपने बहुत सारे अमर्ष का परिचय दे दिया है। ड्यूसन के संबंध में तो उपाध्यायजी का और मेरा एक मत था। वह पहले लेख में बता चुका हूँ। हम दोनों ही बादरायणाचार्य को श्रद्धेय मानते हैं, पर ड्यूसन ने आगम-प्रमाण से घबड़ाकर यह निष्कर्ष निकाला कि वेदांत-सूत्रों से अलग उपनिषद्विद्या का व्याख्यान करना चाहिए; क्योंकि उपनिषदों के सच्चे अर्थ को वेदांतसूत्र विवृत नहीं कर सके। सृष्टि में मितव्ययिता आदि नियमों के जिन परिणामों को लेकर आपने अद्वैत की असंगति दिखाई थी, मैंने उन नियमों का उसी मर्यादा तक उत्तर दिया था। मुझे दुःख है कि उपाध्यायजी की समस्त पुस्तक पढ़े बिना केवल प्रकाशित अंशों के आधार पर वह विवेचन किया था। पंडितजी कहते हैं कि उसमें और भी अनेक अद्वैतों का खंडन है। अच्छा हो यदि उपक्रम रूप में कहीं पंडितजी इसका निर्देश करके ग्रंथ के अनुबंध-चतुष्टय को स्पष्ट कर दें।

इस प्रकार के दार्शनिक विवेचन में मतभेद स्वाभाविक है। बिना अनुभव की कोटि के केवल शुष्क तर्कों की प्रतिष्ठा करने का प्रयत्न आभासमान हो जाता है। जिनकी स्वानुभूति में ब्रह्म ही निष्पन्न वस्तु है, वे कह गए हैं—मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।

वासुदेवशरण अग्रवाल

त्याग
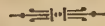
हेनरी चारपाई पर पड़ा था। कुछ क्षण पश्चात् उसने करवट ली और पास ही बैठे हुए अपने बड़े भाई से कहा—"टाम, क्या तुम आज भी घूमने नहीं गए ?"

टाम—हेनरी, मुझे अकेले जाते अच्छा नहीं लगता। तुम भी अच्छे हो जाओ, तब जी भरकर घूम लेंगे।"

हेनरी के नेत्र सजल हो गए। उसने टाम का हाथ अपने हाथ में लेते हुए कहा—"भाई, तुम मेरे पीछे अपना स्वास्थ्य क्यों बिगाड़ रहे हो। छः महीने से न तो तुम सर्कस ही में जाते हो और न कहीं और ही। क्या इस तरह तुम भी एक बीमार के पीछे अपने सुख और शांति के दिन वृथा नष्ट नहीं कर रहे हो ?"

टाम हेनरी के सिर पर हाथ फेरता हुआ बोला—"हेनरी, सर्कस में अब काम करने को जी नहीं चाहता। तुम्हारे बिना मुझसे कुछ किए नहीं होता। भाई, मुझे जब वे दिन याद आते हैं कि जब हम दोनों सर्कस में बड़े-बड़े काम करके दर्शकों का मन मोह लेते थे, तो हृदय फटने लगता है।" इतना कहकर टाम ने अपना मुँह फेर लिया।

हेनरी उस क्षणिक निस्तब्धता को भंग करता हुआ बोला—"टाम, मैं तुम्हारे इस अथाह प्रेम का बदला यदि प्राण देकर भी चुका सकूँ, तो अपने को धन्य समझूँगा।

टाम—"टट-टट—अच्छा आज तुम बाग़ को न चलोगे ?"

हेनरी—"चलो न"

टाम ने हेनरी को गोद में उठा लिया और बड़े आराम से ले जाकर घास पर पड़ी हुई एक बेंच पर लिटा दिया। वायु के मंद-मंद झोंके से हेनरी के मुर्झाए हुए मुख पर प्रसन्नता की झलक आ गई। टाम का सहारा लेकर वह उठ बैठा और फिर टाम से कहने लगा—"भाई, इस हरी-हरी घास पर ख़ूब लोटने को जी चाहता है, मगर......" इतना कहते-कहते उसका गला भर आया और उसने टाम के वक्षःस्थल में अपना मुँह छिपा लिया।

टाम ने उसको धैर्य देते हुए कहा—"हेनरी, अधीर न हो, डाक्टर ने कहा है कि अब तुम कुछ ही दिन में अच्छे हो जाओगे।"

हेनरी—"देखो"

हेनरी के इस एक शब्द में इतना दुःख और इतनी निराशा भरी हुई थी कि टाम के नेत्र सजल हो गए। उसने अपने भाई को हृदय से लगाकर कहा—"हेनरी, परमात्मा दयालु है, वही तुम्हारे कष्ट को दूर करेगा।"

इसी समय किसी ने सुरीले स्वर में कहा—"आमीन"

दोनों ने घूमकर देखा, सामने लैली खड़ी थी। दोनों के मुख खिल उठे। लैली उनकी बाल्य-अवस्था की साथिन थी।

लैली हेनरी के पास बैठ गई। उसने बैठते ही पूछा—"हेनरी, आज तबीयत कैसी है ?"

हेनरी (कुछ दुखित स्वर में)—"कोई विशेष फ़ायदा नहीं।"

टाम—"लैली, डाक्टर ने कहा है कि यह महीने-भर में ही अच्छे हो जायँगे, परंतु फिर भी यह निराश ही होते जाते हैं।"

हेनरी—"लैली, छः महीने बीमार हुए हो गए, और डाक्टर हमेशा ऐसा ही कहते आए, फिर कैसे विश्वास करूँ। मैं तो समझता हूँ कि मैं अच्छा होने को बीमार नहीं पड़ा हूँ।"

लैली—"तुम पागल हो। अच्छे न होगे, तो मेरे संग विवाह कौन करेगा !"

हेनरी का मुख लाल हो गया और टाम उद्विग्न हो उठा। फिर वह बनावटी हँसी हँसकर बोला—"लैली, तू बड़ी बदमाश है।"

तीनों हँस पड़े। कुछ देर बाद टाम ने कहा—"लैली, यदि तुम हेनरी के पास बैठी रहो, तो मैं डाक्टर के यहाँ हो आऊँ।"

लैली—"जाओ।"

टाम चला गया। उसके जाने के बाद हेनरी ने कहा—

"लैली।" लैली उसका मुख देखने लगी, किंतु हेनरी किसी गंभीर विचार में लीन था।

लैली ने हेनरी को हिलाते हुए पूछा—"क्या है हेनरी ?"

हेनरी—"लैली, क्या तुम्हें वे दिन याद हैं, जब हम और तुम बाग़ में दौड़-दौड़कर एक दूसरे को फूलों से मारते थे और फिर किसी घनी झाड़ी में छिपकर बैठ रहते थे ?"

लैली—"याद क्यों नहीं हैं।"

हेनरी—"वे सुख के दिन थे। लैली, अब कभी मुझमें वह स्फूर्ति न आवेगी।" यह कहते-कहते उसके नेत्र भर आए।

लैली—"तुम शीघ्र ही अच्छे हो जाओगे; फिर इतने दुखित क्यों हो ?"

हेनरी—"लैली, मुझे बीमारी का दुःख नहीं और न बीमारी से मैं भयभीत होता हूँ।"

लैली—"फिर क्या दुःख है, हेनरी।"

हेनरी चुप रहा। वह लैली का मुख टकटकी लगाए देख रहा था। लैली हँस पड़ी। उसने कहा—"हेनरी, क्या देख रहे हो ?"

हेनरी ने फिर भी कुछ उत्तर नहीं दिया। लैली ने अब की झुँझलाकर कहा—"हेनरी, बोलते क्यों नहीं ? क्या लैली पर विश्वास नहीं ?"

हेनरी—"लैली को छोड़कर और किसको विश्वास-पात्र समझ सकता हूँ।"

लैली—फिर बतलाओ न, तुम्हें क्या मानसिक कष्ट है ?"

हेनरी—"घोर अशांति है और वह भी तुम्हारे कारण ?"

लैली (आश्चर्य के साथ)—"मेरे कारण, मैंने क्या किया है ?"

हेनरी—"किया तो कुछ नहीं लैली, यह मेरे ही मनोविकार का फल है। हृदय में हर समय कोई कहता है कि इस बीमारी के फलस्वरूप लैली तेरी नहीं रही। लैली के हृदय में अब तेरे लिये वह स्थान नहीं।"

लैली (हँसकर)—"बस, इसी से इतने विह्वल हो। परंतु हेनरी, मैं तो तुम्हें अब भी वैसा ही चाहती हूँ।"

हेनरी (लैली का हाथ अपने हाथ में लेकर)—"लैली, और यदि मैं सर्वदा के लिये ही लँगड़ा हो गया और उठने-बैठने से मजबूर रहा तो..."

लैली—"यह नहीं हो सकता, तुम शीघ्र ही अच्छे हो जाओगे ?"

इसी समय टाम आ गया। हेनरी ने और कुछ न कहा। एक गहरी साँस लेकर मुँह फेर लिया। टाम ने दवा पिलाकर पूछा—"हेनरी, कैसे हो ?"

हेनरी—"भीतर चलूँगा।"

टाम फिर हेनरी को उसी प्रकार उठा ले गया, चार-पाई पर उसे लिटाकर लैली और टाम खाने चले गए। खाने के समय टाम चुप था। उसके मुख पर चिंता की रेखा थी। खाते-खाते उसने सिर उठाकर देखा। लैली की दृष्टि उसी की ओर थी।

टाम ने पूछा—"लैली, क्या हेनरी के साथ विवाह करोगी ?"

लैली ने मुँह बनाकर कहा—"नहीं", और कुछ ठहर-कर पुनः "हाँ" कहा। इसके पश्चात् वह बड़े ज़ोर से हँस पड़ी। टाम ने फिर सिर नीचा कर लिया। लैली कनखियों से उसकी तरफ़ देख रही थी। टाम को चुप देखकर उसने आलू उठाकर टाम को मारा और फिर हँसने लगी। टाम ने कहा—"लैली, तू बड़ी बदमाश है। हर समय तुझे मज़ाक़ ही सूझता है।"

लैली—"टाम, क्या नाराज़ हो ?"

टाम ने उसकी ओर देखा। लैली गंभीर थी। टाम ने कहा—"नहीं तो लैली, भला नाराज़ क्यों होऊँ।"

लैली—"तो फिर इतने चुप क्यों हो ?"

टाम—"कुछ नहीं यों ही।"

लैली—"टाम, तुम मुझसे कोई बात छिपा नहीं सकते। मैं तुम्हारे इस अस्वाभाविक मौन का कारण जानती हूँ। क्यों, बतलाऊँ ?"

टाम—"क्या है ?"

लैली—"ईर्षा।"

टाम—"किससे ?"

लैली—"हेनरी से।"

टाम चुप हो गया। एक ग्लास शराब पीकर उसने लैली से कहा—"लैली, मैं हेनरी के लिये सब कुछ त्याग सकता हूँ।"

लैली ने हेनरी की ओर गर्व से देखा। और टाम का हाथ पकड़कर उसने कहा—"टाम, तुम आदमी नहीं।"

टाम—"इसी से मुझसे घृणा है ?"

लैली—"तुम देवता हो, देवता से किसी को घृणा होती है।"

टाम—"लैली, तेरी बातें कुछ समझ में नहीं आतीं। तुझे मुझसे घृणा भी नहीं और प्रेम भी नहीं !"

लैली हँस पड़ी। उसका सुंदर मुख, उसके सजल नेत्र और उसकी कोमल मधुर वाणी, सभी टाम को बेसुध बनाने लगे। इसी अवस्था में उसने लैली से पूछा—"लैली, क्या मैं कभी इससे अधिक की आशा कर सकता हूँ ?"

लैली ने उत्तर दिया—"हाँ, किंतु शीघ्र ही नहीं" कहकर वह फिर हँसने लगी और हँसते-हँसते हेनरी के कमरे की ओर भाग गई। टाम बैठा ही रह गया।

लैली ने जाकर देखा, तो हेनरी को सोते पाया। लैली आना ही चाहती थी कि हेनरी ने उसी दशा में कहा—"लैली !"

लैली ने देखा, उसके नेत्र बंद थे और वह घोर निद्रा में था। लैली झुककर उसके मुख की ओर देखने लगी। इसी समय हेनरी ने फिर कहा—"मेरी लैली" और उसके साथ-ही-साथ उसके दोनों हाथ लैली की गर्दन में पड़ गए। लैली चौंक पड़ी। उसने देखा, हेनरी अब भी सो रहा था, वह बड़ी शीघ्रता के साथ कमरे से चली गई।

जाते समय लैली ने देखा, टाम उसी प्रकार बैठा था। लैली ने एक गहरी साँस ली। उसके नेत्रों में आँसू थे।

× × ×

तीन सप्ताह बीत गए। हेनरी कुछ-कुछ अच्छा होने लगा था। अब वह लकड़ी के सहारे खड़ा होता, कभी-कभी लैली का सहारा लेकर वह कमरे में इधर-उधर टहलता। टाम अब भी उसको गोद में उठाकर बाग़ ले जाता था। अब टाम बहुधा शाम को घूमने जाता था। ऐसे अवसर पर लैली को वह हेनरी की देख-भाल के लिये छोड़ जाता।

एक दिन हेनरी ने लैली से कहा—"लैली, डाक्टर ने समुद्र-तट पर जाकर कुछ दिन रहने की राय दी है।"

लैली—"हाँ-हाँ, अवश्य जाना चाहिए।"

हेनरी—"लैली, तुम भी चलो।"

लैली—"क्यों, मैं क्या बीमार हूँ ?"

हेनरी—"लैली, तुम्हारे चलने से मैं बड़ी जल्दी अच्छा हो जाऊँगा।"

लैली—"वाह-वाह, क्या मैं कोई डाक्टर हूँ।"

हेनरी—"हाँ, तुम मेरे मानसिक विकार की एक-मात्र औषध हो।"

लैली—"हेनरी, यदि मेरी माता को कोई आपत्ति न हुई, तो अवश्य चलूँगी।"

हेनरी (हर्ष से पुलकित हो)—"लैली, तुम्हें अनेकानेक धन्यवाद।"

इसी समय टाम आ गया। हेनरी ने टाम से कहा—"भाई, लैली भी हमारे साथ चलने को राज़ी है। अब हमें बड़ा आनंद आएगा।"

टाम (हर्षित होकर)—"तब तो बड़ा अच्छा है !"

इसके चार दिन पश्चात् टाम, हेनरी और लैली अपने घर से विदा हुए। डोवर से कुछ दूर पर एक बहुत सुंदर गाँव था। टाम इसी गाँव के पास जा बसा। वहाँ की रमणीयता अपार थी। वहाँ की स्वच्छ वायु और सुंदर दृश्यों ने उन तीनों को मोह लिया। लैली तो स्वभावतः समुद्र से प्रेम रखती थी। वहाँ वह नित्य ही प्रातःकाल और संध्यासमय घूमने जाया करती। कभी-कभी टाम भी साथ हो लेता, परंतु बहुधा वह अकेले ही जाती। हेनरी अभी अधिक नहीं चल सकता था।

एक दिन संध्या को उसके जाने के पश्चात् घोर वर्षा होने लगी। लैली बिना छाते के गई थी, इसी से टाम और हेनरी चिंताग्रसित हो रहे थे। वर्षा के साथ-ही-साथ बर्फ़ भी गिरने लगी। सर्दी ऐसी थी कि दाँत कटकटा रहे थे। लैली समुद्र के किनारे-किनारे मीलों तक चली जाती थी। इधर दूर-दूर पर मछलीवालों के झोपड़ों के सिवा और कोई घर न थे।

रात अधिक होते देखकर हेनरी ने टाम से कहा—"ऐसा न हो लैली किसी सुनसान जगह में बैठी हो। उसके पास शीत से बचने के लिये कोई गरम कपड़ा भी नहीं है ?"

टाम—अब मैं उसे खोजने जाता हूँ !"

टाम एक गरम लबादा पहने और बर्फ़ से बचने को

एक छाता लिए घर से निकला। लैली के लिये उसकी बाँह के ऊपर एक और लबादा पड़ा था। चलते समय हेनरी ने कहा—"टाम, एक शीशी में ब्रांडी भी लेते आओ।"

टाम—"ख़ूब याद दिलाई"— इतना कहकर उसने आलमारी खोली और एक अद्धा जेब में रखकर तेज़ी से चल दिया।

टाम ने बाहर आकर देखा, तीव्र झंझावात था। हवा के साथ-ही-साथ बर्फ़ के छोटे-छोटे टुकड़े आकर ऊपर गिरने लगे। सारी भूमि बर्फ़ से ढकी हुई थी। टाम सीधा उसी तरफ़ चल दिया, जिधर लैली रोज़ जाया करती थी। लगभग दो मील जाने के पश्चात् कुछ मछलीवालों के झोपड़े मिले। टाम को पूर्ण आशा थी कि लैली यहीं होगी। उसने दो-एक मछलीवालों से उसके विषय में पूछा। एक वृद्ध ने कहा—"आई तो वह यहाँ अवश्य थी, किंतु ठहरी नहीं, आगे बढ़ गई।"

टाम ने कहा—"क्या आपमें से कोई भी मुझे उसका पता लगाने में सहायता दे सकते हैं?" कई नवयुवकों ने एक दूसरे की ओर देखा और सिर झुका लिया। उनके नेत्र स्पष्ट कह रहे थे कि ऐसे समय में कौन जाने का साहस करेगा; किंतु एक ने टाम का उतरा हुआ मुख देखकर कहा—"महाशय, चलिए, मैं चलता हूँ।"

टाम ने प्रसन्न होकर उसका हाथ पकड़ लिया। उसकी आँखों में कृतज्ञता थी। टाम और वह अजनबी युवक चल खड़े हुए। बहुत दूर जाने के पश्चात् भी लैली का कहीं पता न चला। टाम की घबराहट क्षण-क्षण बढ़ती जाती थी। उसने एक गहरी साँस ली और कहा—"युवक, मुझे भय है कि लैली अब इस संसार में नहीं है।"

युवक ने कुछ उत्तर न दिया। उसकी चुप्पी बता रही थी कि उसे भी इसमें अधिक संदेह नहीं। लौटते समय युवक ने कहा—"महाशयजी, अच्छा हो कि इस बार हम समुद्रतट से कुछ हटकर चलें, कदाचित् पानी के कारण वह किसी वृक्ष के नीचे बैठ रही हो।"

टाम युवक के पीछे हो लिया। इस जगह से थोड़ा ही जाने के पश्चात् एक घने वृक्ष के नीचे दूर पर कोई चीज़ पड़ी-सी मालूम हुई। टाम ने दौड़कर देखा, वह लैली थी। उसने उसे हिलाकर कहा—"लैली" किंतु कुछ उत्तर न मिला। टाम ने देखा कि उसका शरीर बर्फ़ से जकड़ा हुआ था। उसने बर्फ़ को झाड़कर, लैली को अपने लबादे में छिपा लिया और फिर जेब से शराब निकाल उसके मुँह में डाली, परंतु फिर भी उसे होश न आया। युवक ने कहा—"महाशयजी, इन्हें मेरे घर तक ले चलिए, वहाँ उचित उपचार किया जा सकता है।

टाम ने लैली को गोदी में उठा लिया। इस समय टाम के हृदय में भी वैसा ही तीव्र तूफ़ान उठ रहा था, जैसा कि उसके चारों ओर था। तूफ़ान था भय और प्रेम का। हृदय में आता—"यदि लैली मर गई तो...।" यह ध्यान आते ही उसके नेत्रों में बहिया आ जाती।

आख़िर वह लैली को उस युवक के घर ले आया। युवक की माता ने लैली को आग के पास लिटा दिया और ख़ूब गरम कपड़े उसको उढ़ा दिए गए। क्षण-क्षण पर उसके मुख में ब्रांडी डाली जाने लगी। कुछ देर के बाद लैली ने आँखें खोलीं। चारों ओर देखकर अंत में उसने टाम के मुख पर अपने नेत्र जमा दिए, और क्षीण स्वर में पूछा—"टाम, मैं कहाँ हूँ।"

टाम—"एक दयालु सज्जन के घर।"

लैली ने उस वृद्ध पुरुष और स्त्री की ओर कृतज्ञता-भरी दृष्टि से देखा। उसकी आँखों से अश्रु का एक बूँद ढुलककर उसके कपोलों पर आ जमा। वृद्धा ने उसे सांत्वना देते हुए कहा—"बेटी, ईसू बड़ा दयालु है।" लैली ने नेत्र बंद कर लिए, उसे निद्रा आ गई थी।

लैली बड़ी देर तक सोती रही। टाम उसके निकट बैठा रहा। युवक और वृद्धा भी बैठे थे। सुबह होने को थी, जब उसने आँख खोली। टाम को पास ही देखकर उसने कहा—"टाम, तुम सब अभी तक बैठे हो हो!"

वृद्धा—"बेटी, चिंता में कहीं नींद आती है।"

लैली ने युवक की ओर देखा। उसके मुख पर हर्ष के चिह्न थे। एक क्षण पश्चात् उस युवक ने पूछा—"आप उस वृक्ष के नीचे क्यों बैठ गई थीं? गाँव तक आ जातीं, तो आपको यह घोर कष्ट न उठाने पड़ते।"

लैली—"मुझे क्या पता था कि बर्फ़ पड़ने लगेगी। मैंने तो समझा था कि पानी कम होने पर चल दूँगी। जब बर्फ़ गिरने लगी, तो मुझे मजबूर होकर वहीं बैठ जाना पड़ा। धीरे-धीरे बर्फ़ मेरे ऊपर जमने लगी और मैं अचेत हो गई। मुझे नहीं मालूम कि आप किस समय मुझे वहाँ से लाए।"

वृद्धा ने सब हाल सुनाया। लैली किसी गंभीर विचार में लीन हो गई। इसी समय टाम ने कहा—"लैली, सुबह की सफ़ेदी चारों ओर फैल रही है। बादल भी छट गए हैं और बर्फ़ गिरना भी बंद है। अब अगर तुम्हारी तबियत ठीक हो और पैदल चल सकती हो, तो चलो, हेनरी चिंतित होगा।"

लैली—"चलो, मैं अच्छी हूँ।"

लैली और टाम उस वृद्धा और युवक को धन्यवाद देकर चल दिए। लैली टाम के सहारे चल रही थी। कुछ दूर जाने के बाद उसने टाम से कहा—"टाम, आज तुमने मेरी जान बचाई। इसके लिये मैं सदा तुम्हारा आभार मानूँगी।"

टाम ने उसकी ओर देखा। लैली के नेत्रों में कृतज्ञता थी और कृतज्ञता की ओर से प्रेम की झलक। टाम हर्ष से विह्वल हो उठा। उसने लैली को हृदय से लगा लिया और उसके कपोलों पर प्रेम की छाप लगा दी। लैली ने टाम को अलग करते हुए कहा—"टाम, क्या तुमने केवल स्वार्थ के वशीभूत होकर ही मेरा उद्धार किया है?"

टाम ने देखा, लैली की आँखों में तिरस्कार था। उसने लज्जित होकर कहा—"लैली, क्या नाराज़ हो गई? अच्छा, क्षमा करो।"

लैली—"अब कभी तो ऐसा न करोगे?"

टाम—"नहीं।"

लैली ने हँसकर टाम का हाथ पकड़ लिया। हार्दिक क्षमा का परिचय इससे बढ़कर और क्या दिया जा सकता था। टाम का मुख खिल उठा।

घर पहुँचकर लैली ने देखा कि हेनरी किसी गंभीर विचार में मग्न खिड़की के पास खड़ा है। उसकी मुख-मुद्रा से विदित होता था कि वह रात-भर सोया नहीं। आँसुओं के चिह्न भी स्पष्ट थे। वह इतना ध्यान-मग्न था कि लैली के आने का उसे पता ही न लगा।

लैली ने चुपके-चुपके जाकर उसके कंधे पर हाथ रक्खा। हेनरी चौंक पड़ा। किंतु लैली को देख उसने उसका हाथ पकड़कर पूछा—"लैली, तुम कब आई?"

लैली—"अभी तो आ रही हूँ।"

हेनरी—"और टाम!"

लैली—"वह अपने कमरे में हैं। उन्हीं ने तो मेरा उद्धार किया, नहीं तो मैं मर चुकी थी।"

हेनरी (भर्राई हुई आवाज़ में)—"लैली, अब तो कभी ऐसे समय अकेले घूमने न जाओगी!" इतना कहते-कहते उसके आँसू निकल आए।

लैली—"नहीं हेनरी, कभी नहीं।"

हेनरी ने लैली का गाढ़ आलिंगन किया। एक क्षण पश्चात् लैली ने अलग होकर कहा—"हेनरी, मैं तो टाम की जीवन-भर आभारी रहूँगी।"

इसी समय टाम ने कमरे में पैर रक्खा। उसने आते ही कहा—"लैली, अब कभी आभारी होने की बात न कहना। मैंने तो केवल अपना कर्तव्य-पालन किया है।"

लैली—"टाम, तुम मनुष्य नहीं, देवता हो।"

टाम—"लैली, यह तुम्हारा भ्रम-ही-भ्रम है।"

हेनरी के पूछने पर टाम ने सारा हाल बतलाया। मछलीवालों की उदारता के विषय में सुनकर हेनरी ने पुलकित हो कहा—"टाम, हमको उन सबकी दावत करनी चाहिए।"

टाम—"अवश्य, मैं दो-एक दिन में उनको निमंत्रण भेज दूँगा।"

हेनरी अब समुद्रतट पर टहलने जाने लगा। लैली बहुधा हेनरी के साथ ही रहती, मगर कभी-कभी टाम के साथ नाव में बैठकर घूमने चली जाती। टाम तो अपना अधिक समय नाव ही में बिताता। वह घंटों ग़ायब रहता। कभी-कभी हेनरी चिंतित भी हो उठता, किंतु टाम एक सिद्धहस्त नाविक था।

उसी सप्ताह में टाम ने उस साहसी युवक और उसके मातापिता को निमंत्रण दिया। रात को दस बजे तक वे टाम के घर पर रहे। लैली ने हर प्रकार उनकी आव-भगत की। वह बार-बार उस युवक से कहती—"युवक, तुमने मुझे जीवन-दान दिया।"

युवक लज्जावश सिर झुका लेता, किंतु उसकी माता उत्तर देती—"बेटी, ईसू की कृपा थी, नहीं तो मनुष्य क्या कर सकता है।"

हेनरी उन दयालु मनुष्यों को भेजने चल दिया, किंतु वृद्धा ने उसे शीघ्र ही वापस कर दिया। उसने कहा—"बेटा, सर्दी में अधिक न चलो, अभी तुम कमज़ोर हो।"

हेनरी लौट आया। घर पहुँचकर उसने टाम और

लैली को बाग़ में एक घने वृक्ष के नीचे बैठे देखा। हेनरी चुपके-चुपके जाकर उनके पास ही छिपकर बैठ गया। लैली ने कहा—"टाम, तुमने मेरी जान बचाई है, मैं तुम्हारे सुख के लिये सब कुछ कर सकती हूँ।"

टाम—"लैली, मैं बदला नहीं चाहता।"

लैली—"टाम, फिर क्या चाहते हो?"

टाम—"प्रेम का एक बूँद। लैली, मैं तुझे प्यार करता हूँ। तेरे विना जीवन व्यर्थ प्रतीत होता है, तेरे विना सुख नहीं।"

लैली चुप थी। उसके नेत्रों से अश्रु की धारा बह रही थी।

टाम ने फिर कहा—"लैली, मैं सदा से ही तेरे प्रेम में रँगा हूँ, किंतु मैंने कभी अपने हार्दिक भावों को तुझ पर प्रकट नहीं होने दिया। लैली, बोलो—बोलो क्या तुम मुझसे प्रेम नहीं कर सकती?"

लैली फिर चुप थी। उसकी आँखों से आँसू और वेग से गिरने लगे। कुछ समय तक निस्तब्धता रही। फिर टाम ने कहा—"लैली, मैं समझ गया कि तुम किसी दूसरे से प्रेम करती हो, परंतु मुझ पर कृपा करके इतना बतला दो कि क्या मैं भी कभी आशा कर सकता हूँ या नहीं?"

लैली—"टाम, हेनरी के रहते हुए ऐसी आशा व्यर्थ है।"

टाम—"लैली, हेनरी के सुख में मैं कभी बाधा नहीं डालूँगा, परंतु प्रतिज्ञा करो कि मेरे इस भेद को कभी हेनरी पर खुलने न दोगी।"।

लैली (सिसकते हुए)—"टाम, तुम देवता हो और मैं एक अधम स्त्री।"

दोनों घर चले गए। हेनरी वहीं खड़ा-खड़ा सोचने लगा—"टाम के सुख के लिये मुझे कठिन त्याग करना होगा।"

× × ×

दूसरे दिन टाम और लैली ने देखा कि हेनरी नहीं है। उसकी खाट पर एक पत्र मिला। उसमें लिखा था—

"टाम! लैली कहती है कि मेरे रहते वह तुम्हें स्वीकार नहीं कर सकती। तुम्हारे सुख के मार्ग में मैं ही एक बड़ा कंटक हूँ, इसी से तुम्हें और अपनी मातृभूमि को छोड़कर जा रहा हूँ। कहाँ—सो नहीं कह सकता। मेरे समस्त अपराध क्षमा करना।

—हेनरी"

टाम रो पड़ा। उसके मुख से निकला—"हेनरी, तुम्हारा यह महान् त्याग अद्वितीय है। तुम सच्चे भाई हो।"

बहुत खोज की गई, किंतु हेनरी को फिर किसी ने न देखा।

रामेश्वरप्रसाद श्रीवास्तव

बहता हुआ फूल

फूल! असहाय सुकोमल फूल!
निठुर किन हाथों ने है हाय,
मसल फेंका तुमको इस भाँति?
पड़े हो तुम सरिता के बीच
जहाँ बहता है तीव्र प्रवाह,
तरंगें उठती हैं बेढंग
और है जहाँ न जल की थाह।
आह नन्हें-से छोटे फूल,
तुम्हारा होगा कैसा हाल।
कहाँ तुम अतिशय कोमल फूल,
बना है जो सुषमा की खान,
कहाँ अति भीषण धारे रूप
कठिन लहरें ये वज्र समान।
कहाँ वन—वह कोयल की कूक
और अलिगण का मीठा प्यार,
कहाँ जल का भीषण निर्घोष
और सत्वर-गति क्रुद्ध बयार।
आह, निर्दय विधि ने किस भाँति,
किया निर्दय परिवर्तन हाय!
याद आता है तुमको क्या न

मनोरम वह सुंदर उद्यान,
खिले थे मृदु टहनी में जहाँ
अमियसम सिंचित रसकर पान।
याद आता है क्या वह काल
झुलाता था जब मृदुल समीर,
बिखर पड़ता था जब सौंदर्य
लगी रहती अलियों की भीर।
सुगंधित, पा तेरा संसर्ग
हुआ था जब समग्र उद्यान,
पथिक हो जाते थे बेहोश
निरख छविमय तेरी मुसकान।
आह, सपने में भी उस समय
हुआ होगा तुमको क्या ख़्याल—
'तीव्र गति से है आता चला
भयानक पीड़ाओं का काल'।
हरे! कैसी विधि की यह नीति
और कितना निर्दय व्यापार।
क्षुद्र इस जीवन में उस रोज़
तुम्हारा था कितना सम्मान!
सभी आँखें थीं तेरी ओर
और था सबको तेरा ध्यान।
किंतु तुम वही, अकेले आज
झेलते हो हा कष्ट अनेक,
भयानक पीड़ाओं में हाय
नहीं है दिखता साथी एक।
बहे जाते हो तुम निरुपाय
भयानक सरिता में हो म्लान;
सिखाये जाते हो तुम किंतु
सुखों की अस्थिरता का ज्ञान।
अरे, जाओ हे सुंदर फूल!
यही है इस दुनिया की रीति।

यमुनाप्रसाद चौधरी 'नीरज'

उन्माद

(शेषांश)
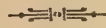
(६)

जेनी ने जब मनहर का पत्र पाकर पढ़ा तो मुस्किराई। उसे मनहर की इच्छा पर शासन करने का ऐसा अभ्यास पड़ गया था कि इस पत्र से उसे ज़रा भी घबराहट न हुई। उसे विश्वास था कि दो-चार दिन चिकनी-चुपड़ी बातें करके वह उसे फिर वशीभूत कर लेगी। अगर मनहर की इच्छा केवल धमकी देना न होती, उसके दिल पर चोट लगी होती, तो वह अब तक यहाँ न होता। कब का वह स्थान छोड़ चुका होता। उसका यहाँ रहना ही बता रहा था कि वह केवल बँदरघुड़की दे रहा है।

जेनी ने स्थिरचित्त होकर कपड़े बदले और तब इस तरह मनहर के कमरे में आई, मानो कोई अभिनय करने स्टेज पर आई हो।

मनहर उसे देखते ही ज़ोर से ठट्ठा मारकर हँसा। जेनी सहमकर पीछे हट गई। इस हँसी में क्रोध या प्रतिकार न था। इसमें उन्माद भरा हुआ था। मनहर के सामने मेज़ पर बोतल और ग्लास रक्खा हुआ था। एक दिन में उसने न-जाने कितनी शराब पी ली थी। उसकी आँखों में जैसे रक्त उबला पड़ता था।

जेनी ने समीप जाकर उसके कंधे पर हाथ रक्खा और बोली—क्या रात-भर पीते ही रहोगे? चलो आराम से लेटो, रात ज़्यादा आ गई है। घंटों से बैठी तुम्हारा इंतज़ार कर रही हूँ। तुम इतने निष्ठुर तो कभी न थे।

मनहर खोया हुआ-सा बोला—तुम कब आ गईं बागी, देखो मैं कब से तुम्हें पुकार रहा हूँ। चलो आज सैर कर आएँ। वहीं नदी के किनारे तुम अपना वही प्यारा गीत सुनाना जिसे सुनकर मैं पागल हो जाता हूँ। क्या कहती हो, मैं बेमुरौवत हूँ। यह तुम्हारा अन्याय है बागी। मैं क़सम खाकर कहता हूँ ऐसा एक दिन भी नहीं गुज़रा जब तुम्हारी याद ने मुझे रुलाया न हो।

जेनी ने उनका कंधा हिलाकर कहा—तुम यह क्या ऊल-जलूल बक रहे हो। बागी यहाँ कहाँ है।

मनहर ने उसकी ओर अपरिचित भाव से देखकर कुछ कहा फिर ज़ोर से हँसकर बोला—मैं यह न मानूँगा बागी। तुम्हें मेरे साथ चलना होगा। वहाँ मैं तुम्हारे लिये फूलों की एक माला बनाऊँगा...।

जेनी ने समझा यह शराब बहुत पी गए हैं। बकझक कर रहे हैं। इनसे इस वक़्त कुछ बातें करना व्यर्थ है। चुपके से कमरे के बाहर चली गई। उसे ज़रा-सी शंका हुई थी। यहाँ उसका मूलोच्छेद हो गया। जिस आदमी का अपनी वाणी पर अधिकार नहीं, वह इच्छा पर क्या अधिकार रख सकता है।

उसी घड़ी से मनहर को घरवालों की रट-सी लग गई। कभी बागेश्वरी को पुकारता, कभी अम्माँ को, कभी दादा को। उसकी आत्मा अतीत में विचरती रहती, उस अतीत में जब जेनी ने काली छाया की भाँति प्रवेश न किया था और बागेश्वरी अपने सरल व्रत से उसके जीवन में प्रकाश फैलाती रहती थी।

दूसरे दिन जेनी ने जाकर उससे कहा—तुम इतनी शराब क्यों पीते हो? देखते नहीं तुम्हारी क्या दशा हो रही है?

मनहर ने उसकी ओर आश्चर्य से देखकर कहा—'तुम कौन हो?'

जेनी—क्या मुझे नहीं पहचानते? इतनी जल्द भूल गए?

मनहर—मैंने तुम्हें कभी नहीं देखा। मैं तुम्हें नहीं पहचानता।

जेनी ने और अधिक बातचीत न की। उसने मनहर के कमरे से शराब की बोतलें उठवा लीं और नौकरों को ताकीद कर दी कि उसे एक घूँट भी शराब न दी जाय। उसे अब कुछ-कुछ संदेह होने लगा; क्योंकि मनहर की दशा उससे कहीं शंकाजनक थी जितनी वह

समझी थी। मनहर का जीवित और स्वस्थ रहना उसके लिये आवश्यक था। इसी घोड़े पर बैठकर वह शिकार खेलती थी। घोड़े के बग़ैर शिकार का आनंद कहाँ।

मगर एक सप्ताह हो जाने पर भी मनहर की मानसिक दशा में कोई अंतर न हुआ। न मित्रों को पहचानता, न नौकरों को। पिछले तीन बरसों का उसका जीवन एक स्वप्न की भाँति मिट गया था।

सातवें दिन जेनी सिविल सर्जन को लेकर आई, तो मनहर का कहीं पता न था।

(७)

पाँच साल के बाद बागेश्वरी का लुटा हुआ सोहाग फिर चेता। मा-बाप पुत्र के वियोग में रो-रोकर अंधे हो चुके थे। बागेश्वरी निराशा में भी आस बाँधे बैठी हुई थी। उसका मायका संपन्न था। बार-बार बुलावे आते, बाप आया, भाई आया, पर वह धैर्य और व्रत की देवी घर से न टली।

जब मनहर भारत में आया, तो बागेश्वरी ने सुना वह विलायत से एक मेम लाया है। फिर भी उसे आशा थी वह आएगा। लेकिन उसकी आशा पूरी न हुई। फिर उसने सुना वह ईसाई हो गया है और आचार-विचार त्याग दिया है। तब उसने माथा ठोंक लिया।

घर की अवस्था दिन-दिन बिगड़ने लगी। वर्षा बंद हो गई और सागर सूखने लगा। घर बिका, कुछ ज़मीन थी वह बिकी, फिर गहनों की बारी आई, यहाँ तक कि अब केवल आकाशी वृत्ति थी। कभी चूल्हा जल गया, कभी ठंढा पड़ा रहा।

एक दिन संध्या समय वह कुएँ पर पानी भरने गई थी कि एक थका हुआ, जीर्ण, विपत्ति का मारा जैसा आदमी आकर कुएँ की जगत पर बैठ गया। बागेश्वरी ने देखा तो मनहर! उसने तुरंत घूँघट बढ़ा लिया। आँखों पर विश्वास न हुआ, फिर भी आनंद और विस्मय से हृदय में फुरेरियाँ उड़ने लगीं। रस्सी और कलसा कुएँ पर छोड़कर लपकी हुई घर आई और सास से बोली—अम्माजी, ज़रा कुएँ पर जाकर देखो, कोई आया है। सास ने कहा—तू पानी लाने गई थी, या तमाशा देखने। घर में एक बूँद पानी नहीं है। कौन आया है कुएँ पर?

"चलकर देख लो न।"

"कोई सिपाही-प्यादा होगा। अब उनके सिवा और कौन आनेवाला है। कोई महाजन तो नहीं है?"

"नहीं अम्मा, तुम चली क्यों नहीं चलतीं।"

बूढ़ी माता भाँति-भाँति की शंकाएँ करती हुई कुएँ पर पहुँची, तो मनहर दौड़कर उनके पैरों से चिमट गया। माता ने उसे छाती से लगाकर कहा—तुम्हारी यह क्या दशा है मानू? क्या बीमार हो? असबाब कहाँ है?

मनहर ने कहा—पहले कुछ खाने को दो अम्माँ। बहुत भूखा हूँ। मैं बड़ी दूर से पैदल चला आ रहा हूँ।

गाँव में ख़बर फैल गई मनहर आया है। लोग उसे देखने दौड़े। किस ठाट से आया है। बड़े ऊँचे पद पर है, हज़ारों रुपए पाता है। अब उसके ठाट का क्या पूछना। मेम भी साथ आई है या नहीं?

मगर जब आकर देखा तो आफ़त का मारा आदमी, फटे हालों, कपड़े तार-तार, बाल बढ़े हुए जैसे जेल से आया हो।

प्रश्नों की बौछार होने लगी—हमने तो सुना था तुम किसी बड़े ऊँचे पद पर हो?

मनहर ने जैसे किसी भूली बात को याद करने का विफल प्रयास करके कहा—मैं! मैं तो किसी ओहदे पर नहीं हूँ।

'वाह! तुम विलायत से मेम नहीं लाए थे?' मनहर ने चकित होकर कहा—'विलायत! विलायत कौन गया था?'

"अरे! भंग तो नहीं खा गए हो! तुम विलायत नहीं गए थे?"

मनहर मूढ़ों की भाँति हँसा—मैं विलायत क्या करने जाता।

"अजी तुमको वज़ीफ़ा नहीं मिला था? यहाँ से तुम विलायत गए। तुम्हारे पत्र बराबर आते थे। अब तुम कहते हो मैं विलायत गया ही नहीं। होश में हो, या हम लोगों को उल्लू बना रहे हो।"

मनहर ने उन लोगों की ओर आँखें फाड़कर देखा और बोला—मैं तो कहीं नहीं गया। आप लोग जाने क्या कह रहे हैं।

अब इसमें संदेह की गुंजाइश न रही कि वह अपने होश-हवास में नहीं है। उसे विलायत जाने के पहले की सारी बातें याद थीं। गाँव और घर के हरेक आदमी

को पहचानता था, सबसे नम्रता और प्रेम से बातें करता था, लेकिन जब इँगलैंड, अँगरेज़ बीवी और ऊँचे पद का ज़िक्र आता, तो भौचक्का होकर ताकने लगता। बागेश्वरी को अब उसके प्रेम में एक अस्वाभाविक अनुराग दीखता था, जो बनावटी मालूम होता था। वह चाहती थी कि उसके व्यवहार और आचरण में पहले की-सी बेतकल्लुफ़ी हो। वह प्रेम का स्वाँग नहीं, प्रेम चाहती थी। दस ही पाँच दिनों में उसे ज्ञात हो गया कि इस विशेष अनुराग का कारण बनावट या दिखावा नहीं, बरन् कोई मानसिक विकार है। मनहर ने माँ बाप का इतना अदब पहले कभी न किया था। उसे अब मोटे से मोटा काम करने में भी संकोच न था। वह जो बाज़ार से सागभाजी लाने में अपना अनादर समझता, अब कुएँ से पानी खींचता, लकड़ियाँ फाड़ता और घर में झाड़ू लगाता था। और अपने घर में ही नहीं, सारे महल्ले में उसकी सेवा और नम्रता की चर्चा होती थी।

एक बार महल्ले में चोरी हुई। पुलिस ने बहुत दौड़धूप की, पर चोरों का पता न चला। मनहर ने चोरों का पता ही नहीं लगा दिया, बल्कि माल भी बरामद करा लिया। इससे आसपास के गाँवों और महल्लों में उसका यश फैल गया। कोई चोरी हो जाती तो लोग उसके पास दौड़े आते, और अधिकांश उसके उद्योग सफल होते थे। इस तरह उसकी जीविका की एक व्यवस्था हो गई। वह अब बागेश्वरी के इशारों का ग़ुलाम था। उसी की दिलजोई और सेवा में उसके दिन कटते थे। अगर उसमें विकार या बीमारी का कोई लक्षण था, तो इतना ही। यही सनक उसे सवार हो गई थी।

बागेश्वरी को उसकी दशा पर दुख होता था, पर उसकी यह बीमारी उस स्वास्थ्य से उसे कहीं प्रिय थी जब वह उसकी बात भी न पूछता था।

(८)

६ महीनों के बाद एक दिन जेनी मनहर का पता लगाती हुई आ पहुँची। हाथ में जो कुछ था, वह सब उड़ा चुकने के बाद अब उसे किसी आश्रय की खोज थी। उसके चाहनेवालों में कोई ऐसा न था, जो उसकी आर्थिक सहायता करता। शायद अब जेनी को कुछ ग्लानि भी आती थी। वह अपने किए पर लज्जित थी।

द्वार पर हार्न की आवाज़ सुनकर मनहर बाहर निकला और इस प्रकार जेनी को देखने लगा मानो उसे कभी देखा नहीं है।

जेनी ने मोटर से उतरकर उससे हाथ मिलाया और अपनी बीती सुनाने लगी—तुम इस तरह मुझसे छिपाकर क्यों चले आए? और फिर आकर एक पत्र भी नहीं लिखा। आख़िर मैंने तुम्हारे साथ क्या बुराई की थी? फिर मुझमें कोई बुराई देखी थी, तो तुम्हें चाहिए था मुझे सावधान कर देते। छिपकर चले आने से क्या फ़ायदा हुआ। ऐसी अच्छी जगह मिल गई थी, वह भी हाथ से निकल गई।

मनहर काठ के उल्लू की भाँति खड़ा रहा।

जेनी ने फिर कहा—तुम्हारे चले आने के बाद मेरे ऊपर जो संकट आए, वह सुनाऊँ तो तुम घबड़ा जाओगे। मैं इसी चिंता और दुख से बीमार हो गई। तुम्हारे बग़ैर मेरा जीवन निरर्थक हो गया है। तुम्हारा चित्र देखकर मन को ढारस देती थी। तुम्हारे पत्रों को आदि से अंत तक पढ़ना मेरे लिये सबसे मनोरंजक विषय था। तुम मेरे साथ चलो। मैंने एक डाक्टर से बातचीत की है। वह मस्तिष्क के विकारों का डाक्टर है। मुझे आशा है, उसके उपचार से तुम्हें लाभ होगा।

मनहर चुपचाप विरक्तभाव से खड़ा रहा, मानों वह न कुछ देख रहा है न सुन रहा है।

सहसा बागेश्वरी निकल आई। जेनी को देखते ही वह ताड़ गई कि यही मेरी युरोपियन सौत है। वह उसे बड़े आदर-सत्कार के साथ भीतर ले गई। मनहर भी उनके पीछे-पीछे चला गया।

जेनी ने टूटी खाट पर बैठते हुए कहा—इन्होंने मेरा ज़िक्र तो तुमसे किया ही होगा। मेरी इनसे लंदन में शादी हुई है।

बागेश्वरी बोली—यह तो मैं आपको देखते ही समझ गई थी।

जेनी—इन्होंने कभी मेरा ज़िक्र नहीं किया?

बागेश्वरी—कभी नहीं। इन्हें तो कुछ याद ही नहीं। आपको तो यहाँ आने में बड़ा कष्ट हुआ होगा?

जेनी—महीनों के बाद तब इनके घर का पता चला। वहाँ से बिना कुछ कहे-सुने चल दिए।

"आपको कुछ मालूम है इन्हें यह शिकायत है?"

"शराब बहुत पीने लगे थे। आपने किसी डाक्टर को नहीं दिखाया ?"

"हमने तो किसी को नहीं दिखाया।

जेनी ने तिरस्कार करके कहा—क्यों ? क्या आप इन्हें हमेशा बीमार रखना चाहती हैं।

बागेश्वरी ने बेपरवाई से जवाब दिया—मेरे लिये तो इनका बीमार रहना इनके स्वस्थ रहने से कहीं अच्छा है। तब वह अपनी आत्मा को भूल गए थे, अब उसे पा गए।

फिर उसने निर्दय कटाक्ष करके कहा—मेरे विचार में तो वह तब बीमार थे, अब स्वस्थ हैं।

जेनी ने चिढ़कर कहा—नानसेंस ! इनकी किसी विशेषज्ञ से चिकित्सा करानी होगी। यह जासूसी में बड़े कुशल हैं। इनके सभी अफ़सर इनसे प्रसन्न थे। वह चाहें तो अब भी इन्हें वह जगह मिल सकती है। अपने विभाग में ऊँचे-से-ऊँचे पद तक पहुँच सकते हैं। मुझे विश्वास है कि इनका रोग असाध्य नहीं है, हाँ विचित्र अवश्य है। आप क्या इनकी बहन हैं ?

बागेश्वरी ने मुसकिराकर कहा—आप तो गाली दे रही हैं। वह मेरे स्वामी हैं।

जेनी पर मानो वज्रपात-सा हुआ। उसके मुख पर से नम्रता का आवरण हट गया और मन में छिपा हुआ क्रोध जैसे दाँत पीसने लगा। उसके गरदन की नसें तन गईं, दोनों मुट्ठियाँ बँध गईं। उन्मत्त होकर बोली—बड़ा दग़ाबाज़ आदमी है। इसने मुझे बड़ा धोखा दिया। मुझसे इसने कहा था मेरी स्त्री मर गई है। कितना बड़ा धूर्त है। यह पागल नहीं है। इसने पागलपन का स्वाँग भरा है। मैं अदालत से इसकी सज़ा कराऊँगी।

क्रोधावेश के कारण वह काँप उठी। फिर रोती हुई बोली—इस दग़ाबाज़ी का मैं इसे मज़ा चखाऊँगी। ओह ! इसने मेरा कितना घोर अपमान किया है। ऐसा विश्वासघात करनेवाले को जो दंड दिया जाय, वह थोड़ा है। इसने कैसी मीठी-मीठी बातें करके मुझे फाँसा। मैंने ही इसे जगह दिलाई। मेरे ही प्रयत्नों से यह बड़ा आदमी बना। इसके लिये मैंने अपना घर छोड़ा, अपना देश छोड़ा, और इसने मेरे साथ ऐसा कपट किया।

जेनी सिर पर हाथ रखकर बैठ गई। फिर तैश में उठी और मनहर के पास जाकर उसको अपनी ओर खींचती हुई बोली—मैं तुझे ख़राब करके छोड़ूँगी। तूने मुझे समझा क्या है...।

मनहर इस तरह शान्त भाव से खड़ा रहा मानो उससे कोई प्रयोजन नहीं है।

फिर वह सिंहिनी की भाँति मनहर पर टूट पड़ी और उसे ज़मीन पर गिराकर उसकी छाती पर चढ़ बैठी। बागेश्वरी ने उसका हाथ पकड़कर अलग कर दिया और बोली—तुम ऐसी डायन न होतीं, तो उनकी यह दशा ही क्यों होती।

जेनी ने तैश में आकर जेब से पिस्तौल निकाला और बागेश्वरी की तरफ़ बढ़ी। सहसा मनहर तड़पकर उठा, उसके हाथ से भरा हुआ पिस्तौल छीन कर फेंक दिया और बागेश्वरी के सामने खड़ा हो गया। फिर ऐसा मुँह बना लिया मानो कुछ हुआ ही नहीं।

उसी वक़्त मनहर की माता दोपहरी की नींद सोकर उठीं और जेनी को देखकर बागेश्वरी की ओर प्रश्न की आँखों से ताका।

बागेश्वरी ने उपहास के भाव से कहा—यह आपकी बहू हैं।

बुढ़िया तिनककर बोली—कैसी मेरी बहू। यह मेरी बहू बनने जोग है बँदरिया। लड़के पर न-जाने क्या कर-करा दिया, अब छाती पर मूँग दलने आई है।

जेनी एक क्षण तक ख़ूनभरी आँखों से मनहर की ओर देखती रही। फिर बिजली की भाँति कौंदकर उसने आँगन में पड़ा हुआ पिस्तौल उठा लिया और बागेश्वरी पर छोड़ना चाहती थी कि मनहर सामने आ गया। वह बेधड़क जेनी के सामने चला गया, उसके हाथ से पिस्तौल छीन लिया और अपनी छाती में गोली मार ली।

प्रेमचंद

छाया-दर्शन

लार्ड अर्विन और ब्रेल्सफोर्ड
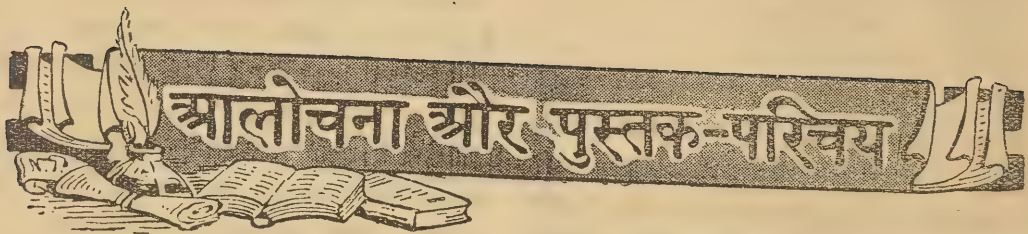
The Rival of Dr. Tagore (अँगरेज़ी)—लेखक, प्रो० शैवाल, 'मोहिंद्र' कालेज, पटियाला; प्रकाशक, वही; मूल्य लिखा नहीं।

पुस्तक के शीर्षक से यह कल्पना की जाती है कि उसमें डा० टगोर के प्रतिद्वंद्वी कवि के जीवन या उसके काव्य पर ही प्रकाश डाला गया है, परंतु पुस्तक पढ़ने से विदित होता है कि लेखक महोदय ने डा० टगोर के प्रतिद्वंद्वी के जीवन पर कम, डा० टगोर के शांति-निकेतन के जीवन पर अधिक प्रकाश डाला है। आपने 'शांतिनिकेतन' के वातावरण में विश्व-कवि की वह विश्व-वाणी नहीं सुनी, जो आज विश्व में समादर की वस्तु हो रही है। आपको वहाँ 'हाथी के दाँतों' के दर्शन हुए (I wonder if the poets too, have double hearts like the teeth of elephant). लेखक अपने 'दर्द दीवाने' पंजाबी युवक-कवि का संदेश लेकर शांति-निकेतन पहुँचे थे। वहाँ आपको रवि बाबू से मिलने और आश्रमवासियों के हृदय तक पहुँचने में जो कटु अनुभव हुए, उसी का फल यह 'पुस्तक' है। लेखक 'कवि' के काव्यरूप को शांति-निकेतन के 'राजसी उत्तरा-यण' में न देख सके। आपको वहाँ प्रांतीयता, आडम्बर-प्रियता और हृदयहीनता ही देख पड़ी और देख पड़ी 'परस्परं प्रशंसन्ति, अहो रूपमहोध्वनिः' की भावना। विश्व-कवि के अन्य आलोचकों का भी यह मत है कि वह अपने जीवन का अपने काव्य से तादात्म्य नहीं स्थापित कर सके। श्री० पूर्णसिंह ने उनकी कविता की आलोचना करते हुए लिखा था—"Tagore's mysticism is too abstract and impersonal in nature." 'टगोर' जयदेव के समान अपने काव्य में तन्मय नहीं दिखते। उनके 'विश्वप्रेम' ने उन्हीं की स्वाभाविक रागात्मिका वृत्तियों से उनकी चिंतना का सामंजस्य नहीं होने दिया। इसी से यदि प्रो० शैवाल को विश्व-कवि का 'हृदय' उनकी 'वीणा की झंकार' से पृथक् देख पड़ता है, तो आश्चर्य ही क्या है! प्रो० शैवाल ने इस पुस्तक में पंजाब के एक अज्ञात कवि के हृदय का किंचित् परिचय कराया है। साथ ही यह विश्वास भी दिलाया है कि यह कवि 'रवींद्र' की 'कल्पना' की उड़ान से भी बहुत ऊँचा उड़ा है। आपने अपने कथन के समर्थन में रवि बाबू और पंजाबी कवि की एक-दो कविताओं की तुलनात्मक आलोचना

भी की है। स्त्री के रहस्यमय सौंदर्य को मनुष्य की कल्पना छू भी नहीं सकती—इस भाव की ओर इंगित करते हुए पंजाबी कवि कहता है—

Even in the fullness of thy charms,
Thou art too vagul like moon,
We can not pierce thy mystic shroud,
Then why shouldst thou lurk there.
Behind these masks and veils ?

'पंजाबी कवि' की एक कल्पना की बानगी और लीजिए—

The gardener rears a rose but can't
Control its scent, it runs
With any breeze it likes.

(माली गुलाब को पनपाता है, पर वह उसकी सुरभि को अपने तक ही सीमित नहीं रख सकता—वह उसके वश में नहीं रह सकती। वह किसी भी समीर के झोंके के साथ बह जाती है।) स्थानाभाव से हम पंजाबी कवि के सुकुमार हृदय से प्रवाहित होनेवाली और भी मीठी काव्य-धाराओं का परिचय नहीं दे सकते। तो भी हमसे उसकी निम्नलिखित पंक्तियों के उद्धृत करने का लोभ-संवरण नहीं हो सका। प्रेमिका के हृदयालिंगन के पूर्व यदि मेरी मृत्यु हो जाय, तो हे देव ! मेरे इन आँसुओं को, जिन्हें मैं तेरे अनंत अंचल में बिखेरे जाता हूँ, 'उस' तक पहुँचा देना—

Poor Lord, I go for thee, But if
I die before I cross
Her high threshold, I pray, convey
My tears which I for her
Leave here in thy Eternity.

हमें यह जानकर प्रसन्नता हुई कि प्रो० शैवाल पंजाब के इस उत्कृष्ट कवि को साहित्यिक जगत् में रवि बाबू से टक्कर लेने के लिये उपस्थित कर रहे हैं। हम किसी कवि के व्यक्तित्व के भक्त नहीं, हम तो 'कविता' के सौंदर्य के उपासक हैं। यदि शैवालजी के 'कवि' हमें टगोर की कल्पना से भी ऊँचे जगत् में ले जाते हैं, तो हमें उनकी महानता स्वीकार करने में आपत्ति न होगी। हमें दुःख है, जैसा कि प्रो० शैवाल ने अपनी भूमिका में लिखा है कि कुछ हिंदी के प्रकाशक पंजाबी कवि की, रवि बाबू की कविताओं से तुलना प्रदर्शित करनेवाली, पुस्तकों को प्रकाशित करने में भयभीत हो रहे हैं। इसी से उन्हें अपनी इच्छा के विरुद्ध अँगरेज़ी में पुस्तिका को प्रकाशित करना पड़ रहा है। प्रो० साहब की शुद्ध साहित्यिक भावना की क़द्र करते हुए भी हम उनकी आलोचना-शैली से ज़रा भिन्न मत रखते हैं। आपने इस पुस्तक में रवि बाबू के प्रति 'खीझमयी भावना' रक्खी है—आलोचना का Tone कहीं-कहीं अधिक उग्र एवं उच्छृंखल भी हो गया है। पुस्तक को आदि से अंत तक पढ़ने से यह प्रतीत होता है कि कोई अपमानित 'पंजाबी भाई' किसी अभिमानी 'बंगाली माशा' से 'मल्लयुद्ध' करने को उतर पड़ा है। आपकी 'भाषा' में इसी भावना की 'ललकार' है। फिर भी, पुस्तक पढ़ने में कम आनंद नहीं आता, पुस्तक में व्यंग्य-चुटकियों की कमी नहीं। लेखक किसी भी घटना का वर्णन करना ख़ूब जानते हैं। भाषा निर्दोष एवं काव्यमय है। साहित्यिक जगत् की सीमा को 'प्रांतीयता' से बाँध देने के भी हम हामी नहीं हैं। प्रो० शैवाल के कवि की रचनाएँ यदि काव्य की ऊँची सतह पर तरंगित होने योग्य होंगी, तो वह शैवालजी के ही नहीं, पंजाब के नहीं, भारत के ही नहीं, विश्व के सर्ववंद्य कवि होंगे। हम शैवालजी के 'पंजाबी कवि' की कविताओं के सुंदर संग्रह की उत्सुकता से प्रतीक्षा करते हैं।

विनयमोहन शर्मा

× × ×

मोक्षप्रदीप (केरलीय भाषा से अनुवादित)—मूल-लेखक, स्वामी ब्रह्मानंद 'शिवयोगी'; अनुवादक व प्रकाशक, स्वामी निष्कलानंद; पृष्ठ-संख्या ३८८; स्कूली साइज़, काग़ज़-छपाई उत्तम; मूल्य २॥); मिलने का पता—स्वामी निष्कलानंद, देहरादून (यू० पी०)।

इस ग्रंथ में मूल-लेखक स्वामी ब्रह्मानंद 'शिवयोगी'जी का एक चित्र और आप ही की लिखी एक ३३ पृष्ठ की चटपटी भूमिका भी है एवं आदि-अंत में दो-चार बातों का और भी संपुट है। इसकी प्रकरण-सूची के नामों में—जाति-भेद-खंडन-प्रकरण, कलिकालवाद-खंडन-प्रकरण, यज्ञादि-खंडन-प्रकरण, भिक्षाटन-खंडन-प्रकरण आदि और 'मनःसिद्धौ जातिभेद-त्यागसिद्धिः', 'मनःसिद्धौ शास्त्रादि-निराकरण-सिद्धिः' इस प्रकार के मनःसिद्धौ के साथ प्रायः १८ प्रकरण, इनके अतिरिक्त

दूसरे नामों के कुल मिलाकर ३८ प्रकरण हैं । इस पुस्तक को देखने से ज्ञात होता है कि उक्त शिवयोगीजी महाराज ने वेद से लेकर साधारण विषय तक के ग्रंथों को अपनी अलौकिक योगशक्ति के प्रभाव से विचार की कसौटी पर घिस डाला एवं पूर्णब्रह्म को झटपट हथियाकर ख़ूब ही बारीकी से पहचाना है, और प्राचीन-नवीन दार्शनिकों के अज्ञान, भ्रम, माया, मोह को एकबारगी ही कूट-पीटकर देशनिकाला दे दिया है । समझ में नहीं आता कि वर्तमान युग में किन साधन-सामग्रियों से इस मोक्षप्रदीप का स्वागत करके जिज्ञासुगण भव-सागर के पार उतरने में सफल होंगे, किस मठ या पीठ में इस योगाभ्यास के लिये समाधि लगानी पड़ेगी ? और उसके लिये उपयुक्त पात्र कहाँ से सर्वतोभद्र मिल सकेंगे ? क्योंकि ऐसे मार्ग के पथिकों को '...मणिराकरोद्भवः प्रयुक्तसंस्कार इवाधिकं बभौ' होना पड़ेगा । अस्तु ! स्वामीजी ने दोनों हाथ लड्डू बाँटे हैं । जिसके भाग्य में बदा होगा, उसी को स्वाद का भी अक्षय सुख मिलेगा ।

हर्ष की बात है कि सांप्रत काल में हिंदी-साहित्य की सेवा आध्यात्मिक, दार्शनिक आदि तलस्पर्शी विचार-वैचित्र्यों के द्वारा भी भर-पेट की जा रही है ।

× × ×

श्रीहस्तसंजीवनम्—श्रीमहामहोपाध्याय श्रीमेघविजय-गणिविनिर्मितम् । संद्विप्तलहर्याख्यव्याख्यया विभूषितम् । जैन-शिल्पज्योतिषविद्यामहोदधि-श्रीमज्जैनाचार्यजयसूरीश्वरचरणान्ते-वासिना प्रतापमुनिना संशोधितम् । तच्च प्रकाशिका मुनिश्रीमोहन-लालजीजैनग्रंथमाला, इंदोर सिटी (मालवा), वीर-संवत् २४५६ । पृष्ठ-संख्या २३८+५६=२९४; मूल्य ३); पता—मुनि श्रीमोहनलालजी जैनग्रंथमाला-कार्यालय, पीपली बाजार, द्राख-वाला जैन-मंदिर, इंदौर सिटी (मालवा) ।

यह जैन-संप्रदाय के अनुसार हस्तरेखा-विचार (Palmistry) पर संस्कृत में श्लोकबद्ध एवं टीका-समेत लंबा-चौड़ा ग्रंथ है । आदि में संपादक प्रताप मुनिजी की लिखी तीन पत्रों की संस्कृत में ही ऐतिहासिक भूमिका भी है । और तीन चित्र हैं, जिनके नीचे क्रम से लिखा है—(१) विश्ववंद्य परमपूज्य प्रातःस्मरणीय मुनि महाराज- श्रीमोहनलालजी महाराज, (२) परम-पूज्य प्रातःस्मरणीय मुनि महाराज श्रीमोहनलालजी के पट्टधर शिष्य पन्यासजी श्रीहर्षमुनिजी महाराज, (३) श्रीमंधिर स्वामी शासनाधिपति अधिष्ठायिका पंचागुली महादेवी । यह तीसरी महादेवीमूर्ति सिंहवाहिनी, अष्टा-दश भुजाओं में भिन्न-भिन्न आयुधों से सज्जित है । यह हाथ की पाँच उँगलियों में निवास करनेवाली महादेवी हैं । इन्हीं के अखंड प्रताप से यह 'हस्तसंजीवनम्' नाम सार्थक जानना चाहिए । इसके सिवा भिन्न-भिन्न हस्त-चित्र कई हैं और बड़ी गहरी छान-बीन करके शुभाशुभ फलों का विचार किया गया है तथा कुछ अधिक मनो-नियोग से समझ में आता है ; क्योंकि 'नारिकेलफल-सम्मितं वचः' वाली बात है । जैनपंडितों के सिवा दूसरे लोग भी टक्कर लेने से लाभ उठा सकते हैं ।

इन दिनों अँगरेज़ी, बँगला, हिंदी और संस्कृत में दो-चार उत्तम ग्रंथ इस विषय पर प्रकाशित हो चुके हैं । लखनऊ-नवलकिशोर-प्रेस के प्राचीन आचार्य श्रीशक्तिधर सुकुलजी का ग्रंथ, जो कई बँगला-ग्रंथों के आधार पर रचा गया है, सर्वसाधारण के प्रयोजनीय है । कई वर्ष हुए कलकत्ते के 'हिंदी-बंगवासी' आफ़िस से सामुद्रिक का एक छोटा संस्कृत-ग्रंथ हिंदी-अनुवाद के साथ निकला था । उसका आरंभ 'समुद्र उवाच' से किया गया है । समय ने पलटा खाया है, सत्य की खोज में लोग तत्पर हैं ।

गिरिजाप्रसाद द्विवेदी

× × ×

डाल्टन-प्रणाली—लेखक, डाक्टर रत्नसिंह रावत ; प्रकाशक, स्वाधीन प्रेस, अल्मोड़ा; पृष्ठ-संख्या ६५; मूल्य ॥)

इस समय शिक्षक-समुदाय के सामने यह बहुत बड़ा प्रश्न है कि प्रारंभिक शिक्षा की क्या प्रणाली हो । जनता की ओर से यह शर्त लगी हुई है कि प्रणाली ऐसी हो, जिससे माता-पिता तथा सरकार पर ख़र्च का भार कम हो । यों तो पाश्चात्य देशों में अनेक शिक्षाविधियाँ निकली हैं, परंतु वे हमारे लिये उस समय तक उपयोगी नहीं हो सकतीं, जब तक हम उन्हें सस्तगी की कसौटी पर न कस लें ।

इधर कुछ समय से पाश्चात्य देशों में प्रारंभिक शिक्षा के लिये किंडर-गार्टन तथा मांटसीरी-प्रणाली का और माध्यमिक शिक्षा के लिये डाल्टन-प्रणाली का प्रचार किया जा रहा है । अस्तु, देश की आर्थिक स्थिति तथा उसमें

अविद्या का विस्तार देखते हुए यह निश्चय करना है कि शिक्षाक्षेत्र में इन प्रणालियों का कहाँ तक प्रचार हो सकता है और यदि हो सकता है, तो किस रूप में।

इन प्रणालियों का प्रचार पाश्चात्य देशों के शिक्षा-विकास की उस अवस्था में हुआ है, जब वहाँ अविद्या का प्रश्न हल हो चुका है। वहाँ ६० फ़ी सदी जनता शिक्षित हो गई है। इस शिक्षा से देशों की समृद्धि बढ़ गई है और उनकी सामाजिक दशा में भी परिवर्तन हो गया है। अब वे शिक्षाविधि को उन्नत करने की फ़िक्र में हैं। हमारे यहाँ अभी अविद्या का प्रश्न ही नहीं हल हो पाया है, इसलिये शिक्षाविधि को उन्नत करने की ओर अभी जनता का उतना ध्यान नहीं है, जितना विस्तार की ओर।

परंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि पाश्चात्य देशों ने इस ओर जो ज्ञानप्राप्ति की है, उससे हम लाभ न उठावें और अपनी शिक्षाप्रणाली की उन्नति न करें। इस विचार से हम प्रस्तुत पुस्तक का स्वागत करते हैं और देहात के प्रारंभिक तथा माध्यमिक शिक्षालयों के अध्यापकों से अनुरोध करते हैं कि वे उस पुस्तक का मंथन करें और इन पाश्चात्य प्रणालियों के सिद्धांतों के अनुसार अपनी पढ़ाई के ढंग को उन्नत करने का प्रयत्न करें। शर्त यही है कि पढ़ाई का ढंग बदलते समय इतना वे अवश्य देख लें कि नए ढंग से ख़र्च तो नहीं बढ़ रहा है। यदि नए ढंग से ख़र्च कम हो जाय, तो और भी अच्छा हो।

डाल्टन-प्रणाली की ओर ध्यान से देखिए, तो मालूम होगा कि यह हमारी गुरुशालाओं की पाठ्य-प्रणाली का पश्चिमी अनुरूप-मात्र है। हमारे गुरुजी का ढंग यह था कि ४० या ५० लड़के बैठे हैं, कोई हिसाब कर रहा है, कोई हिंदी पढ़ रहा है, कोई जोड़-बाक़ी लगा रहा है, तो कोई ब्याज-बट्टे तक पहुँच गया है; कोई अक्षर-ज्ञान तक पहुँचा है, तो कोई बही लिखने योग्य भी है—सभी को गुरुजी एक साथ पढ़ा रहे हैं, सब अपनी-अपनी चाल से उन्नति कर रहे हैं। यही ढंग डाल्टन-प्रणाली में है। भेद केवल इतना है कि लड़कों को अपना-अपना काम बता दिया जाता है और अध्यापक नियत अवधि पर उसकी जाँच करते रहते हैं। अँगरेज़ी ढंग की डाल्टन-प्रणाली में काग़ज़ और किताबों का ख़र्च बहुत बढ़ जाता है।

परंतु देहात की माध्यमिक शालाओं में ख़र्च बढ़ाने का ढंग नहीं रखना चाहिए। लड़के स्लेट या तख़्ती पर काम करके बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। उनके लिये पाठ्य-पुस्तक का ख़र्च ही यथेष्ट है। यदि विशेष सामान की आवश्यकता हो, तो देहात ही से प्राप्य वस्तुओं द्वारा वह तैयार किया जाय। चित्रों को ख़रीद कर उनके द्वारा पढ़ाने में उतना आनंद नहीं है, जितना काले तख़्ते पर खरिया से चित्र बनाकर पढ़ाने में है।

प्रस्तुत पुस्तक में खेल द्वारा प्रारंभिक शिक्षा के जो ढंग बताए गए हैं, उनमें ख़र्च बढ़ने की संभावना नहीं मालूम होती। लेखक महोदय अपने अनुभव से लिख रहे हैं, इसलिये आशा है कि पुस्तक में आपने जिस खेल-प्रणाली के उदाहरण दिए हैं, वे मार्गप्रदर्शन के लिये अध्यापकों को यथेष्ट होंगे। हमारा विचार तो यह भी है कि यदि इन नवीन प्रणालियों का समझदारी से प्रचार किया जाय, तो शिक्षा का ख़र्च प्रति विद्यार्थी कम हो सकता है; क्योंकि प्रचलित प्रणाली में बचत की अभी क़ाफ़ी गुंजाइश है।

कालिदास कपूर

× × ×

सिद्धप्रयोगपारिजात—लेखक और प्रकाशक, पं० मुरारीलाल शर्मा वैद्यशास्त्री, हवेली खरगपुर (मुंगेर); आकार मँझोला (डबलक्राउन १६ पेजी); छपाई और काग़ज़ संतोष-जनक; पृष्ठ-संख्या १३८; मूल्य १)

श्रीपं० मुरारीलालजी वैद्यशास्त्री, मालूम होता है, चिकित्सा का कार्य बहुत दिनों से कर रहे हैं। इस पुस्तक में उन्होंने अपने अनुभूत शास्त्रीय, गुरु-परंपरागत तथा अन्य प्रकार से उपलब्ध प्रयोगों का संग्रह छपाया है। आपका कहना है कि "मेरे ३० वर्ष बल्कि इससे भी २-४ वर्ष अधिक के अनुभव से जो जाना गया है और आयुर्वेद-समुद्र से उत्तमोत्तम निकाला हुआ रत्न गुरु-परंपरा से तथा पुरानी हस्तलिखित पुस्तक के (से) सैकड़ों बार आजमाया हुआ प्रत्यक्ष फलप्रद प्रयोग सर्व-साधारण मनुष्यों व वैद्यों के लिये निष्कपट भाव से लिखा जाय, तो आयुर्वेद की उन्नति किसी अंश में अवश्य हो।" इसी के आगे आपने लिखा है—

"अनुभूत प्रयोगों का भूत आज समस्त संसार के आयुर्वेद-प्रेमियों के मस्तक पर चढ़ा हुआ है। यद्यपि

आयुर्वेद के समस्त प्रयोग अनुभूत हैं, मिथ्या एक भी नहीं, कारण त्रिकालज्ञ तपोनिष्ठ महर्षियों की तपोबल से सहस्रों वर्ष की आयु होती थी और अनेकानेक बार का आज़माया हुआ प्रयोग ही लिखते थे, बिना आज़माया एक भी नहीं, किंतु जैसी हालत में जो प्रयोग चलाना चाहिए, यह साधारण मनुष्य नहीं जानते, वैद्यवर जानते हैं और बिना निदान यानी बग़ैर रोग की पहचान हुए, कोई भी उत्तम-से-उत्तम प्रयोग रहे, लाभ नहीं करता।"

हम आपकी इन बातों से सहमत हैं। आशा है, समझदार वैद्य और सद्गृहस्थ लोग आपके इन प्रयोगों का अनुभव करके लाभ उठावेंगे।

× × ×

अनुभूत बालचिकित्सा—लेखक, प्रकाशक, आकार, छपाई, कागज आदि सब पूर्वोक्त; पृष्ठ-संख्या ८७ और अंत में ६ पृष्ठ का परिशिष्ट; मूल्य ॥=)

पुस्तक का विषय उसके नाम से ही प्रकट है।

दोनों पुस्तकें प्रकाशक से प्राप्य।

शालग्राम शास्त्री

× × ×

स्वप्नवासवदत्ता—अनुवादक, श्रीमैथिलीशरणजी गुप्त; प्रकाशक, साहित्य-सदन चिरगाँव, झाँसी; सुंदर आवरणयुक्त जिल्द, छपाई-सफ़ाई बहुत बढ़िया; काग़ज़ भी चिकना और मोटा; आकार छोटा और पृष्ठ-संख्या सवा सौ; मूल्य दस आने।

उक्त साहित्य-सदन से प्रकाशित 'साहित्य-मणि-माला' की यह तीसरी मणि है। बहुत सुंदर है। संस्कृत-साहित्य में महाकवि भास का नाम सुप्रसिद्ध है। आप कवि-कुल-गुरु कालिदास से भी बहुत प्राचीन हैं। नाट्य-रचना में आप कालिदास से कम नहीं हैं। अभी थोड़े ही दिन हुए, आपके तेरह ग्रंथ-रत्नों का पता चला है। उनमें से यह 'स्वप्नवासवदत्ता' अन्यतम है।

इस नाटक में पाठकों को रस-सुधा के अतिरिक्त यह स्वर्गीय दृश्य भी देख पड़ेगा कि एक पति की दो पत्नियाँ, समय पड़ने पर, किस उदारता से रह सकती हैं। वासवदत्ता का चरित्र बड़ा ही उदार और उदात्त है और उससे भी बढ़कर उसकी सपत्नी पद्मावती का।

अनुवाद भी अच्छा हुआ है; परंतु गुप्तजी स्वतंत्र रचना में जैसे कृतकार्य होते हैं, वैसे अनुवाद में नहीं। यह कटु सत्य कहने के लिये अंतरात्मा प्रेरणा करती है। पुस्तक पठनीय और संग्रहणीय है, हिंदी की स्थायी चीज़ है। यह नाटक खेलने योग्य भी है।

× × ×

पृथ्वीराज चौहान (नाटक)—लेखक, श्रीगोविंदरामजी गुप्त 'वसंत'; प्रकाशक, बेलवेडियर-प्रेस, प्रयाग; छपाई-सफ़ाई और काग़ज़ साधारण; पृष्ठ-संख्या दो सौ से ऊपर, और मूल्य १)।

नाटक खेलने योग्य नहीं है; क्योंकि बहुत बड़ा है। चित्र भी कितने ही दिए हैं; पर सब भद्दे और बेढंगे! मुख-पृष्ठ पर पृथ्वीराज और संयोगिता का चित्र है, जिसमें उक्त सम्राट् ऐसे मालूम पड़ते हैं, जैसे कोई ग्रामीण बदमाश! यही हाल संयोगिता का है! भीतर के भी सब चित्र ऐसे ही हैं। भाषा में ग़लतियाँ कम हैं; पर वह है बिलकुल साधारण—नाटक के अयोग्य। भावों में गांभीर्य नहीं है। परंतु हाँ, लेखक का उद्देश्य और विषय अच्छा है।

भूमिका में लेखक महाशय दृश्यकाव्य-प्रचलित 'स्वगत-कथन' से बहुत चिढ़े हैं और प्रकृत नाटक में इस महाव्याधि से बचने की प्रतिज्ञा की है, परंतु खेद है, इच्छा रखते हुए भी आप नहीं बच सके हैं। पद-पद पर स्वगत-कथन भरे पड़े हैं; परंतु उनकी स्पष्टता 'स्वगत' लिखकर नहीं की गई है। हाँ, एक आविष्कार और हुआ है—'अर्द्ध-स्वगत' का! यह 'अर्द्ध-स्वगत' क्या बला है और -स्वगत से इसमें क्या अंतर है?

नाटक में दिए हुए पद्यों में से अधिकांश अच्छे बन पड़े हैं। लेखक महाशय नाटक की अपेक्षा श्रव्यकाव्य के प्रणयन में शायद अधिक सफल हो सकते हैं। कुल मिलाकर पुस्तक तो बुरी नहीं है; पर मूल्य कुछ अधिक जान पड़ता है।

× × ×

अंजना सुंदरी (नाटक)—लेखक, श्रीउमाशंकरजी मेहता; प्रकाशक, एस्० एस्० मेहता एण्ड ब्रादर्स, काशी; छपाई-सफ़ाई और काग़ज़ साधारण; पृष्ठ-संख्या लगभग सवा सौ और मूल्य (अजिल्द का) ॥।); प्रकाशक से प्राप्य।

इसका कथानक पौराणिक है, जिसका संबंध श्री-हनुमान्‌जी के जन्म से है। श्रीहनुमान्‌जी की मा अंजना देवी के पातिव्रत्य का प्रदर्शन है। इनकी कथा श्रीसीताजी के निर्वासन और पुनः सम्मिलन से बिलकुल मिलती-जुलती है।

कथानक उत्तम होते हुए भी नाटक बिलकुल भद्दा और बेढंगा है; प्रत्युत 'नाटक' नाम पाने का अधिकारी भी नहीं है। भाषा अशुद्ध और मुहाविरे ग़लत हैं। भावों का तो नाम ही न लेना चाहिए। पद्य के नाम से बीच-बीच में अंडबंड तुकबंदियाँ हैं—निरी बे-सिर-पैर की! इसको भक्तजन पढ़ें, तो अवश्य आनंद आएगा; किंतु यदि कोई साहित्यिक हुआ, तो बारह आने पैसे और कम-से-कम तीन घंटे का समय व्यर्थ गया समझकर तीन ही घंटे फिर पछताने में लगाएगा।

मेरी राय में तो लेखक महाशय नाटक न लिखकर कहानी-सी कुछ लिखते, तो अच्छा होता; साधारण मा-बहनों के लिये कुछ उपयोगी होती।

× × ×

मोहन-मोहिनी (नाटक!)—लेखक, पं० श्रीलक्ष्मी-नारायणजी क० चतुर्वेदी और प्रकाशक भी वही; छपाई आदि 'थर्ड क्लास'; पृष्ठ-संख्या ६२ और मूल्य ॥)

यह 'चौबे-लक्ष्मी-लता' का प्रथम गुच्छ (!) है!

मिलने का पता है—श्रीलक्ष्मीनारायणजी चतुर्वेदी, हिंदी-अध्यापक, श्रीगोदावत जैन गुरुकुल पो० छोटी सादड़ी (मेवाड़), वाया नीमच छावनी।

एक कल्पित कहानी लिखी है, उसी को आपने नाटक नाम दिया है। नाटक में कल्पित नहीं, ऐतिहासिक या सच्ची घटना का वर्णन होता है। कल्पित कथानक 'प्रकरण' में होता है। यही नाटक और प्रकरण में मोटा भेद है। परंतु यह तो नाटक और प्रकरण कुछ भी नहीं है! महज़ तमाशा है। कहीं का ईंट और कहीं का रोड़ा जोड़ दिया गया है। भाषा भोंड़ी और अशुद्ध है। हमें इसमें कोई भी बात अच्छी नहीं मिली, सिवा लेखक के उद्देश्य के। आपका उद्देश्य अच्छा है—बाल-विवाह-निवारण! परंतु इससे क्या? हम तो उद्देश्य या विषय की नहीं, किंतु पुस्तक की आलोचना कर रहे हैं। थोड़े में यह कि पुस्तक कौड़ी काम की भी नहीं।

किशोरीदास वाजपेयी

१. गोबर की खाद

भारतवर्ष कृषिप्रधान देश है। यही कारण है कि यहाँ पर ७० फ़ी सदी आदमी देहातों में रहते हैं। किंतु खेद के साथ लिखना पड़ता है कि ऐसा बड़ा कृषिप्रधान देश होकर भी यहाँ की फ़सलों की पैदावार दिन-पर-दिन कम होती जाती है। इसका मूल-कारण एक-मात्र यही है कि यहाँ के लोग लगातार एक खेत में बार-बार वही फ़सल लगाते हैं और खाद का उपयोग तो वे शायद जानते ही नहीं। ऐसा कोई किसान न होगा, जिसके पास थोड़ी बहुत मवेशी न हों। इन मवेशियों का जो गोबर होता है, उसका वे क्या करते हैं! इसको वे खाद के उपयोग में न लाकर किसी दूसरे ही काम में लाते हैं। वे इसके कंडे बनाते और ईंधन के काम में लाते हैं या मकान वग़ैरह की लिपाई उससे करते हैं। यदि वे इस गोबर का ईंधन के रूप में उपयोग न करें, खाद के रूप में उपयोग करें, तो वे ज़मीन को उपजाऊ बनाकर, अच्छी-अच्छी फ़सलें पैदा कर देश की हालत को और ख़ुद अपनी हालत को सुधार सकते हैं।

यद्यपि यह देखा गया है कि अधिकतर किसान यह मंज़ूर करते हैं और ख़ुद समझते हैं कि गोबर की खाद देने से ख़रीफ़ की फ़सल और कछवारों की फ़सलों को अधिक लाभ होता है और उनकी पैदावार भी कई गुना बढ़ जाती है, फिर भी कुछ किसान ऐसे भी मिलेंगे, जो यह समझते हैं कि गोबर की खाद से लेशमात्र भी लाभ नहीं होता।

गोबर की खाद से मतलब है—सड़ा हुआ या अध-सड़ा गोबर, मूत्र और कूड़ा-कचरा इत्यादि। यह सब प्रकार के खाद्यों से पुराना और साधारण है। प्रायः आधे से अधिक घास वग़ैरह और प्रायः सब चूनी-भूसी-खली इत्यादि जो जानवरों को खिलाई जाती है, पच जाती है और बाक़ी गोबर के रूप में निकल आती है। अब जो पची हुई चीज़ बहुत ख़ून बनाती है और उसमें जो नत्रजन और पोटाश रहता है, वह मूत्र के रूप में निकल आता है। इसलिये गोबर कड़ा रहने से उसमें जो मूत्र मिल जाता है, उससे बहुत ही अच्छा खाद्य बन

जाता है और वह ज़मीन को उपजाऊ बनाने में बड़ा लाभकारी होता है। इसलिये ऐसा कहा जाता है कि सबसे अच्छा खाद्य वह है, जिसमें अधिक मूत्र हो। मान लो, हम अपने बैल को ज्वारी खिलाते हैं, तो उसका सबसे अधिक लाभदायक भाग, जिसे ज्वारी के पौदे ने ज़मीन से लिया था, गोबर और मूत्र के रूप में निकल आता है। परंतु याद रक्खो, खाद्य के गुण जानवर के भोजन पर निर्भर हैं। यदि जानवर को खाने को अच्छा दिया जाता है तो उसके गोबर और मूत्र से जो खाद्य बनेगा, वह भी अच्छा और लाभकारी होगा। इससे हमारा यह तात्पर्य नहीं है कि अच्छी खली खिलाओगे, तो उससे अच्छा खाद्य मिलेगा; क्योंकि अच्छी खली तभी कही जा सकती है, जब उसमें अधिक तेल हो. परंतु अच्छा खाद्य तभी कहा जा सकता है जब उसमें अधिक नत्रजन हो। अलसी की खली, जिसमें सिर्फ़ सात फ़ी सदी तेल रहता है, दूसरी क़ीमती खली की अपेक्षा, जिसमें दस फ़ी सदी तेल रहता है, अच्छा खाद्य देती है। इसके सिवा मूत्र का अच्छापन जानवर पर भी निर्भर है। जिन जानवरों में अधिक चर्बी होती है, वे सिर्फ़ ५% नत्रजन रखते हैं, बाक़ी सब मूत्र में बहा देते हैं। परंतु बढ़नेवाले जानवरों (बछड़े इत्यादि) और दूध देनेवाली गायों को अधिक नत्रजन की आवश्यकता पड़ती है, इससे उनका मूत्र कम लाभकारी होता है; क्योंकि उसमें नत्रजन कम रहता है। इससे चर्बीवाले जानवर, बछड़ों और दूध देनेवाली गायों की अपेक्षा अच्छा खाद्य देते हैं।

जब देखा जाता है कि मूत्र में बहुत-सा पोटाश और आधे से अधिक नत्रजन रहता है, तो किसी तरह भी उसे बरबाद न होने देना चाहिए; उसमें घास इत्यादि कूड़ा-कचरा मिला देना चाहिए तथा सड़ाकर खाद्य बना लेना चाहिए। ऐसा करने से सिर्फ़ कूड़ा-कचरा ही नहीं सड़ जाता है, बल्कि गोबर का खाद्य इससे बहुत अच्छा और लाभदायक बन जाता है; क्योंकि उसमें बहुत-सी उपयोगी वस्तुएँ मिली रहती हैं। कूड़े-कचरे आदि में भी काफ़ी तादाद में नत्रजन और पोटाश रहता है। इसमें क़रीब एक टन में १८ शिलिंग उपजाऊ बनाने की वस्तुएँ रहती हैं। खाद्य में कूड़े-कचरा का औसत नीचे दिया जाता है।

	नत्रजन	फ़ास्फोरिक एसिड	पोटाश
ओट या जई का पयाल	०.५०	०.२४	१.००
गेहूँ ,, ,,	०.४५	०.२४	०.८०
जौ ,, ,,	०.४०	०.१८	१.००
ब्रेकन (Bracken) ,, ,,	१.४	०.२	०.१
Peat Moss ,, ,,	०.८	०.१	०.२

यह औसत १०० पौंड खाद का बताया गया है। ब्रेकन और पयाल बहुत ही अच्छे होते हैं। मोटी और रेतीली मिट्टी में यह बहुत ही लाभदायक हैं। Peat Moss का बहुधा उपयोग ही नहीं होता; क्योंकि पयाल बहुत तादाद में मिलता है।

खाद की आवश्यकता

जब हम कोई भी फ़सल उगाते हैं, तो वह अपने-आप बढ़ने के लिये कुछ-न-कुछ भोजन चाहती है। उसका कुछ भोजन हवा में से और कुछ ज़मीन की मिट्टी के लवण में से प्राप्त होता है। यदि हम हर साल फ़सलें लगाते और बेचते जायँ और ज़मीन को कोई चीज़ न दें, तो ज़मीन ग़रीब याने कम उपजाऊ हो जावगी। अच्छी फ़सलें लेने के लिये हमें ज़मीन को भी खिलाना अति आवश्यक है और ज़मीन का सबसे उत्तम भोजन वही पदार्थ है जो हमको जानवरों से गोबर और मूत्र के रूप में मिलता है। सचमुच यदि किसान सावधान है याने वह जो कुछ फ़सल से पैदा करता है उसी में से वह जानवरों को खिलाता है, तो बहुत सरलता से जो कुछ ज़मीन में से निकलता है, उसे भी उसे वापस कर सकता है।

खाद की अच्छाई किन बातों पर निर्भर है?

(१) जो जानवर खाद देता है, वह किस प्रकार का है। इसका प्रभाव खाद पर किस तरह से पड़ता है, यह उपर बताया जा चुका है, (२) जानवर किस काम के लिये रक्खा गया है, (३) कितना गीलापन और कितना कचरा खाद्य में है, (४) भोजन जो जानवर को दिया जाता है, (५) किसान की सावधानी, जिससे किसी प्रकार की हानि न हो।

यह देखा गया है कि एक मन भेड़ों का खाद्य एक मन बैल के गोबर के खाद्य से अधिक उपयोगी है। इस लेख में पहले ही बता चुके हैं कि जितना अच्छा भोजन जानवर को मिलेगा, उतना अच्छा खाद्य वह देगा।

खाद की तैयारी

मूत्र दो तरह से बचाया जाता है—(१) गायों और बैलों की सार की फ़र्श को पत्थरों से पटवाने से और जानवरों की पिछाड़ी की तरफ़ एक नाली होने से मूत्र को इकट्ठा कर सकते हैं। इस फ़र्श को पानी से धोना चाहिए, परंतु जितना कम हो सके, उतना कम पानी काम में लाना चाहिए। और, यह सब गोबर उठाने के बाद करना उचित है। पानी से धोने से मूत्र नाली में बह जाता और एक गड्ढे में जमा होता है। वहाँ से वह खाद्य के गड्ढे में डाला जाता है।

(२) कोई ऐसी चीज़ रखने से, जो मूत्र को सोख ले, काम चल सकता है। इसका कचरा, घास, पत्ते और सूखी मिट्टी उपयोगी है। अक्टोबर से जून तक सूखी मिट्टी बहुत लाभदायक है। बरसात में यह अधिक उपयोगी नहीं है। यह सूखी मिट्टी कई प्रकार से काम में लाई जा सकती है; परंतु नीचे लिखी रीति बहुत ही उपयोगी है। बरसात समाप्त होने के बाद मिट्टी और कचरा सब अलग कर देना चाहिए। सार का फ़र्श खोदना चाहिए और इतना खोदना चाहिए कि पहले वह ६″–८″ गहरा हो जाय। इस खुदी हुई जगह में ३″–४″ ऊँची सूखी मिट्टी डालनी चाहिए। यह सूखी मिट्टी चार हफ़्ते तक मूत्र सोखेगी, परंतु इसकी सहायता के लिये इसको क़रीब एक हफ़्ते तक ढीला कर देना चाहिए। चार हफ़्ते के बाद इस पर ३″ ऊँची सूखी मिट्टी और डालनी चाहिए। इसी तरह हर बार करते जाना चाहिए।

गोबर

इसके लिये यह बात ध्यान में रखना चाहिए कि गोबर में बहुत पानी न भरने पावे और वह बहुत सूखने भी न पावे। हमें उसे अच्छी तरह से ठाँसकर गड्ढे में रखना चाहिए।

इसका परिमाण जानवरों की गिनती पर निर्भर है। जितने ज़्यादा जानवर रक्खोगे, उतना ही बड़ा गड्ढा बनाना आवश्यक है। एक आयताकार गड्ढा गहरा खोदा जाता है। इसके किनारे पर चारों तरफ़ एक दीवार बनाई जाती है, जो सिर्फ़ ज़मीन की सतह तक रहती है। दोनों तरफ़ लंबाई में और एक तरफ़ चौड़ाई में दीवार ऊँची बनाई जाती है, जिससे काफ़ी गहराई आ जाय। एक तरफ़ दीवार इसलिये नहीं बनाई जाती है कि भरने में और ख़ाली करने में सहूलियत रहे। इसके ऊपर एक मामूली छप्पर बनाया जाता है, जो लकड़ी के छोटे-छोटे खंभों पर सँभला रहता है। इससे पानी और धूप की रुकावट रहती है।

जब यह बनकर तैयार हो जाय तो फिर इसमें गोबर, मूत्र, कचरा आदि भरना चाहिए और इस तरह से अच्छा खाद्य तैयार कर लेना चाहिए।

गोबर-खाद्य का प्रभाव

खाद्य	१० साल की कपास की औसत पैदावार	विना खाद्य पर लाभ	१० साल की ज्वार की औसत पैदावार	विना खाद्य पर लाभ
	पौं०	पौं०	पौं०	पौं०
१ गोबर और मूत्र	७०८	३८७	८०२	३७१
२ गोबर	५२३	२०२	६७१	२४०
३ मूत्र	५२१	२००	६५५	२२४
४ कोई खाद्य नहीं	३२१	...	४३१	...

खाद्य	फाडर ज्वार की औसत पैदावार पौं०
१ गोबर और मूत्र	१२,९९९
२ गोबर	१०,७६०
३ मूत्र	११,४४२
४ कोई खाद्य नहीं	६,०२६

कपास एक एकड़ से	कपास एक एकड़ से
गोबर और मूत्र—७०८ पौं०	मूत्र—५२१ पौं०
बिना खाद्य के—३०१ पौं०	गोबर—५२३ पौं०
कुल　१००९ पौं०	कुल　१,०४४ पौं०

इन सब अंकों से साफ़ ज़ाहिर होता है कि बिना खाद के पैदावारी सबसे कम होती है और गोबर और मूत्र की खाद सबसे अधिक पैदा होती है। इसलिये किसानों को चाहिए कि वे खाद के उपयोग को समझें, उसे अच्छी तरह अपनावें और अच्छी पैदावार कर उन्नतिशील बनें।

गोबर की खाद का जो प्रभाव पड़ता है, वह मुख्यतः दो प्रकार का है—(१) मिट्टी पर बहुत अच्छा असर पड़ता है और (२) ज़मीन में अधिक समय तक पानी को रोके रहने की ताक़त बढ़ जाती है।

जिस ज़मीन में गोबर की खाद दी जाती है, उसमें उस ज़मीन की अपेक्षा जिसमें कोई खाद नहीं दी गई है, जून के महीने में भी अधिक पानी मिलता है। सचमुच इस खाद से ज़मीन में पानी सोखने की इतनी ताक़त बढ़ जाती है कि बरसात का पानी सब सूखकर रह जाता है और बहकर जाने नहीं पाता। गोबर-खाद्य का प्रभाव ज़मीन को उपजाऊ रखने में किस तरह पड़ता है, इसके प्रमाण के लिये एक बार ऊपर बतलाए ढंग से खाद देकर देखना चाहिए।

गोबर की खाद का उपयोग

गोबर की खाद नत्रजन और पोटाश अधिक देती है, परंतु इसमें फास्फेट्स की कमी रहती है, और इसलिये सबसे अधिक लाभ तब होता है, जब यह किसी दूसरी खाद के साथ दी जाय। गोबर की खाद हमेशा जड़ों में दी जाती है—ख़ासकर आलू वग़ैरह की फ़सलों में। कुछ बीज में भी चली जाती है और कुछ चराई की ज़मीन में भी चली जाती है।

गोबर की खाद देने का समय अकसर आबहवा पर निर्भर रहता है। सिर्फ़ आबहवा पर ही नहीं, इसके साथ-साथ, फ़सल और कुलियों पर भी निर्भर है। मज़दूरों के लिहाज़ से देखा जाय, तो इसे, शीतकाल या पतझड़ में, खेतों में डालना लाभदायक होगा। अतएव उसे वसंत-ऋतु तक तैयार कर लेना चाहिए। ऐसा करना उन्हीं ज़िलों में लाभकारी है, जिनमें क़रीब ३० इंच या इससे कम पानी बरसता है। जिन ज़िलों में ३५ इंच या अधिक पानी बरसता है, वहाँ वसंत-ऋतु में देना ही उचित है।

गोबर की खाद सब खादों से सस्ती, अधिक मिलनेवाली, अधिक लाभकारी और अधिक उपयोगी है।

बी० एम्० चंदेल

× × ×

२. भारतीय व्यापार और व्यवसाय

(शेषांश)

आजकल भारतीय मिलें क़रीब २ अरब ७० करोड़ गज़ पैदा करती हैं; किंतु १९२७–२८ में भारतीय मिलों ने ३ अरब ३५ करोड़ ७० लाख गज़ कपड़ा तैयार किया था। तब से अब तक व्यापार बहुत बढ़ गया है। अहमदाबाद और उत्तर-भारत में कई नई मिलें चलने लगी हैं। किन्हीं-किन्हीं मिलों में रात में भी काम होता है और सो भी दुगुने शिफ़्ट से। इससे यह अनुमान ग़लत नहीं है कि भारतीय मिलों की उत्पत्ति क़रीब २ अरब ७० करोड़ गज़ है। और, देश में कपड़े की कुल खपत अधिक-से-अधिक ३ अरब ६० लाख गज़ है, इस प्रकार हमें ९० करोड़ गज़ कपड़े की ज़रूरत रह जाती है। पर बाहर से कपड़ा १ अरब ९० करोड़ गज़ आता है। उसे इस अनुपयुक्त संरक्षण-कर से कैसे रोका जा सकता है? यह कहना भी ठीक नहीं है कि जापान से ही भारतीय मिलों को धक्का लगा है। जापान से तो सफ़ेद सादे माल में ही प्रतिद्वंद्विता हुई है, जिसे हम लट्ठा वग़ैरह कहते हैं। पर लंकाशायर तो धोतियाँ और रंगीन माल में भारतवर्ष का मुक़ाबला करता है। १९२४–२५ में धोतियों की कुल खपत ९४ करोड़ ७० लाख गज़ थी। भारतीय मिलें आजकल ७० करोड़ गज़ माल तैयार करती हैं। इस प्रकार हमें सिर्फ़ २५ करोड़ गज़ बाहर का चाहिए। किंतु आमदनी ४८ करोड़ ८० लाख

गज़ की होती है। क़रीब-क़रीब यही आयात प्रतिवर्ष होता है। इधर १६२७–२८ में भारतीय मिलों ने धोती की पैदावार बढ़ा दी और ६१ करोड़ ६० लाख गज़ माल बनाया। इस अवस्था में या तो बाहर से माल आना बंद किया जाय या भारतीय मिलों पर कुल्हाड़ा मारा जाय। आयात न घटने के कारण पैदावार सिर्फ़ ५६ करोड़ ४० लाख गज़ रह गई। रंगीन कपड़े का आयात लंकाशायर से १६२४–२५ में ३३ करोड़ ८० लाख गज़ था और यही आमदनी प्रायः प्रतिवर्ष होती है। भारतीय मिलों की पैदावार १६२७–२८ में ६८ करोड़ १० लाख गज़ पहुँच गई थी; किंतु १६२८–२६ में ४८ करोड़ ७० लाख गज़ रह गई। मिलों के सब माल की पैदावार पर ध्यान दिया जाय, तो पता चलेगा कि यद्यपि कपड़े के आयात माल में वस्तुतः कोई कमी नहीं हुई है, तथापि भारतीय मिलों की पैदावार जो १६२७–२८ में २ अरब २५ करोड़ ७० लाख गज़ थी, वह १६२८–२६ में १ अरब ८६ करोड़ ३० लाख गज़ रह गई। इन अंकों से वस्तुस्थिति का पता चलता है। यदि लंकाशायर के साथ रियायत की जाती है, तो भारतीय व्यापारियों का रुपया पानी में फेंकना होगा। दो तिहाई कपड़े के आयात को अछूता न छोड़ने के लिये २० सैकड़े ड्यूटी या साढ़े तीन आने प्रति पौंड ड्यूटी सब विदेशी माल पर लगाई जाय। यदि यह नहीं लगाई जाती, तो लंकाशायर को जापान से भिड़ने का मौक़ा दिया जाता है। पिछले दो साल के अंकों से पता चलेगा कि युनाइटेड किंगडम के आयात में कितनी घटी हुई है—

	ग्रेट-ब्रिटेन—	अन्य देश
	गज़	गज़
१६२७-२८	१ अरब ५४ करोड़ ३० लाख।	४३ करोड़
	कुल जोड़ १ अरब ६७ करोड़ ३० लाख गज़	
१६२६,	१ अरब ३० करोड़,	६८ करोड़
	कुल जोड़ १ अरब ५४ करोड़ ३० लाख	

इस प्रकार नए टैरिफ़ में जितना हमें संरक्षण दिया जाता है, उतना ही ग्रेट-ब्रिटेन को हमसे दिलाया जाता है। ग़रीब भारतवासियों के धन से उस धंधे की रक्षा की जाती है, जो भारतवर्ष में नहीं है, बल्कि जिसने हमेशा भारतीय कपड़ों के व्यवसाय को नष्ट करने की इच्छा की है। हम शब्दों द्वारा अँगरेज़ी धंधों की रक्षा करने के विरोधी नहीं हैं; पर विदेशी धंधे की रक्षा अपनी जेब से करने के प्रश्न को नहीं स्वीकार कर सकते। मगर इस ढंग से ग़रीब भारतवासियों से प्रतिवर्ष दो करोड़ रुपए लंकाशायर के हित के लिये देने पड़ेंगे। यह सहायता दरअसल लंकाशायर के लिये है, इसे मेनचेस्टर चेम्बर आफ़ कामर्स के अध्यक्ष ने अपने वक्तव्य में स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है। श्रीयुत के० सी० राय ने कहा कि एक आस्ट्रेलियन अर्थशास्त्री के शब्दों में "ग्रेट-ब्रिटेन के कपड़े का व्यापार अमेरिका और जापान की प्रतिद्वंद्विता के कारण नष्ट हो रहा है; किंतु उन्हें अमेरिका से कोई अनुराग नहीं है, जहाँ भारतवासी तिरस्कृत किए जाते हैं, पर जापान के एशिया में होने के कारण उससे अनुराग है।" इस प्रकार के वक्तव्यों ने यह प्रकट किया कि इम्पीरियल प्रिफ़रेंस भारतवर्ष के लिये चुनौती है। साम्राज्य के माल को स्वदेशी की परिभाषा के अंतर्गत करना परले सिरे की मूर्खता है। जिन्हें अपने देश से अनुराग है, वे अपने देश के माल को ही प्रिफ़रेंस देंगे। यदि देशहित के लिये भारी कर भी देना पड़े, तो कोई हर्ज नहीं है; किंतु लंकाशायर को देने के लिये अधभूखे लोगों के पास कहाँ पैसे रक्खे हैं। जनता का धन छीनकर इँगलैंड को ढाई करोड़ रुपए देने के लिये विवश करना भी क्या आर्थिक स्वाधीनता है? इँगलैंड व्यवसाय में जापान का मुक़ाबला नहीं कर सकता; पर आज वह पराधीन भारतवासियों से लाभ उठाकर जापान को कुचलने के लिये पैर बढ़ा रहा है। आर्थिक स्वाधीनता के संबंध में पंडित मदनमोहन मालवीय ने जो सवाल उठाया था, उससे यह बात प्रकट हो गई है कि भारतीय व्यवस्थापिका परिषद् को पूर्णरूप से टैक्स आदि लगाने की ज़रा भी स्वाधीनता नहीं है।

सरकार की ओर से स्पष्ट कह दिया गया कि जो माँगते हैं, वह यह नहीं कह सकते कि इतना ही दो। उन्हें जितना मिलेगा, उतना लेना पड़ेगा। लंकाशायर ने भारत के हितों को सदैव कुचला है। वह इस देश की हर प्रकार की उन्नति में सदैव बाधक होता है। जब देश को आर्थिक स्वाधीनता प्राप्त है, तो लंकाशायर का भय करना व्यर्थ है। यह कहना कि अधिक कर से ग़रीब भारतवासी मर जायँगे, कोई अर्थ नहीं रखता। कपड़े का उद्योग देश का सबसे बड़ा उद्योग है, उसे अपने पैरों खड़ा करने से

इनकार करने में कोई भारतवासी विमुख नहीं होगा। पर यह उद्योग तभी उन्नति कर सकता है, जब विदेशी माल पर अधिक संरक्षण-कर हो। आस्ट्रेलिया की उन्नति अधिक करों के लगाने से हुई है। कनाडा, अमेरिका और संसार के अन्य बहुत-से देशों ने भारी कर लगा रक्खे हैं। संसार में कोई ऐसा भाग नहीं है, न कोई ऐसा देश है, जहाँ भारतवर्ष की तरह राष्ट्रीय उद्योग को संरक्षण देने से सरकार विमुख होती हो। क्या इन देशों के लोग मूर्ख हैं, जिन्होंने अपने उद्योग-धंधों को अपने पैरों पर खड़े होने के लिये भारी-से-भारी कर लगाए? यदि देश के राष्ट्रीय धंधे के लिये भारी-से-भारी कर लगाया जाय, तो देशवासी उसे चुकाने के लिये तैयार हैं। दूसरे प्रकार से भी देखा जाय, तो लंकाशायर का धंदा कोई नया नहीं है। उसका तो संसार में सब से बड़ा स्थान है। यदि उसने जापान के मुक़ाबले में भारत का बाज़ार कुछ खो दिया है, तो इसमें उसका श्रेय नहीं है। लंकाशायर ने पिछले ५ वर्षों में तीन करोड़ ४० लाख गज़ का आयात खो दिया है, और जापान ने इन्हीं वर्षों में ३ करोड़ ३० लाख गज़ आयात बढ़ा लिया है। इसमें जापान के संगठन की ख़ूबी है। अंतर-राष्ट्रीय क़ानून से भी किसी पर कम-ज़्यादा ड्यूटी नहीं लगाई जाती। इँगलैंड अन्य देशों की अपेक्षा जापान पर अधिक कर नहीं लगा सकता; पर पराधीन भारतवर्ष के लिये जो न हो, सो थोड़ा है। हज़ार विरोध करने पर भी सरकार ने श्रीयुत चेट्टी के संशोधन को स्वीकार कर टैरिफ़ बिल को पास करा लिया। लंकाशायर के लिये भारत का बाज़ार खोल दिया गया। सरकार की इस नीति से दुःखी होकर मालवीयजी ने परिषद् से स्तीफ़ा दे दिया और उनके साथ सभी राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं ने भी विदा ले ली। महामना मालवीयजी ने वाइसराय महोदय को जो पत्र लिखा, उसका स्थान राष्ट्र के इतिहास में महत्त्वपूर्ण रहेगा। उसमें अन्य बातों को बतलाते हुए उन्होंने लिखा था कि "रेलवे-बोर्ड कितने वर्षों से स्थापित है, पर उसमें न तो कोई भारतवासी मेम्बर बनाया गया और न भारतवासियों को सब बड़ी-बड़ी नौकरियाँ दी गईं। करंसी और एक्सचेंज की लूट का शुमार नहीं है। इस एक्सचेंज को १६ पेंस का स्थायी न करके सरकार ने १९०० से १९२९ तक १४० करोड़ का सुवर्ण बाहर जाने दिया है। १८ पेंस की हुंडी की दर से देश का जो अहित हुआ है, उसका अनुमान करना कठिन है। इसी से व्यापार गिर गया और लोगों की क्रय-शक्ति नष्ट हो गई। लोगों में भारी टैक्स देने की शक्ति न रही। व्यापारी और कारख़ानेवाले ही नष्ट नहीं हुए, किसान भी इस दर से तबाह हो गए। कपड़े के धंधे का नाश भी इसी से हुआ है।" इस प्रकार के पत्र को भेज देने के बाद महामना मालवीयजी ने पंजाब से लेकर दक्षिण तक भ्रमण कर विदेशी वस्त्र के बहिष्कार के लिये सभी शहरों के कपड़े के व्यापारियों से एक वर्ष तक विदेशी वस्त्र न ख़रीदने की प्रतिज्ञाएँ कराईं। कोई भी ऐसा शहर नहीं था, जहाँ के व्यापारी प्रतिज्ञा करने में पिछड़े हों। सारे देश ने प्रतिज्ञा कर ली कि विदेश से एक चिट भी नहीं मँगाएँगे और जो आर्डर भेजे गए थे, उनका भी माल लेने से इनकार कर दिया। सब विदेशी कपड़ा कांग्रेस की मुहर लगाकर रख दिया गया। दूकानें बंद हो गईं और बाज़ार बंद हो गए। बम्बई का विलायती कपड़े का सबसे बड़ा बाज़ार (जेठाजी मार्केट) व्यापारियों ने स्वयं ही बंद कर दिया। इसके अलावा इँगलैंड की अन्य सभी चीज़ों का भी बहिष्कार हुआ। बम्बई ने इस बहिष्कार-आंदोलन में उल्लेखनीय कार्य किया। इस सब आंदोलन का इतना प्रभाव पड़ा कि श्रीयुत बिट्ठलभाई पटेल को भी २५ एप्रिल को अध्यक्ष के स्थान से त्यागपत्र देना पड़ा। उनका पत्र राजनीतिक दृष्टि से बड़े महत्त्व का है। महात्मा गांधी और कांग्रेस का देश में प्रभाव, देश के आर्थिक कष्ट व कम-से-कम औपनिवेशिक स्वराज्य देने की बात उन्होंने सम्राट्, लायड जार्ज, बर्कनहेड, मज़दूर-मंत्रिमंडल प्रभृति सभी लोगों से स्पष्ट रूप में कही। उन्होंने लिखा कि ऐसे दमन के समय मेरा परिषद् में बैठना हास्यास्पद है। टैरिफ़बिल के संबंध में उन्होंने बतलाया कि इम्पीरियल प्रिफ़रेंस ज़बर्दस्ती लोगों के सिर मढ़ा गया। इसके बाद बाहर आकर उन्होंने देश में कहा कि विदेशी माल का पूर्ण बहिष्कार करो। अँगरेज़ी माल ज़रा भी न आने दो। उन्होंने आवाज़ उठाई कि एक वर्ष तक कपड़ा ही न ख़रीदो—ख़रीदो तो अपने देश का, सो भी गुज़र लायक़। अँगरेज़ी माल कैसा भी न ख़रीदो। अगर किसी विदेशी चीज़ की ज़रूरत हो, तो वह इँगलैंड की बनी हुई मत ख़रीदो। इस बहिष्कार

के साथ-साथ खादी की पैदावार बढ़ाने में लोग जुट गए। मिलवालों ने कांग्रेस से समझौता कर लिया। कांग्रेस ने उन ८४ मिलों के कपड़े की बिक्री में पूरी सहायता दी, जिनकी पूँजी भारतवासियों की थी और जिनका प्रबंध भी उनके हाथ में था। पर जिन मिलों के मालिक योरपियन थे और जिनमें अधिकांश पूँजी उन्हीं की लगी हुई थी, उनके माल का कांग्रेस ने बहिष्कार किया। इसके अलावा स्वदेशी माल के प्रचार के लिये बड़े-बड़े शहरों में स्वदेशी-प्रचार-सभाएँ व स्वदेशी माल की बड़ी-बड़ी प्रदर्शिनियाँ खोली गईं। अर्थात् हर प्रकार से स्वदेशी माल की खपत बढ़ाई गई। बम्बई ने स्वदेशी प्रचार और विदेशी बहिष्कार में आश्चर्यजनक कार्य किया। विदेशी वस्त्र और अँगरेज़ी माल का बम्बई ने जो बहिष्कार किया, उससे अधिकारीगण भी काँप उठे। पर बम्बई के मुक़ाबले में कलकत्ते के कपड़े के व्यापारी नहीं ठहरे। स्वदेशी प्रचार और स्वदेशी प्रदर्शिनियाँ कलकत्ते में भी हुईं; किंतु विदेशी वस्त्र के व्यापारियों ने अपनी दूकानें नहीं बंद कीं, बल्कि कांग्रेसी स्वयंसेवकों के मुक़ाबले में अपनी रक्षा के लिये नीले बैज के स्वयंसेवक खड़े किए, जो उनकी बिक्री में सहायता पहुँचाते। कलकत्ते के कपड़े के व्यापारियों में दक़ियानूसीपन और अराष्ट्रीयता इतनी अधिक है कि उन्होंने हमेशा देश की महत्वाकांक्षाओं का विरोध किया है। इस ज़बर्दस्त बहिष्कार का प्रभाव भारत-सरकार ने अपनी रिपोर्टों में स्वीकार किया। इतना ही नहीं, बम्बई के बहिष्कार-आंदोलन ने साम्राज्यभक्त श्रीमान् बीकानेर-नरेश की आँखें भी चकाचौंध में डाल दीं। उन्होंने कहा कि सरकार की १८ पेंस की एक्सचेंज व टैरिफ़ आदि की नीति ने ब्रिटिश भारत का ही व्यवसाय नष्ट नहीं किया है, अपितु उससे देशी राज्य भी तबाह हो गए हैं। बहिष्कार-आंदोलन में बम्बई के स्त्री-पुरुषों ने जो कार्य किया, उस संबंध में उन्होंने कहा कि "सरकार आज उन पर जैसा दमन कर रही है, वैसा तो हमारे पिछड़े हुए देशी राज्यों में भी नहीं होता है।" मगर लार्ड राथरमियर पर साम्राज्यभक्त बीकानेर-नरेश के उद्‌गारों का किंचित् प्रभाव नहीं पड़ा। उन्होंने कहा कि ब्रिटिश-व्यवसाय के लिये अँगरेज़ भारतवर्ष को नहीं छोड़ सकते। इसलिये हमारा कर्तव्य दृढ़तापूर्वक शासन करना है। पर इस बहिष्कार ने भारत में जो स्थिति पैदा कर दी और इँगलैंड और संसार के अन्य देशों में जो बेकारी हुई, उसे लार्ड इरविन तक को स्वीकार करना पड़ा। श्रीमान् वायसराय महोदय कहते हैं कि "इसमें ज़रा भी अतिशयोक्ति नहीं है कि सत्याग्रह-आंदोलन ने भारतवर्ष के समस्त व्यापारिक और औद्योगिक केंद्रों के व्यवसाय को नष्ट कर दिया है, और उसका प्रतिफल कृषि पर घातक रूप से पड़ेगा, जिससे सब प्रकार की पैदावार के बाज़ार नष्ट हो जायँगे। सिवा इसके इस आंदोलन का अवांछनीय प्रभाव सारे संसार पर पड़ेगा; क्योंकि भारतवर्ष में संसार की एक पंचमांश आबादी है और भारतवर्ष की आर्थिक शिथिलता से संसार-भर प्रभावित होगा।" इस प्रकार वाइसराय महोदय कहते हैं कि इस बहिष्कार से संसार के सब देशों के बाज़ार गिर गए हैं, सराफ़े डावाँडोल हो गए हैं, भयंकर बेकारी फैलने की नौबत आ गई है। भारत-सरकार के अर्थ-सदस्य सर जार्ज शूस्टर को भी अर्थ-मंत्रि-मंडल की कानफ्रेंस में कहना पड़ा कि "भारतवर्ष और चीन में जो राजनीतिक आंदोलन हो रहे हैं, जिनमें संसार की आधी जनसंख्या रहती है, उन्हीं के कारण संसार के बाज़ार गिर गए हैं।"

इस आंदोलन से सबसे अधिक बेकारी इँगलैंड में फैली। यहाँ की सरकार यदि उन बेकारों की रक्षा न करे, तो ग्रेट ब्रिटेन में भीषण उपद्रव मच जाय। अब उन्हें खेती करने के लिये कहा जाता है; किंतु अँगरेज़ मज़दूर खेती करके गुज़ारा नहीं कर सकते। अमेरिका, जर्मनी, आस्ट्रेलिया, कनाडा, ब्रेज़िल, आफ़्रिका तथा जापान आदि सभी देशों में बेकारी फैल गई। चीज़ों के दाम इतने अधिक गिर गए कि कुछ ठिकाना नहीं। भारतवर्ष में ही पाट के दाम ३० सैकड़ा, गेहूँ ३८ सैकड़ा, रुई ४० सैकड़ा, चावल १४ सैकड़ा और मूँगफली २० सैकड़ा तथा अन्य चीज़ों के दाम में इसी प्रकार कमी हो गई। ये दाम कहाँ तक गिरेंगे, इसे कोई नहीं कह सकता। भारतीय रुई का निर्यात प्रायः बंद है। यदि खादी और भारतीय मिलों का कपड़ा प्रत्येक भारतवासी पहनने लगे, तो भी २,६०,००० टन रुई बच रहती है। पर अंकों के देखने से यह कहा जा सकता है कि भारतवर्ष को अपनी खपत के अलावा प्रतिवर्ष ३७ लाख टन रुई का निर्यात करना आवश्यक है। भारतीय रुई और पाट आदि की खपत तो संसार

में होगी ही; किंतु कोई शक्तिशाली देश पराधीन भारतवर्ष में तोपों और किर्चों के सहारे व्यापार नहीं कर सकता। व्यवसाय होना तो आपस के राज़ीनामे और बराबरी के बर्ताव पर निर्भर है। यदि आज भारतवर्ष अँगरेज़ी माल नहीं चाहता, तो कोई भी मज़बूर नहीं कर सकता कि हम अँगरेज़ी माल ख़रीदें। मगर यह सोचना मूर्खता है कि बहिष्कार की भावना बदला लेने या द्वेष पर निर्भर है। बहिष्कार प्रेम और अपनी उन्नति, अपने परिश्रम से, करने का द्योतक है। इसलिये जब तक भारतवर्ष को आर्थिक स्वाधीनता नहीं प्राप्त होगी, तब तक किसी को भी अधिकार नहीं है कि इंपीरियल कानफ़्रेंस में, उसके गले में इंपीरियल प्रिफ़रेंस किसी भी रूप में, डालना मंज़ूर करे। भारतवर्ष अपनी वर्तमान अवस्था में कभी उसे स्वीकार नहीं कर सकता। अगर भारतवर्ष इंपीरियल प्रिफ़रेंस स्वीकार कर ले, तो उसे औपनिवेशिक स्वराज्य मिल जायगा—इस प्रस्ताव का समर्थन भारतवर्ष कभी नहीं कर सकता। इंपीरियल प्रिफ़रेंस की घातक आर्थिक साँकल को गले में डालने पर स्वराज्य का मूल्य क्या रहेगा? ब्रिटेन के हित के लिये आज भारतवर्ष पर जो मनमाने आर्थिक बंधन लाद दिए गए हैं, वही तो आज की मुख्य लड़ाई है। इस्पात के उद्योग को व बंबई के कपड़े के उद्योग को संरक्षण देते हुए जो साँकल भारतवासियों के गले में डाली गई, वह आज परतंत्रता के कारण हमें सहनी पड़ती है। मगर औपनिवेषिक स्वराज्य की प्राप्ति के लिये यदि हम बंधन स्वयं ही अपने गले में डालना स्वीकार कर लें, तो यह कहना पड़ेगा कि हमारी समझ का दिवाला निकल गया। इंपीरियल प्रिफ़रेंस के बदले में भारतवर्ष स्वराज्य नहीं मोल ले सकता। इंपीरियल प्रिफ़रेंस स्वीकार करने पर भारतवर्ष का स्वराज्य आज की पराधीनता से भी अधिक घातक होगा। ब्रिटिश माल भारतवर्ष का जीवन देकर नहीं ख़रीदा जा सकता। इस संबंध में बंबई के गोरे पत्र 'टाइम्स' ने एक मनोरंजक अग्रलेख लिखा है। आर १०१-नामक हवाई जहाज़ के नष्ट होने पर क्षोभ प्रकाश करते हुए वह कहता है—"We ought not to buy British goods at the cost of British life." अर्थात् ब्रिटेन के लोगों का जीवन जिससे नष्ट हो, ऐसा कोई भी ब्रिटिश माल नहीं ख़रीदना चाहिए। टाइम्स की यह सूचना भारतवासियों के लिये बड़े महत्त्व की है। उसका अर्थ यह है कि अँगरेज़ी माल कितना ही दर्शनीय और सुंदर दिखता हो; तो भी वह भीतर से कमज़ोर होता है—अर्थात किसी-न-किसी समय प्राणघातक हो जाता है। इस प्रकार का जो ब्रिटिश माल हो, उसे अँगरेज़ों को अपना जानकर भी नहीं ख़रीदना चाहिए। भारतवासियों को टाइम्स के इस उपदेश से लाभ उठाना चाहिए। बच्चों के दर्शनीय खिलौने, मैंचेस्टर की धोतियाँ और तरह-तरह की कलें आदि आज इँगलैंड और अन्य देशों से कितने अधिक परिमाण में आती हैं, पर हम इतने दूसरों के अधीन बन गए हैं कि सिर फूटने पर भी हम उन्हें ख़रीदने के लिये दौड़ते हैं। क्या हममें इतनी बुद्धि पैदा होगी कि भारतीय जीवन की रक्षा के लिये हम ब्रिटिश माल न ख़रीदें, देश का सौभाग्य समझना चाहिए कि भारतवासियों ने ब्रिटेन के माल का ज़बर्दस्त बहिष्कार कर करोड़ों रुपए विदेश में जाने से रोक दिया है। लंकाशायर की अनेक मिलें बंद हो गईं। बहुत-सी मिलें लोहे के दामों में नीलाम हुई हैं। इन मिलों के कारण वहाँ के अन्य व्यवसाय भी नष्ट हो रहे हैं। क़रीब एक लाख मज़दूर बेकार हो गए। तीन वर्ष से लंकाशायर बड़ी कठिनाई से रक्षा कर रहा था, भारत-सरकार ने इंपीरियल प्रिफ़रेंस देकर उसकी सहायता की थी; मगर भारतवासियों ने बहिष्कार-आंदोलन द्वारा उसका उद्योग संकट में डाल दिया है। बड़ी-बड़ी मिलें साधारण मूल्य में बिकीं। वहाँ के व्यापारियों की अवस्था नाज़ुक हो गई है; क्योंकि कारख़ानों की पूँजी डूबती हुई चली जा रही है। सात-आठ महीने के अंदर—प्रत्येक महीने में दो-दो करोड़ की कमी होते-होते बहिष्कार यहाँ तक पहुँच गया है कि लंकाशायर के कपड़े, इँगलैंड व ब्रिटिश साम्राज्य से आनेवाले माल में करोड़ों रुपए की कमी हो गई है। यद्यपि प्रति सप्ताह अब भी कलकत्ता, मदरास और कराँची ही नहीं, बहिष्कार के मुख्य स्थान बंबई में भी विलायत से विदेशी कपड़ा आता है, तथापि उसे कोई भारतवासी नहीं मँगाता। जो अँगरेज़ी कंपनियाँ मँगाती हैं, उनका माल या तो बंदरगाहों में पड़ा रहता है या गोदामों में। उधर इँगलैंड की यह दशा है, इधर भारतवर्ष में भी कच्चे माल व खाद्य-पदार्थों के

भाव बे तरह घट गए हैं। पैदावार के भावों में कमी होने से किसान तड़प रहे हैं, और लाखों-करोड़ों का व्यापार करनेवाले व्यापारी हाथ-पर-हाथ धरे बैठे हैं। उनके नुक़सान का अनुमान करना कठिन है। कच्चे माल के करोड़पती पूँजीपति भी बाज़ार को नहीं सँभाल सके और कितनों के दिवाले निकल गए। वे करोड़पती भी अपनी साख क़ायम नहीं रख सके, जो सरकार को करोड़ों का कर्ज़ दिया करते थे। इस आर्थिक दुरवस्था का कारण जहाँ चीज़ों का भाव गिरना है, वह सिक्के की कमी भी है। सरकार ने लाखों रुपए का सिक्का चलन से हटाकर लोगों को तबाह किया है। भारतवर्ष कृषि-प्रधान देश है, वह कच्चा माल सबसे अधिक पैदा करता है। यदि उसके दामों में कोई परिवर्तन हो, तो उसका असर देश के आर्थिक और औद्योगिक जीवन पर पड़ता है। १९२५ से जब से सरकार ने गोल्ड स्टैंडर्ड को हटा दिया, तब से चीज़ों के दाम गिरते चले जा रहे हैं। संसार के अन्य देशों में भी भिन्न-भिन्न कारणों से चीज़ों के दाम गिरे हैं। आरंभ के वर्षों में धीरे-धीरे भाव गिरते गए, किंतु १९२९ के छः महीने बीत जाने पर तो भाव बेतरह गिरे हैं। ब्रिटिश बोर्ड आफ़ ट्रेड के अंकों से विदित होता है कि दामों का औसत कैसे किस प्रकार गिरा। नीचे के विवरण में चार वर्ष के अंक, १९१३ के आधार पर दाम की रक़म १०० मानकर, तैयार किए गए हैं—

	१९२६	१९२७	१९२८	१९२९
ग्रेट-ब्रिटेन	१४३·१	१४१·६	१४०·३	१३६·५
हालैंड	१४५	१४८	१४९	१४२
स्वीडन	१४९	१४६	१४८	१४०
स्विट्ज़रलैंड	१४४·५	१४२·२	१४४·६	१४१·२
कनाडा	१५६·३	१५२·७	१५०·६	१४९·४
ब्रिटिश-भारत	१४८	१४८	१४५	१४१
अमेरिका	१५७	१३६	१४०	१३८

यह अंक गोल्ड-स्टैंडर्ड के आधार पर हैं। इन अंकों से यह स्पष्ट प्रकट होता है कि चीज़ों के दाम गिरने का विपरीत प्रभाव इस देश की क्रयशक्ति पर पड़ा है। यह तो नुक़सान धीरे-धीरे हुआ ही; हुंडी की दर से १२½ सैकड़े दाम और भी गिर गए। दूसरा कारण है चाँदी के बाज़ार का बेहद गिर जाना। यह प्रकट बात है कि भारतवर्ष में चाँदी का सबसे अधिक व्यापार है। उसमें कृत्रिम उपायों से इतनी कमी लाने से न केवल क्रयशक्ति ही घटी, बल्कि जनता के विश्वास में भी धक्का पहुँचा। इन बातों के देखते हुए भी यह कहना कि देश में यह आर्थिक संकट सत्याग्रह-आंदोलन के कारण हुआ है, परले सिरे की मूर्खता है। यह आंदोलन तो इस देश की आर्थिक स्वतंत्रता के लिये है। इस आंदोलन से विदेशी माल व कपड़ा आना बंद हुआ। यदि यह आंदोलन न छिड़ता, तो आयात माल के गिरते हुए भावों के कारण यहाँ के व्यवसायियों को न-जाने कितना अधिक घाटा उठाना पड़ता और इस देश से करोड़ों रुपए ग़ायब हो गए होते। बहिष्कार-आंदोलन के प्रभाव से कई देशी धंधे पनप गए और वे विदेशी चीज़ों का स्थान ले रहे हैं। भारतीय मिलों को अब अच्छे दिन नसीब हुए हैं। अमेरिका, इँगलैंड, जर्मनी, इटली और जापान आदि की मिलों की पैदावार में २५ सैकड़ा तक कमी हो गई है; किंतु भारतवर्ष में जब से आंदोलन चला है, तब से पैदावार कम होने का कोई सवाल ही नहीं। बंबई की कुछ मिलें जो बंद हो गई हैं, वह सत्याग्रह के कारण नहीं, बल्कि बंबई की अन्य मिलों के मुक़ाबले जुदे-जुदे ढंग का बढ़िया माल तैयार करने में असमर्थ थीं। जितनी वे मिलें बंद हुईं, उतना ही पैदावार की कमी की पूर्ति बंबई और उत्तर-भारत में डबल शिफ़्ट से काम लेने और रात में भी काम करने से हुई। पर लोगों की माली हालत ख़राब होने से भारतीय मिलों के कपड़े की खपत में भी कमी आ गई है। जिस देश की करोड़ों संतानों को दिन में एक बार भोजन मिलता है, या वे भूखी रह जाती हैं, उन्हें कपड़ा कहाँ से नसीब हो। फिर भी भारतीय मिलें लंकाशायर के मुक़ाबले में अच्छी चल रही हैं। लंकाशायर के माल के आयात में कमी अगस्त तक ६७ सैकड़ा थी, और यह बहिष्कार क़ायम रहने से आयात घटता ही चला जायगा। जितनी इस आयात में कमी हुई, उतनी ही वृद्धि भारतीय मिलों की पैदावार की खपत में होगी। इस प्रकार बहिष्कार-आंदोलन से भारतीय मिलों को जीवन मिला। जो मिलें बंद होने-वाली थीं या जो अपनी पैदावार घटानेवाली थीं, वे अच्छी तरह से चलने लगीं और मज़दूरों के बेकार होने का भी प्रश्न नहीं रहा। इनके लिये यह स्वर्ण अवसर

है। अमेरिकन रुई का बढ़िया से बढ़िया कपड़ा भारतीय मिलें बनाने लगी हैं। यदि वे ३३ करोड़ भारतवासियों को पूर्ण रूप से ढक सकीं, तो यह देश स्वतंत्र हो जायगा। इसलिये बहिष्कार-आंदोलन ने देश के व्यवसाय का उस संकट-काल में रक्षण किया है, जब उसका सर्वनाश होनेवाला था। स्वदेशी की हलचल के प्रभाव से गत वर्ष भारतीय मिलों में २५,५०,००० रुई की गाँठों की खपत हुई, जिनमें १,५०,००० गाँठें विदेशी रुई की थीं। पिछले वर्ष की अपेक्षा कितनी खपत बढ़ी है, इसका अनुमान नीचे के विवरण से सहज ही में किया जा सकता है—

	रुई की गाँठें
गत वर्ष—मिलों में खपत	२५,५०,०००
विदेशी रुई की खपत	१,५०,०००
भारतीय रुई की खपत	२४,००,०००
इस वर्ष का अनुमान	२७,७५,०००
विदेशी रुई	२,२५,०००
भारतीय रुई	२५,५०,०००

इसके अलावा हैंडलूम के उद्योग में ७,५०,००० गाँठों की कम-से-कम खपत है। विदेशों में अब भी भारतीय रुई का ३५,००,००० गाँठों की खपत है। कहना न होगा कि भारतीय रुई की खपत में इस प्रकार वृद्धि स्वदेशी आंदोलन के कारण है। इस प्रकार बहिष्कार-आंदोलन से भारतवर्ष के व्यवसाय और उद्योग-धंधों की रक्षा हुई है, किंतु उसने ब्रिटेन के निर्यात व्यापार को बेहद गिरा दिया है, और वहाँ बेकारी बढ़ा दी है। इस वर्ष जुलाई में ब्रिटेन के माल का निर्यात ३६·७ मिलियन पौंड था, जो गत वर्ष इसी मास में ५३·२ मिलियन पौंड था। गत वर्ष की अपेक्षा ब्रिटेन के कपड़े के व्यापार का निर्यात ५० फ़ीसदी गिर गया है।

ब्रिटेन से निर्यात　　तैयार माल

(मिलियन पौंड में)

जुलाई १९२९	५३·२
जनवरी १९३०	४४·७
फ़रवरी १९३०	४१·२
मार्च १९३०	४२·५
एप्रिल १९३०	३६·७
मई १९३०	३९·८
जून १९३०	३३·८
जुलाई १९३०	३६·७

ब्रिटेन से कपड़े का निर्यात

(मिलियन पौंड में)

अगस्त १९२९	८७,७५,४२९
जनवरी १९३०	८०,७५,९९७
फ़रवरी १९३०	७५,२०,००८
मार्च १९३०	६९,११,२०३
एप्रिल १९३०	५४,०६,१५७
मई १९३०	५४,९०,६९९
जून १९३०	४१,७५,८५८
जुलाई १९३०	५१,७४,८८४
अगस्त १९३०	४४,३५,२३०

भारत में कितना कपड़ा आया—

(लाख रुपयों में)

जनवरी १९३०	४८९
फ़रवरी ,,	३९९
मार्च ,,	४५४
एप्रिल ,,	३९७
मई ,,	३२४
जून ,,	२१४
जुलाई ,,	१६४

पाठक देखेंगे कि भारत में ब्रिटेन के कपड़े का आयात कितना रह गया। यदि यह बहिष्कार अधिक ज़ोरदार हो जाय, तो ब्रिटेन के कपड़े का आयात एकबारगी बंद हो जायगा। कांग्रेस भी राजनीतिक अधिकार देश को दिलाने के पहले यह चाहती है कि विदेशी कपड़े पर ५० फ़ीसदी ड्यूटी आयात माल पर लगाना स्वीकार किया जाय। इस बहिष्कार से जहाँ बम्बई की बेकारी मिटी और मज़दूरों की हड़तालें बंद हुईं, वहाँ ब्रिटेन में बेकारी बढ़ती चली गई—

ब्रिटेन में बेकारी के अंक

अगस्त १९२९	११,९९,०००
जनवरी १९३०	१५,२०,०००
फ़रवरी ,,	१५,८३,०००
मार्च ,,	१६,९४,०००
एप्रिल ,,	१७,६१,०००
मई ,,	१८,५६,०००

जून	१६३०	१६,१२,०००
जुलाई	,,	२०,७०,०००
अगस्त	,,	२०,३६,१३२
सितम्बर	,,	२१,०६,६५८

अस्तु, ब्रिटेन में इस प्रकार बेकारी बढ़ती ही जायगी। भारत में मज़दूरों को मिलों में काम मिलता जायगा। बहिष्कार के प्रभाव से खादी की पैदावार बढ़ाने के लिये किसान और मध्यम श्रेणी के लोग भी चर्ख़ा और कर्घा चलाकर देश की भयंकर बेकारी को दूर करने में सहायक होंगे।

यह बहिष्कार कितना फलप्रद हुआ है, इसका प्रमाण कस्टम की आमदनी से दिया जा सकता है। सितम्बर १६३० में कस्टम की आमदनी ३४,३३,००० रुपए थी, जो इसी मास में, सन् १६२६ में, ४,०६,२८,००० रुपए और १६२८ में ४,०६,७०,००० थी।

गत छःमासकी आमदनी सितंबरतक, २३,३७,८४,००० रुपए हुई, जो इस अवधि में १६२६ में २४,८१,८२,००० रुपए और १६२८ में २३,५३,५२,००० रुपए थी। पर विदेशी सूत और सूती माल के आयात में इस प्रकार घटी हुई है—

(हज़ार रुपयों में)

आमदनी—	
सितम्बर १६३०	६४६
सितम्बर १६२६	२,१५२
सितम्बर १६२८	२,६४६
एप्रिल से सितम्बर १६३०	५,३३८
एप्रिल से सितम्बर १६२०	८,४४१
एप्रिल से सितम्बर १६२८	६,८२८
वार्षिक आमदनी १६२८–२६	११,४८१
,, ,, १६२६–३०	१५,६१८
बजट का अनुमान १६३०–३१	१६,२००

इस बजट के अनुमान में बेहद कमी होगी; क्योंकि लंकाशायर के सूती माल के निर्यात में अन्य देशों के लिये ३७ फ़ीसदी और भारतवर्ष के लिये ६७ फ़ीसदी घटी हुई है। इस घटी ने बम्बई से ७२,००० तकुए डबल शिफ़्ट और दिन-रात चलने लगे हैं, और वहाँ प्रतिमास ६०,००० गाँठें (हरएक गाँठ ३६० पौंड वज़न की) कपड़े की और ६४,००० गाँठें (हरएक गाँठ ४०० पौंड वज़न की) सूत की तैयार होने लगी हैं। नीचे के विवरण से बम्बई के सूत और कपड़े की पैदावार स्पष्ट रूप में प्रकट होती है—

सूत—मार्च महीने में

सन् १६२८	सन् १६२६	सन् १६३०
पौंड	पौंड	पौंड
२,२५,३०,८५६;	२,३३,५४,४७१;	२,२२,८८,१७०

बारह महीने में—एप्रिल से मार्च तक

१६२७–२८	१६२८–२६	१६२६–३०
पौंड	पौंड	पौंड
३१,८७,४६,८६२;	१५,३७,५२,८६३;	२६,३२,१६,७४४

जून महीने में

१६२८	१६२६	१६३०
पौंड	पौंड	पौंड
३,००,६१०;	१,१५,२३,६१५;	२,५५,७५,८८६

३ महीने में—एप्रिल से जून

१६२८	१६२६	१६३०
पौंड	पौंड	पौंड
१,७४,८८,०५६;	४,४१,५४,१०२;	७,६८,३१,६०८

कपड़ा—मार्च महीने में

	१६२८	१६२६	१६३०
पौंड	१,८६,२४,००२;	१,६८,३२.४४६;	१,८६,५५,३६४
गज़	८,५३,७६,८०६;	७,४२,४४,६६५;	८,४६,३६,३६४
दर्जन	७७,६०४;	८०,८६७;	७२,६३०

१२ महीने में—एप्रिल से जून

	१६२७–२८	१६२८–२६	१६२६–३०
पौंड	२६,५६,३६,६३६;	१२,२०,७७,८२७;	१६ ७६,१४,०३६
गज़	१,१३,१५,२०,८३२;	५३ ७४,०२,७६०;	८८,८६,४४३१५
दर्जन	८,१७,३१७;	४,६३,७३१;	७,७७,७१७

जून महीने में

	१६२८	१६२६	१६३०
पौंड	१६,१२,६१०;	८७,७६,६६७;	१,६७,४१,०२६
गज़	८७,४६ ८८०;	३,६४,६८,६२०;	८,८६,३६,०४०
दर्जन	२,५८८;	२५,१२०;	६१,१२५

तीन महीने में–एप्रिल से जून

	१६२८	१६२६	१६३०
पौंड	१,७५,५५,८३०;	३,३६,३६,६३२;	५,७१,६४,६३२
गज़	७,६५,६६,८३०;	१५,३०,४३,५२२;	२५,७१,८०,५६५
दर्जन	७१,६४७;	१,७१,४६३;	१,३१,८४४

जिस बम्बई की यह अवस्था थी, उसे वस्त्र-बहिष्कार-आंदोलन ने कितना बल दिया, यह हाल की उत्पत्ति से प्रकट होता है। इस आंदोलन ने बम्बई के कपड़े के धंधे को जीवन दिया है। इस पर जो लोग यह कहें कि इस आंदोलन से यहाँ की मिलें नुक़सान उठा रही हैं, वे इँगलैंड के हित में बोल रहे हैं।

जी० एस्० पथिक
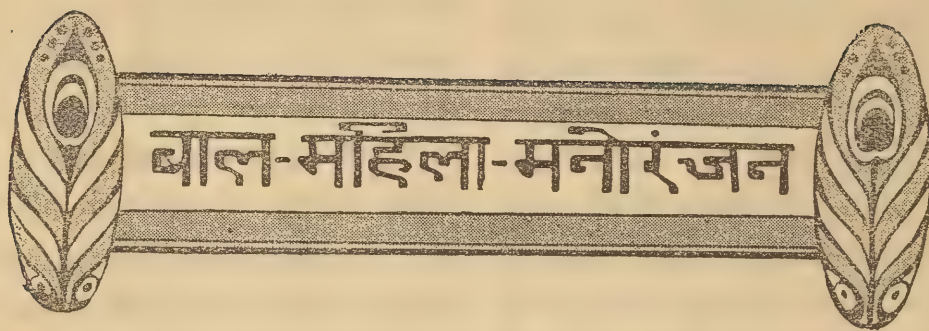
१. निवेदन

जगदीश ! तुम्हारी छाया में,
हम नाम और यश प्राप्त करें;
अपने प्रिय-दुखिया भारत का,
सब शोक और संताप हरें।
विचलित न कभी हों क्लेशों से,
साहसी, वीर, बलवान बनें;
धीमान् बनें, गुणवान् बनें,
मा की सच्ची संतान बनें।
उर ओज-उमंगों से भर दो;
'कवि नेह" यही हमको वर दो।

शम्भूदयाल त्रिपाठी "नेह"

× × ×

२. सीख

फूलों से हम हँसना सीखें,
भौंरों से गुनगुन गाना;
कोयल से स्वतंत्र हो सीखें,
हम स्वतंत्रता अपनाना।
दूध और पानी से सीखें,
मेल सभी से नित करना;
दृढ़ होना पर्वत से सीखें,
जल से सबका हित करना।
पाकर शक्ति हवा से सीखें,
नहीं गर्व से भर जाना;
सीखें मछली से स्वदेश—
के लिये तड़पकर मर जाना।

गौरीशंकर "लहरी"

× × ×

३. वीर हक़ीक़तराय

बालको ! तुम इस पवित्र भारतवर्ष के अन्न-जल से पाले-पोसे जा रहे हो, यह तुम्हारी जन्मभूमि है। इसके प्रति तुम्हारे बहुत-से कर्तव्य हैं, जिन्हें तुम बड़े होने पर करोगे। इस समय तुम्हें कम-से-कम इतना अवश्य जान लेना चाहिए कि यह भूमि किसलिये और क्यों प्रसिद्ध है। यों तो धन के लिये अमेरिका, विज्ञान के लिये जर्मनी, राजनीति के लिये ब्रिटेन, हठ के लिये टर्की एवं व्यापार और कलाकौशल के लिये जापान प्रसिद्ध हैं ही, किंतु इस गए-गुज़रे समय में भी यह भारतभूमि धर्म के लिये ही मशहूर है; क्योंकि यहाँ के बूढ़े-जवान, लड़के-बच्चे, स्त्री-पुरुष सब अपने-अपने काम धर्म की दुहाई देते हुए करते आए हैं। आज हम तुम्हें एक ऐसे बालक की कहानी सुनाते हैं, जिसने धर्म की रक्षा के लिये अपने प्राण तक भी हँसते-हँसते दे दिए। तुममें कितने ऐसे हैं, जो तनिक सज़ा, थोड़ी झिड़की, मामूली नाक-भौं चढ़ाने के डर से बात-बात में झूठ बोलते हैं—एक पेंसिल, एक दस्ता काग़ज़, एक दोना मिठाई, दो-चार फल के लोभ में पड़कर सब कुछ करने पर तैयार हो जाते हैं। पर जिसकी कहानी हम तुम्हें बतलाना चाहते हैं, उसने धर्म-रक्षा के लिये सब तरह के कष्ट सहे; मारपीट, हथकड़ी-बंधन, डाँट-डपट आदि सब कुछ सहन किया। माता-पिता, बंधु-बांधव, पत्नी-परिवार आदि किसी की भी बातों पर कान नहीं दिए। यहाँ तक कि प्यारे प्राणों तक से हाथ धो लिए। वह बालक अपनी धर्मनिष्ठा के लिये प्रसिद्ध है, वह मरने पर भी अमर है और उसका नाम हरएक भारतवासी रात-दिन जपता है। उसका नाम है हक़ीक़तराय।

पंजाब-प्रदेश का नाम तुमने सुना होगा। इस प्रदेश की भूमि वीर-प्रसू कहलाती है—यह भारत का द्वार है। इसी प्रदेश में स्यालकोट-नामक एक स्थान है। वहाँ आज से बहुत दिन पहले मुग़लों के राजकाल में बागमल-नामक एक धनी आदमी रहता था। वह जाति का खत्री था। उसके माघशुक्ल पंचमी (वसंतपंचमी) बुधवार (सं० १७९१) एक पुत्र हुआ। जिस समय बागमल के इस लड़के ने जन्म लिया, उस समय बागमल और उसकी स्त्री, दोनों बूढ़े हो चले थे। इसलिये बालक के जन्म से उनके आनंद का ठिकाना न रहा। पड़ोस के लोग भी बागमल के व्यवहार से बहुत प्रसन्न रहा करते थे, इसलिये वे लोग भी खुशी के मारे फूले नहीं समाए। सभी बागमल और उसकी पत्नी को बधाई देने के लिये आने लगे। अच्छे मुहूर्त में बागमल ने पुरोहित और जाति-भाइयों को बुलाकर सबों को भोज दिया। सबों ने इस होनहार बालक का नाम 'हक़ीक़त' रक्खा। पुरोहित ने हक़ीक़त का हाथ देखा और उसे होनहार बतलाया।

बालक हक़ीक़त की पढ़ाई-लिखाई अपने माता-पिता के द्वारा ही पहले-पहल शुरू हुई। बागमल स्वयं बड़े धर्मिष्ठ थे। रोज़ गीता-रामायण आदि धार्मिक पुस्तकों का पाठ करते थे। इससे उसने अपने पुत्र हक़ीक़त को भी धर्मात्मा युधिष्ठिर, भीष्म, बालक ध्रुव, प्रह्लाद, राम-कृष्ण आदि की कथाएँ कंठाग्र कराईं। माता ने भी जब-तब सदुपदेश देकर हक़ीक़त को सुयोग्य बनाने में कोर-कसर न की। जब बालक हक़ीक़त आठ वर्ष का हुआ, तब उसके माता-पिता ने उसे मदरसे में पढ़ने को भेजा। पढ़ने-लिखने में हक़ीक़त भोंदू नहीं था। उसकी अपूर्व योग्यता को देखकर

मौलवी-मुल्ला सभी चकित होते थे। सहपाठियों में उसका आतंक छा गया। वे लोग उससे स्पर्द्धा करने लग गए।

यद्यपि हक़ीक़त बालविवाह का विरोधी था, तो भी उसे पिता और माता की हठ के सामने सिर झुकाना पड़ा। फलतः उसकी शादी अमर-सिंह-नामक एक सिख की लड़की से हो गई। अमरसिंह ने भी हक़ीक़त को सिख गुरु गोविंद-सिंह, तेगबहादुर आदि के जीवन-चरित सुनाए। इस समय हक़ीक़त की उमर ग्यारह साल की थी। अभी तक वह मौलवी साहब के यहाँ पढ़ता था।

एक दिन की बात है कि मौलाना साहब पाठ-शाला से कहीं चले गए और लड़कों के साथ हक़ीक़त पाठशाला में ही रहा। उसके साथी सब बड़े उद्दंड थे। मौलवी साहब के न रहने से वे लोग लगे ऊधम मचाने। आप तो ऊधम मचाते थे ही—बेचारे हक़ीक़त को भी अपने साथ खेल में शरीक होने के लिये दिक करने लगे। वह सीधा बालक अपने पढ़ने-लिखने में मग्न था। इससे उन आवारों की बातें उसे अच्छी नहीं लगीं। उसने खेल में शरीक होने से साफ़-साफ़ इनकार कर दिया। दुष्ट लड़कों ने उसकी पुस्तकें फेंक दी, पेंसिल छीन ली और हाथ पकड़-पकड़कर उठने को विवश किया। इस पर भी जब हक़ीक़त टस से मस नहीं हुआ, तब उन लोगों ने उसे और तरह से चिढ़ाना शुरू कर दिया। आख़िर गाली तक की नौबत आ गई। दुष्टों ने सरल हक़ीक़त के मा-बाप को हिंदू-देवी-देवताओं के नाम ले-लेकर बुरे शब्द कहे। बार-बार उन लोगों के मुँह से दुर्वचन निकलते देखकर अब हक़ीक़त से न रहा गया। उन सबकी बेहूदगी पर उसे बड़ा क्रोध आया। पर फिर भी उसने बड़ी नम्रता से कहा—"जैसे तुम्हारे लिये फ़ातिमा है, वैसे ही हम हिंदुओं के लिये देवी-भवानी। यदि फ़ातिमा के लिये कोई आदमी कड़वी बात मुँह में लावे, तो तुम्हें अच्छा नहीं लगेगा—उसी तरह तुम्हें यह भी समझना चाहिए कि देवी-भवानी के लिये कटुवाक्य ज़बान पर लाना भारी गुनाह है। तुम हमारी देवी-भवानी को गालियाँ नहीं दे रहे हो, ये गालियाँ तो सीधे तुम्हारी फ़ातिमा को मिल रही हैं।" इतनी बात ज्यों ही हक़ीक़त के मुँह से बाहर निकलीं कि वे दुष्ट आगबबूला हो उठे। 'काफ़िर'—'काफ़िर' कहते हुए निरपराध हक़ीक़त पर टूट पड़े, जैसे दया उन्हें छू तक न गई हो। वे निठुरता से इस बालक को चपत, घूँसे, मुक्के आदि लगाकर लगे पीटने। उसके रोने-धोने की किसी ने कुछ परवा न की।

इतने में एक तरफ़ से क़ाज़ीजी आ रहे थे। क़ाज़ी ने लड़कों से इस रोआ-रोहट का कारण पूछा। दुष्ट लड़कों ने सच्ची बातों में नमक-मिर्च मिलाकर निर्दोष हक़ीक़त की झूठ-मूठ शिकायत कर दी। उन लोगों ने एक स्वर से कहा—"इस काफ़िर हक़ीक़त ने हमारी फ़ातिमा को बड़ी बुरी गालियाँ दी हैं।" इतना कहना था कि क़ाज़ी लाल-लाल आँखें किए हक़ीक़त की ओर झपटे और कहा—"शैतान! बोल क्या बात है? तूने रसूलज़ादी को गालियाँ दी हैं, क्यों!" बालक हक़ीक़त ने क़ाज़ी की बात सुनकर सारी घटना ज्यों-की-त्यों सुना दी। उसकी बात पर क़ाज़ी और भी आपे से बाहर हो गए और दाँत पीसते हुए बोले—"तुमको अपनी जान भारी हुई है, जो तुम फिर भी उन्हीं बातों को दुहरा

रहे हो? अच्छा कुछ हर्ज नहीं; तुमको अपनी करनी का मज़ा चखाता हूँ।" इतना कहकर उन्होंने और-और लड़कों से सामने की कोठरी खोलने को कहा। जब उनमें से एक लड़के ने कोठरी के किवाड़ खोल दिए, तब क़ाज़ीजी ने हुक्म दिया कि इस बदज़ात काफ़िर को, हाथ-पैर ,खूब कसकर बाँधकर, इस कोठरी में बंदकर दो और ऊपर से ताला लगा दो। देखते रहो कि कोई इसे खोलने न पाए। उन दुष्ट लड़कों ने ऐसा ही किया। बेचारा सुशील हक़ीक़त नाहक उस सज़ा का शिकार हुआ।

हक़ीक़त उस कमरे में बंद कर दिया गया। इतना ही नहीं, उसके कोड़े लगाए गए। खाना-पीना कुछ नहीं दिया गया। जब यह ख़बर बाग-मल को मिली, तो वह सिर पर पाँव दिए दौड़े आए—क़ाज़ी से सज़ा का कारण पूछा—अनेक आरज़ू-मिन्नत की; पर सब विफल हुआ। क़ाज़ी ने कहा—"मैंने जो कुछ कह दिया, सो कह दिया। इस मुसलमानी सल्तनत में कोई काफ़िर फ़ातिमा को गालियाँ दे और वह ज़िंदा छोड़ दिया जाय, ऐसा होने का नहीं। शरह के हुक्म को कोई टाल नहीं सकता। तुम्हारी हम कुछ सुनने को नहीं। बेचारा बागमल हाथ मलते घर लौट आया। उसके और उसके अड़ोस-पड़ोस के लोगों के घरों में मातम छा गया। हक़ीक़त की मा दम-दम पर मौत माँगती थी। बागमल मूर्च्छित हो गिर पड़ा।

कुछ काल के बाद बागमल को होश आया। पड़ोस के लोगों ने बहुत धीरज दिया तथा सूबेदार के यहाँ अपील करने को कहा। लोगों के कहने पर बागमल ने सूबेदार के यहाँ अपील की। पहले तो सूबेदार भी कुछ नहीं सुनता था, आख़िर बहुत कहने-सुनने पर उसने कहा कि अगर हक़ीक़त मुसलमान होना ,कुबूल करे, क़ाज़ी के पैरों पर सिर रखकर सलाम करे और दरबार में अपने ,कुसूर की माफ़ी के लिये आरज़ू करे, तो उसकी जान बख़्शी जा सकती है। इसके बाद प्यादों की हिरासत में हक़ीक़त दरबार में हाज़िर किया गया। सूबेदार ने अपना बयान सुना दिया और पूछा—"मुसलमान बनना चाहते हो कि जान देना चाहते हो?"

हक़ीक़त ने सूबेदार की बातें बड़े ध्यान से सुनीं। उसने उत्तर दिया—"नवाब साहब! मुझे अपने प्राण से अपना धर्म कहीं अधिक प्यारा है। एक तो मैंने कोई ,कुसूर नहीं किया—दूसरे और मैं ही सताया गया हूँ। आप मेरी खाल खींचकर या दीवाल में चुनवाकर ही जान क्यों न ले लें, पर मैं हिंदू-धर्म-जैसा पवित्र धर्म कभी छोड़ने का नहीं। धर्म छोड़कर मुसलमान होने की अपेक्षा मृत्यु का हृदयालिंगन करना कहीं श्रेष्ठ है। मुझे हिंदू-धर्म की छाया में रहते हुए भंगी की तरह जीवन व्यतीत करना ,कुबूल है, पर मुसलमान होकर राज्य-सुख भोगना मंज़ूर नहीं।"

सूबेदार हक़ीक़त से ऐसे कोरे जवाब की आशा नहीं करता था। दरबार के सभी लोग बालक हक़ीक़त का दृढ़तापूर्ण उत्तर सुनकर चकित हो गए। हक़ीक़त की स्त्री, उसके मा-बाप-परिजन—परिवार सब यही सोचते थे कि प्रत्येक को अपना प्राण संसार के सभी सुखों से प्यारा है और हक़ीक़त अभी निरा बालक है—वह अवश्य मुसलमान होना स्वीकार कर लेगा, और इस तरह मुसलमान रहकर भी हम लोगों के सुख का आधार बना रहेगा। पर जब उन

लोगों ने हक़ीक़त की बातें सुनीं, वे हताश हो गए। उन लोगों को संसार अंधकारमय दिखाई पड़ा। एकटक से सब इस अमर बालक के मुख की ओर देखते और इसकी करतूत का ख़याल कर चौंक पड़ते । रह-रहकर आनंद के मारे वे पुलकित हो उठते थे । माता-पिता, स्त्री और परिजनों को आँखें अश्रुजल से ओतप्रोत थीं। उनके आँसू सुख और दुःख दोनों के द्योतक थे। सुख इसलिये कि बालक हक़ीक़त धर्मभक्त साबित हुआ, उसे अपने प्राण से धर्म प्यारा जँचा; और दुःख इसलिये कि उनकी आँखों का एकमात्र तारा हक़ीक़त आज संसार से उठ जायगा। दर्शकों में से कुछ यह भी सोचते थे कि यह तो मरकर भी अमर रहेगा। इसका नाम भारत की हरएक संतान श्रद्धा से लेगी। उस समय वे अपने लिये भी ऐसा ही शुभ अवसर ढूँढ़ते थे और ईश्वर से प्रार्थना करते थे कि हमारी भी मृत्यु इसी के सदृश हो। माता-पिता, पत्नी और दर्शकों में जिनको जान प्यारी मालूम होती थी, वे सब हक़ीक़त को ज़िंदा देखना चाहते थे। इसलिये उन लोगों ने बालक हक़ीक़त से बहुत कुछ कहा भी कि मुसलमान होकर भी प्राण की रक्षा करो। अगर जिओगे, तो बहुत कुछ कर सकोगे। इस तरह कुछ समय तक दरबार आश्चर्य के समुद्र में डूबा हुआ-सा प्रतीत हुआ। सभी सोच-विचार में मग्न थे।

सूबेदार ने बहुत सोचने के बाद हक़ीक़त को लालच देना शुरू कर दिया । जागीर देने, सुंदर भवन बनवा देने, अपनी लड़की से शादी कर देने की प्रतिज्ञा की और कहा कि मुसलमान हो जाओ। पर हक़ीक़त, हक़ीक़त में वीर बालक था, सत्य पर मर मिटनेवाला और धर्मपरायण था। विधर्मी होने की अपेक्षा मृत्यु उसे अधिक प्यारी थी । अतः वह अपनी बात पर डटा रहा। वह तनिक भी विचलित नहीं हुआ। उसने कहा—"हम हिंदू हैं और हिंदू रहेंगे। जिएँगे तो हिंदू-धर्म के लिये, मरेंगे तो हिंदू-धर्म के लिये। तुम जागीर की क्या कहते हो—उसे तुम छीन सकते हो; भवन और विलास की सामग्रियाँ नष्ट हो सकती हैं; तुम्हारी लड़की मुझे तलाक़ दे सकती है—सो भी नहीं, तो एक दिन वह अवश्य मर जायगी। मेरा शरीर भी एक-न-एक दिन अवश्य नष्ट हो जायगा। तब फिर अपनी आत्मा को मैं क्यों कलंकित करूँ ? धर्म की वेदी पर अन्याय से लड़ते हुए, अत्याचार को सहते हुए, हँसते-हँसते शरीर छोड़ना मरना नहीं, जीना है। जो मरना नहीं जानता, वह जीना भी नहीं जानता। बस, इतना ही कहूँगा। तुम्हारे सामने मैं खड़ा हूँ—जो चाहो सो करो। मुझे मुसलमान तुम किसी तरह नहीं बना सकते।" माता-पिता को भी उसने प्रणाम किया और कहा कि आपका लड़का आज मर नहीं रहा है, बल्कि अमर हो रहा है।

सभी ने हक़ीक़त की बातें सुनीं। सूबेदार ने भी हारकर अपनी क्रूर आज्ञा जारी कर दी। हक़ीक़त जल्लाद के द्वारा वधस्थान पर पहुँचाया गया। वहाँ फाँसी पर लटका दिया गया। उसने हँसते-हँसते प्राण दिए। मरने के समय ये ही उसके अंतिम शब्द थे—"मेरे शोणित के एक-एक बूँद से भारत में, हिंदू-धर्म की छाया में, ऐसे बालक पैदा होंगे, जो सत्य के लिये, धर्म के लिये, न्याय के लिये ख़ुशी से अपने प्राण देंगे।"

जगन्नाथप्रसादसिंह

× × ×

४. बन्धन-दुःख

तट बन्धन तोड़ने के लिये सिन्धु
सदा करता है कुलाहल भारी।
नित नाचते वायु के इङ्गित पै
इसी दुःख से मेघ स्रवें दृग-बारी।
फिरें उडुगण शृङ्खला में जकड़े
निशिनाथ की विक्षत छाती है सारी।
मघवा की महत्ता भी क्यों न मिले
पर बन्धन सर्वथा है दुखकारी।

आर्यमित्रा देवी

× × ×

५. बदला

(१)

आज दिल्ली की होली है। गली-गली में रक्त के फ़व्वारे छूट रहे हैं। सड़कों पर रक्त का छिड़काव हो रहा है। नालियों में पानी के स्थान में रक्त बह रहा है। छोटे-छोटे खपरैलों से लेकर गगनचुंबी अट्टालिकाएँ तक भी रक्त में नहा रही हैं। तंग गलियों में रक्त की नदियाँ उमड़ चली हैं, जिनमें मनुष्यों की खोपड़ियाँ कछुओं के सदृश डूबती उतराती बही चली जा रही हैं। मनुष्यों के हाथ-पैर मछलियों की तरह छप्-छप करते इधर-उधर उछलकूद मचा रहे हैं।

मुसलमान सिपाही जो सामने आता है, उसे मौत के घाट उतार रहे हैं। "अल्ला हो अकबर।" "तैमूर की जय!" चारों ओर यह शब्द ही सुनाई पड़ते हैं। इन शब्दों की भयंकरता के आगे घायलों के चीत्कार और पीड़ितों के हाहाकार दब-से गए हैं।

दिल्ली की प्रजा में भगदड़ मची हुई है। जिधर जिसका सींग समाता है, वह उधर ही को भाग निकलता है।

चूड़ीवाली गली में इस समय कोई यवन सिपाही नहीं देख पड़ता। चारों ओर मौत का-सा सन्नाटा छाया हुआ है। केवल रक्त के बहने की धीमी-धीमी आवाज़ आ रही है।

एक ग़रीब स्त्री, एक बालक और बालिका के हाथ पकड़े 'छिपती हुई' रक्त में छप्-छप् करती चली जा रही है।

कुछ आहट पा, चौंककर स्त्री ने पीछे की ओर देखा। भय के मारे उसका चेहरा पीला पड़ गया। बालिका उसका आंचल पकड़कर रो उठी।

लगभग पन्द्रह-बीस यवन सैनिक घोड़ों पर चढ़े वहाँ आ धमके। अपने सरदार का इशारा पाते ही उन्होंने स्त्री को बाँधकर एक डोली में बैठा लिया। उस डोली में और भी कई स्त्रियाँ बँधी हुई अपने-अपने भाग्य को कोस रही थीं।

सरदार ने हाथ से कुछ संकेत किया और घुड़सवार जिधर से आए थे, उधर ही को चल दिए।

एक छोटे-से चबूतरे के निकट बालक और बालिका किंकर्त्तव्य-विमूढ़-से खड़े थे।

(२)

लगभग पचास स्त्रियाँ तोपों के मुँह पर बँधी खड़ी थीं। प्रत्येक तोप के पीछे एक-एक सैनिक जलता हुआ पलीता लिए खड़ा था। केवल अफ़सर की आज्ञा की देर थी।

"अब भी समय है"—अफ़सर ने स्त्रियों को संबोधन कर कहा—"मेरी बात मान जाओ।"

किन्तु उसे कुछ उत्तर न मिला।

अफ़सर के एक-दो-तीन कहते ही सब तोपों पर एक साथ ही बत्ती रख दी गई। बड़े भीषण धमाके के साथ निरीह स्त्रियों के हाथ-पैर ऊपर आकाश में उड़ते दिखाई देने लगे।

विद्युत्

सहसा 'गुड़ुम' 'गुड़ुम' करके दो शब्द हुए और एक सिपाही की लाश के साथ-ही-साथ अफ़सर की मृतदेह भी भूमि पर लोटने लगी।

सिपाहियों ने आश्चर्य-चकित होकर देखा—सामने की पहाड़ी पर एक बालक और एक बालिका बन्दूक़ें ताने खड़े थे। बन्दूक़ों की नलियों में से धुँआ निकल रहा था।

तेजनारायण काक 'क्रांति'

× × ×

६. तेरी भूल

(१)

तू समझे है, बीत रहा है
उनका जीवन सुखमय शांत ;
एक बार ही आकर लख ले,
हैं वे कितने दुखी अशांत।

(२)

तू समझे है, उन्हें न आता
है बिलकुल ही तेरा ख़्याल ;
तू ही बतला दे मुझको,
समझावें कैसे दिल का हाल।

(३)

अच्छा, तूने क्या न किसी को,
किया कभी तन-मन से प्यार ?
तब तू अपने इसी हृदय से,
ले यह बातें स्वयं विचार।

(४)

अगर नहीं, तो सुन ले मुझसे,
हाल बता दूँ मैं उनका ;
समाचार अति दुखद सुना दूँ,
उनके तन-मन-जीवन का।

(५)

भोजन में रुचि रह न गई कुछ,
छूट गया सारा आराम ;
वे तो पा एकांत सदा ही,
रटते रहते तेरा नाम।

(६)

उनके नयनों में तेरी ही,
फिरती रहती है तस्वीर ;
भीतर आग लगी रहती है,
बाहर से वे हैं गंभीर।

(७)

चाहे अगर बनाना उनके
जीवन को तू सुख का सार ;
एक बार, हाँ, एक बार ही,
कह दे उनको करती प्यार।

सरोजिनी देवी

× × ×

७. आद्यशक्ति का जागरण

(क्रमागत)

श्रीमती हंसा मेहता

श्रीमती हंसा की शिक्षा बड़ौदे में हुई है। संस्कृत से स्वाभाविक प्रेम होने के कारण इसी को दूसरी भाषा के तौर पर साथ लेकर, सन् १९१८ में, आपने बड़ौदा-कालेज से बी० ए० पास किया। इस परीक्षा में आपने दर्शन-शास्त्र (फ़िलासफ़ी) में ऑनर्स प्राप्त किया। उनकी विदेश जाने की बड़ी इच्छा थी, इसलिये १९१९ में वह इँगलैंड चली गईं।

पत्रकार-कला सीखने की आपकी लालसा थी, इसलिये लंदन-युनिवर्सिटी में वह जर्नलिज़्म पढ़ने लगीं। उन दिनों श्रीमती सरोजिनी नायडू भी वहीं थीं। श्रीमती हंसा उनके साथ मिलती-जुलती रहीं। १९२० के जून मास में संसार-भर की स्त्रियों की एक कानफ़्रेंस इनके सामाजिक और राजनीतिक उद्धार के प्रश्न पर विचार करने को जेनेवा में हुई। श्रीमती सरोजिनी नायडू के साथ श्रीमती हंसा भी उस कानफ़्रेंस में भारत की प्रतिनिधि की हैसियत से गईं। वहाँ भारत के स्त्री-समाज के हित की बातें इन दोनों ने कानफ़्रेंस को सुझाईं।

दूसरे वर्ष नवम्बर मास में वह अमेरिका गईं, वहाँ की महिला-संस्थाओं का निरीक्षण किया और भारत लौट आईं। मई में वाशिंगटन में एक महिला-सामाजिक सम्मेलन हो रहा था, श्रीमती हंसा उसमें भारत की ओर से शामिल हुईं। वहाँ आपका भारतीय सामाजिक

रीति-नीति पर भाषण हुआ। इसके बाद अमेरिका के दो अन्य महिला-सम्मेलनों में भी आपने प्रमुख भाग लिया।

अगस्त १९२३ में जापान के महिला-विश्वविद्यालय को देखने के लिये श्रीमती हंसा जापान गईं। आप कुछ देर से वहाँ पहुँचीं, कालेज बंद हो चुके थे; लेकिन फिर भी आपने सब कुछ देखने-भालने का प्रबंध कर लिया। जापान के प्रलयंकर भूकम्प के समय आप टोकियो में थीं।
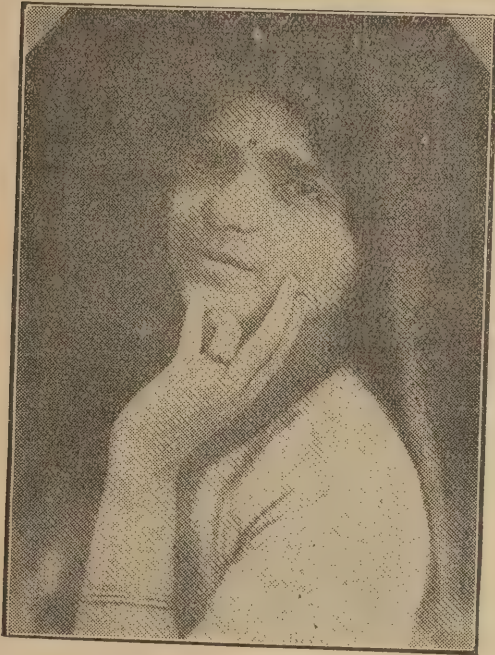
श्रीमती हंसा मेहता

१९२४ ई० में भारत लौटकर उन्होंने डाक्टर जीवराज मेहता से, जो लंदन के एम्० डी० हैं और जो उस समय बड़ौदे के चीफ़ मेडिकल अफ़सर थे, विवाह किया। डा० मेहता भी दृढ़ राष्ट्रवादी हैं। श्रीमती हंसा की अवस्था इस समय ३३ वर्ष की है। सामाजिक सुधार के काम करने की उन्हें सदैव धुन रही है। सन् १९२० से वह बम्बई की राष्ट्रीय स्त्री-सभा की कार्यकारी सदस्या हैं और खद्दर की प्रचारिका रही हैं।

श्रीमती पेरिन कप्तान के गिरफ़्तार किए जाने के बाद श्रीमती हंसा मेहना बंबई को युद्धपरिषद् की संचालिका और बंबई-प्रांतिक कांग्रेस-कमेटी की प्रेसीडेंट मनोनीत हुईं।

श्रीमती हंसा मेहता भी श्रीमती कमला चट्टोपाध्याय की भाँति पाश्चात्य प्रणाली के स्त्री-आंदोलन की समर्थक और सहायिका हैं। भारत की अँगरेज़ी-शिक्षा-प्राप्त महिलाओं की संस्था भारतीय महिला-परिषद् (विमेंस-इंडियन एसोसियेशन) की आप संयुक्त मंत्रिणी हैं। परिषद् के अंतर्गत अपने प्रकार के स्त्री-शिक्षा-प्रचार और समाजसुधार की योजनाओं में आप हाथ बँटाती रही हैं।

श्रीमती हंसा ग्रेजुएट हैं। योरप और अमेरिका में आपकी तालीम हुई है। आप बड़ौदे के भूतपूर्व और बीकानेर के वर्तमान प्रधान सचिव सर मनुभाई एन्० मेहता की पुत्री हैं। आपके पति डाक्टर जीवराज मेहता एम० डी० इस समय बंबई के किंग एडवर्ड मेमोरियल हास्पिटल के डीन (प्रमुख अधिकारी) हैं।

श्रीइंदुमती गोयनका

श्रीमती इंदु, श्रीयुत पद्मराज जैन-जैसे सुयोग्य पिता की सुयोग्य पुत्री हैं।

श्रीमती इंदुमती गोयनका

जैनजी पुराने सामाजिक कार्य-कर्ता और देशसेवी हैं, यही कारण है कि आपकी पुत्री पर भी इतनी छोटी अवस्था में देश-भक्ति का ऐसा आदर्श प्रभाव पड़ा है। श्रीमती इंदुमती अभी कल तक एक मारवाड़ी सेठ घराने की लाड़ली गुड़िया थीं। केवल १९½ वर्ष की एक सुकुमार बालिका राजनीति-कर्मक्षेत्र की कठिनाइयों को भला क्या जाने।

आपने कालेज छोड़कर राष्ट्रीय सेवा में भाग लिया। उन्होंने एक राष्ट्रीय महिला-समिति की स्थापना की। वह और उनकी समिति की महिलाएँ पिकेटिंग करने लगीं। इसी आंदोलन में आपको ६ महीने की सज़ा दी गई है।

बंगाल से और मारवाड़ी समाज से जेल गई हुई महिलाओं में आप सबसे पहली हैं। आपका विवाह भी अभी ६ मास पूर्व हुआ है। आपके पति देहली के बाबू केशवदेव गोयनका ग्रेजुएट और देशप्रेमी व्यवसायी युवक हैं। वह जर्मनी हो आए हैं, और इस समय कलकत्ते में अपना स्वतंत्र कार-बार कर रहे हैं। इंदुमती केशवदेव का विवाह-संस्कार बहुत आदर्श रूप से केवल २००) में, वैदिक विधान से, सुविद्वानों द्वारा संपन्न हुआ था। सेठ जमनालाल बजाज के बाद मारवाड़ी-समाज में इस प्रकार का यह दूसरा आदर्श है।

जिस देवी का आदि ऐसा उज्ज्वल है, उससे भविष्य में भी देश और समाज को आशा करना स्वाभाविक है।

श्रीमती लाडोरानी ज़ुत्शी

श्रीमती लाडोरानी ज़ुत्शी पंजाब-प्रांतीय कमेटी की आठवीं सभानेत्री और युद्ध-परिषद् की डिक्टेटर थीं। वह १९ अगस्त की आधीरात को लाहौर में गिरफ़्तार की गईं। १८ ता० को उन्हें मैजिस्ट्रेट मि० डिसने की अदालत में पेश किया गया। उनसे कहा गया कि ३०००) की ज़मानत और मुचलके पर मुक़दमे के दिनों के लिये उन्हें रिहा किया जा सकता है, लेकिन आपने इससे इनकार कर दिया।

अभियोग आप पर था राजद्रोहपूर्ण भाषण करने और सरकार के ख़िलाफ़ नफ़रत फैलाने का। आपकी ऐसी ग्यारह स्पीचें आपत्ति-जनक समझी गईं, और चूँकि उनके द्वारा श्रीमती लाडोरानी ने गवर्नमेंट के प्रति प्रजा में विद्वेष के भाव जाग्रत् किए थे, इसलिये उनसे दफ़ा १०८ के मुताबिक़ एक साल तक "सद्व्यवहार बनाए रखने के लिये" दस हज़ार का मुचलका और इतनी ही रक़म की दो ज़मानतें तलब की गईं।

श्रीमती लाडोरानी ने ज़मानत-मुचलका देने से इनकार कर दिया; अदालत की कारवाई में कोई भाग नहीं लिया। आपको एक साल सादी क़ैद की सज़ा दी है।

श्रीमती लाडोरानी पं० मोतीलाल नेहरू के सगे भानजे पं० लाड़िलीप्रसाद ज़ुत्शी (ऐडवोकेट, प्रयाग-हाईकोर्ट) की पत्नी हैं। इधर कई वर्षों से वह अपने पीहर लाहौर

श्रीमती लाडोरानी ज़ुत्शी

में रहती हैं। आपकी चारों लड़कियाँ भी आपके साथ हैं, जो सब-की-सब ग्रेजुएट हैं, और जिनमें से दो इस समय पंजाब के राष्ट्रीय-संग्राम में अपनी मा की भाँति ही काम कर रही हैं।

श्रीमती उर्मिलादेवी शास्त्री

मेरठ के महिला-समुदाय को जाग्रत् और संगठित कर क्षेत्र में ला खड़ा करने का श्रेय केवल श्रीमती उर्मिलादेवी को है। आर्यसमाजी पिता की पुत्री होने से समाज-सेवा की धुन आपमें पैतृक है और यही कारण है कि व्याह के बाद अपने पति के पास मेरठ आते ही आपने महिला-उत्थान आदि सामाजिक सुधार के कामों में हाथ डाल दिया। आपके उद्योग से गत जनवरी मास में, आपकी अध्यक्षता में, स्त्रियों की एक कांनफ्रेंस मेरठ में हुई, जिसमें स्त्रियों के क़ानूनी अधिकारों के संबंध में कई उपयोगी निश्चय स्वीकृत हुए।

काश्मीर के कला-संपन्न वायुमंडल में पली हुई एक धनिक पिता की पुत्री श्रीमती उर्मिलादेवीजी को किस प्रेरणा ने सत्याग्रह-जैसे दुरूह मार्ग का पथिक बनाकर, कारागार की एवं अन्य अनेक यातनाओं से निश्चिंत

करके देश के स्वाधीनता-पथ की ओर अग्रसर किया, इसकी एक छोटी-सी कथा है।

उससे वह समझ गईं कि जब तक भारत की जनता मूक पशुओं की भाँति दासता की विकट ज़ंजीरों में जकड़ी हुई है, तब तक समाज-सुधार या धर्म-प्रचार के सब आयोजन व्यर्थ है।

श्रीमती उर्मिलादेवी शास्त्री

अस्तु, मेरठ की महिलाओं ने केवल कपड़े पर ही विजय नहीं प्राप्त की, उन्होंने अँगरेज़ी माल के बहिष्कार-आंदोलन को भी चलाया। श्रीमती उर्मिलादेवी यहाँ भी सबसे आगे थीं।

श्रीमती उर्मिलाजी ने मेरठ के बाहर देहात में जा-जाकर काम किया। कभी-कभी तो इन्हें इतना बोलना पड़ता था कि इनका गला पड़ जाता, और तब दवा लगाकर आप बोलतीं। आपके हृदय में जैसा उत्कट प्रेम है, परमात्मा ने वक्तृत्वशक्ति भी आपको वैसी ही ओजमय प्रदान की है। एक दिन मेरठ की वेश्याओं की एक मीटिंग में आप बोल रही थीं, उधर उन वेश्याओं की आँखों से आँसुओं की झड़ी लगी थी। परिणाम यह हुआ कि वेश्याओं ने शराब न पीने, खादी पहनने और चरख़ा कातने की प्रतिज्ञा कर ली।

१७ जुलाई की रात को श्रीमती उर्मिलादेवी ने एक महती सभा में अपना प्रभावशाली भाषण दिया। यही आपका अंतिम भाषण सिद्ध हुआ।

१८ ता० को प्रातःकाल पाँच बजे ही आप गिरफ़्तार कर ली गईं, और ६ मास सादी क़ैद की सज़ा आपको सुनाई गई।

श्रीमती उर्मिलादेवी काश्मीर-प्रवासी पंजाबी लाला चिरंजीलाल (ठेकेदार, श्रीनगर) की पुत्री हैं। हिंदी की आप विदुषी हैं, संस्कृत और अँगरेज़ी भी जानती हैं।

आपके पति श्रीधर्मेंद्रनाथजी 'घोर आर्यसमाजी' होते हुए भी खादी और गांधी के अधिक समीप हैं, आर्य-समाज के क्षेत्र में रहते हुए भी उनका अपना वायुमंडल बिलकुल अलग है। श्रीमती उर्मिलाजी से भारतीय समाज को अभी बहुत आशा करनी चाहिए। परमात्मा करे, हमारा यह अनुमान सत्यसिद्ध हो।

मंगलदेव शर्मा
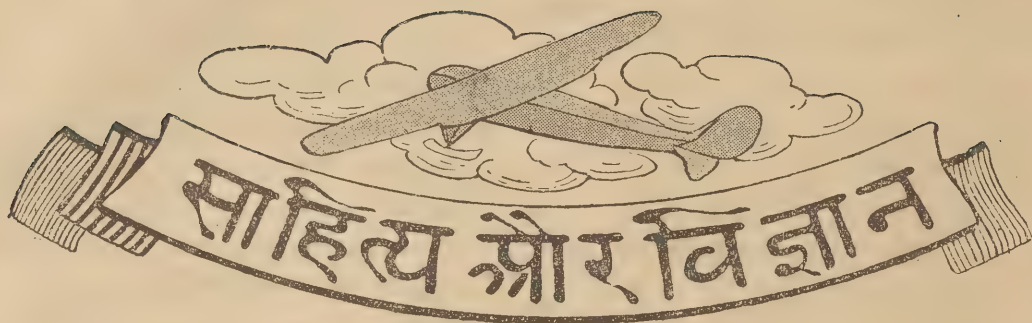
१. हिंदी-साहित्य-सागर का एक 'नूतन-काव्य-रत्न'

हिंदी-भाषा ही एक ऐसी भाषा है, जो संसार की समस्त भाषाओं की अपेक्षा सर्वांगपूर्ण, सरस, सरल एवं सर्वश्रेष्ठ भाषा कही जा सकती है। इसका साहित्य-क्षेत्र विशाल है। इसमें विषय-बहुलता, विचार-गंभीरता तथा मौलिकता-मधुरता का अद्भुत सम्मेलन है। काव्य के लक्षण, गुण, दोष, रीति, रस-भाव आदि की जो विशद व्याख्याएँ हिंदी-साहित्य में की गई हैं, उनके जोड़ का साहित्य, उन्नति की चरम सीमा को प्राप्त आधुनिक इँगलैंड के बृहत् साहित्य-भंडार में भी कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। अतएव ऐसी सर्वगुणसंपन्न भाषा के साहित्य-ग्रंथों की रक्षा करना हिंदी-भाषा-भाषी सज्जनों के लिये ही नहीं, वरन् संसार के समस्त शिक्षित समाज के लिये भी आवश्यक व साथ-ही-साथ मंगल-प्रद भी है।

यह संतोष की बात है कि हिंदी के अनेक प्रेमियों ने इस भाषा के प्रचार एवं इसके ग्रंथ-संरक्षण-कार्य में स्तुत्य प्रयत्न किया है और कर रहे हैं। विश्व-भारती, काशी नागरी-प्रचारणी सभा, हिंदी-साहित्य-सम्मेलन आदि संस्थाओं द्वारा हिंदी साहित्य-ग्रंथों के प्रचार, संशोधन, अनुसंधान, निर्माण, वृद्धि आदि का कितना अपूर्व हितसाधन हो रहा है और होगा, इसका विस्तृत-विवरण विश्व का भावी इतिहास बतलाएगा।

इतना सब होते हुए भी अभी इस कार्य के हेतु बड़े परिश्रम एवं खोज की आवश्यकता है; क्योंकि अभी प्राचीन हिंदी-साहित्य की बहुत-सी बहुमूल्य हस्तलिखित पुस्तकें ग़रीब गृहस्थों के यहाँ फटे-पुराने चिथड़ों में लिपटी हुई पड़ी हैं, जिनके अस्तित्व का लोगों को पता तक नहीं है। हज़ारों पुस्तकों को आज भी कीड़े-मकोड़े खा रहे हैं। इस प्रकार हिंदी के प्राचीन

धुरंधर विद्वानों के बहुमूल्य ग्रंथों का बड़ी द्रुत गति से एक ओर नित्यप्रति ह्रास भी हो रहा है। यदि इसकी उपेक्षा की जायगी, तो बड़ी हानि होगी, जिसकी पूर्ति नहीं हो सकती। अतएव इस हानि को यथाशीघ्र रोकने की बड़ी आवश्यकता है। इसी भाव से प्रेरित होकर आज कुछ दिनों से मैं इस कार्य में यथाशक्ति प्रयत्न कर रहा हूँ, जिसके फल-स्वरूप अब तक मुझे अपने ही गृह में, प्राचीन पुस्तकालय में, २५-२६ सुंदर अप्रकाशित हस्तलिखित ग्रंथ-रत्न प्राप्त हो गए हैं, जिनके प्रकाशित कराने का पूर्णतः प्रयत्न भी कर रहा हूँ। प्राप्त ग्रंथों में से एक अपूर्व ग्रंथ का परिचय आज प्रेमी पाठकों को दिया जाता है।

इस ग्रंथ का नाम है "भ्रमर-गीत"। इसके रचयिता 'संत-रसिक'-नामक कवि हैं। यह भक्त-कवि महोदय कहाँ के निवासी थे, पूरा-पूरा इनका क्या नाम था, किस संवत् में और कहाँ इन्होंने इस ग्रंथ की रचना की, इत्यादि कुछ भी इस पुस्तक द्वारा स्पष्ट नहीं होता। आदि में केवल इतना लिखा है—

श्रीगणेशाय नमः। अथ भ्रमर-गीत प्रारम्भते।

इसके बाद ग्रंथ शुरू हो जाता है। ग्रंथ-कर्ता ने अपना परिचयात्मक कोई विशेष छंद नहीं लिखा। हाँ, केवल एक पद द्वारा अपने श्रीगुरु-देव की वंदना की है, जिससे ज्ञात होता है कि उक्त कवि वृंदावन-वासी रसिकाग्रगण्य श्रीस्वामी हरिदासजी के शिष्य हैं। स्वामीजी सम्राट् अकबर के समय में थे। वह पद इस प्रकार है—

जय जय श्रीगुरु अवास, वृंदावन किए वास,
जय जय 'हरिदास-स्वामि' जासु बोध बोधे;
जप, तप, व्रत, धर्म, नेम, ज्ञान हू विराग प्रेम,
स्वारथ-परमारथ-पथ; पग-पग, जिन सोधे।
करत सखी सुख अनूप, विधिप्रपंच तजि निरूप,
राधा-माधव-स्वरूप; भाव-भवन रोधे;
'संत-रसिक' विषय त्रास, लुठत चरन किए आस,
दीजै निज टहल महल, रहिमनादि बोधे।

इस ग्रंथ के लिपि-कर्ता का भी कुछ पता नहीं है। अंत में केवल इतना लिखा है—

इति श्रीभ्रमर-गीते प्रेम-कल्पद्रुमे संत-रसिक-विरचितायां शृंगार भक्ति-ज्ञान-विरह-फलम् संपर्कं संपूरणम् समाप्तम् सुभमस्तु मंगलं ददात्।

इस तरह यह ग्रंथ-रत्न ३६ पेज में, १६८ छंदों में, पूर्ण होता है। इस ग्रंथ में लिखी हुई भाषा का सौष्ठव सराहनीय और माधुर्य आस्वाद्य है। कवि की सहृदयता, आत्मशुद्धि, उसकी कल्पनातीत भावुकता एक-एक पद से प्रकट हो रही है। गाने योग्य मधुर रचना का भक्ति-रसमय यह एक अद्भुत और अनूठा ग्रंथ है। ग्रंथ-कर्ता भक्त-प्रवर 'संत-रसिक' कवि, योगींद्र श्रीकृष्णचंद्र की अनन्य भक्ति में हिंदी-साहित्याकाश के प्रचंडांशुमाली श्रीसूरदासजी की समता करते दिखाई देते हैं, तो अलंकार से ओत-प्रोत प्रासाद-वर्णन-वैचित्र्य में कविकुल-कुमुद-कलाधर श्रीतुलसीदास महाराज से बाज़ी लेते मालूम होते हैं। इन्होंने अपने छोटे-से ग्रंथ में निष्काम-धर्म, त्याग-धर्म, अनन्य-भक्ति, विश्व-प्रेम के उच्चतम आदर्श का जैसा मनोहर विचित्र चित्र खींचा है और सरस, सरल भाषा में जिस अपूर्व सौंदर्य एवं अलौकिक चरित्र की सुखद सृष्टि की है, वह हिंदी-भाषा के साहित्य में सदैव अमर रहेगी।

मैंने अतृप्त तृष्णा से 'भ्रमर-गीत' का सुधा-रस पान किया है, जिससे मेरी आत्मा को बहुत कुछ शांति मिली है, उसी के दो-चार पद्यों को यहाँ उद्धृत कर आशा करता हूँ कि भावुक महानुभाव इन्हें पढ़कर अवश्य प्रसन्न होंगे।

१—राग केदारा

मधुकर साँवरे के नैन।
लगे जाहि सु जानि उनकी चुभन चोपी पैन।
रहत कसकत चतुर चितवनि चलनि चंचल सैन;
'संत-कवि' लै वारिए झष, कंज, खंजन—मैन।

२—रागिनी भैरवी

धन्य सब गोपिकावृंद बड़ भागिनी।
भगति-पाथोधि वर प्रेम जल नेम भरि,

कृष्ण - पद - कंज मन - मधुप अनुरागिनो ;
आप संभाखते भक्ति-मति पावहू,
स्वामि-पद प्रीति भे; दरस तव भामिनी ।
जानि गुरु-मात-पद-कमल सिर नावहू,
छमब मम बाक्य-कटु-'संत-कबि'-स्वामिनो ;

३—राग केदारा

हमैं इक श्याम ही की आस ।
हमकों कोटि मोक्ष सम ऊधव केशव रहस विलास ।
विश्व-विमोहन मूरति पिय की पाई बिनहि प्रयास ;
ताहि बिहाय सुधा-सागर कों क्यों ओस बुझावें प्यास ।
जो तुम व्यापक ब्रह्म बतावत सो न हमैं बिसबास ;
तदपि जु कछु उपाय करि देखे होत न बोध प्रकास ।
'संत-रसिक' ज्यों धूप सूर्य को तत्तरूप त्यों भास ;
सोऊ सुलभ नहीं बिरहिन कों जिनकी सुरति न पास ।

४—राग केदारा

सजनी श्याम कों यों जान ।
निराकार निरीह निर्गुन बिरज अज निर्बान ।
भक्ति-हित कछु काल तुम्हरे गेह निबसे आन ;
प्रेम-परिपूरन तुम्हारे मानि ताकी कान ;
मोहि पठ्ब प्रबोध मिस निज देहि कों दृढ़ ज्ञान ;
होहि जाते ब्रह्मरति तजि विषय मोह गलान ।
पर्म मति सुनि धर्म भाग्यो गुनत रैन सिरान ;
'संत-कवि' ब्रज बाम जागों, करत हरिगुन गान ।

५—राग वसंत

मग चलत मोह अस कह कृपाल ।
मम बिरह बिसूरन तजहु बाल ।
हमकों तुमकों कछू नाहिं भेद ;
देखहु बिचार चित तजहु खेद,
तुममें हम इहि विधि सो बसंत ।
जिस (?) कला सकल तुम गोपि-वृंद,
जिमि भानु भास चाँदनी चंद ;
आतमा ज्ञान देखौ बिचार,
निज आप रूप आपहिं निहार ;
मम विषयनि रति जन जानि बाम,
लखु जोग ध्यान आतमाराम ।
जो चहौ मोहिं, मम निकट वास,
कर जोग ध्यान ज्ञानहिं प्रकास ।
'कवि-संत' विश्वव्यापक अनंत,
उर कमल मध्य देखौ बसंत ।

६—राग वसंत

उर ब्रह्म ज्ञान कर धरहु धीर ।
तजि विषय बिसूरनि विषय पीर ।
देखहु विचार कर चित्त चाहि ;
जग बसत ब्रह्म सब हृदय माहिं ।
हममय तुममय हरिमय बसंत ;
ध्यावत जोगी जन साधु-संत ।
'कवि-संत' जीति प्रकृतैं पचीस ;
नरनारि भाव तजि भजहु ईस ।

७—राग देश

कबहुँ जदुबंस-मनि मो सुरति करहिंगे ।
गोधन गिरि कों उठाइ इंद्र कोप तें बचाइ,
दावानल भाँति बिरह-बारिधहु तरहिंगे ।
अंकुस धुज कुलिस कंज चौकि चक्र धनुष मंजु,
अर्धचंद्र चिह्नित पद भवन मम ढरहिंगे ।
कछनी कटि ललित लाल मुक्तामनि कंठमाल,
उन्नत उर, भुज बिसाल सीस मम धरहिंगे ।
केसर कौ तिलक भाल भ्रुकुटि विकट दृग बिसाल,
ससि मुख पर स्वेद-जाल देखि सुख भरहिंगे ।
मधुर-मधुर बजत बेन मोहहिं सतकोटि मैन,
कोकिलवत बैन सुने दुसह दुख दुरहिंगे ;
सोहहिं सिर मोरपच्छ कटि पट कसि धेनु रच्छ,
पूरब ब्रजबास आचरन आचरहिंगे ।
'संत-रसिक' दरस आस वृंदाबन किए बास,
मेरे दुख दुसह त्रास कृष्णजू हरहिंगे ।

८—राग बिलावल

एक दिना प्रभु बैठि सुखासन गोपिन का सुधि आनि कही है,
है धिक या प्रभुता सिगरी जबलौं ब्रजकी सुधि नाहिं लही है ।
ऊधव बेगि हकारि कही ब्रज जाहु सखा मम काज सही है,
गोपिन गोपन के धन-जीवन प्रानअधार रहे हमहीं हैं ।
जादिन हौं ब्रज त्याग कियौ उन धेरि लियौ मग रोकि रही है,
तादिन तें सुधि लीन्ह न हौं उनके अब प्रेम बढ़ौ अतिही है ।
नंदसमेत सबै ब्रज लोग त्रिया बिरहानल ताप दही है,
ज्ञान बिहीन दुखी 'कवि-संत' सुईश्वर सों पहिचान नहीं है ।

९—राग कान्हरा

मधुकर वृंदाबन दृग देखे ।
अधमहु जीव परमपद पावत होत भगत जन लेखे ।
श्रीवृंदाबन मात बिदित जग वृंदाबन में देवी,

रच्छा करत सकल ब्रज जन की जे पद-पंकज-सेवी।
करियो जाय प्रनाम मोरि हुत चरन कमल सिर नाई,
करि पूजा मम बिनय करब जिहिं देखहुँ पद सुखदाई।
वृंदाबन वृंदाबन देवी जा दिन नैन निहारौं,
'संत-रसिक' बड़ भाग आपनो ता दिन हृदय बिचारौं।

१०—राग भैरव

उद्भुत आसनासीन जदुबंस - मनि,
नील जलदाभ तन पीतपट छबि घनी।
मुकुट सिर, श्रवन कुंडल, तिलक भाल,
उर माल बैजंति श्रीबत्स कौस्तुभ-मनी;
कंस चानूर मुर मुष्टि तोसल दलनि,
बाहु बलसालि जुग दीनजन-रच्छिनी;
चरन जलजाभ जुग निरखिमन, हरखि जन,
'संत' गहि पतित कहि जयति गोकुलधनी।

११—राग केदारा

अनख अलसात ललचात तिरछात वर,
तड़प तलफंत नवरस सुछाके।
कंज अलि खंज मृग मीन क्यों पटत रहु,
बिस्व बस करन बानैत वाके।
सकल अनुराग बैराग षट राग जग,
त्रिगुन मुनि देव बस होहिं जाके।
भनत 'कबि संत' सोइ रसिक जन मुकुट मनि
राधिका-रमन-दग मित्र जाके।

१२—राग देश

मानिए हठि छाँड़ि सिखावन,
सुगति मूल अघ-ओघ-नसावन।
त्यागहु कर्म उपासन नेमा,
विषम फाँसि नर बिषयक प्रेमा।
श्रुति प्रनीति करि ज्ञान प्रचारू,
दस बसि करि षट तजहु बिकारू।
जोग जुगति करि ध्यान बिचारी,
चेतन पुरुष लखौ ब्रज नारी;
जातें बिरह बिपत बिलगाई,
ब्रह्मानंद न हृदय समाई।
'संत-रसिक' पद यह निर्बाना,
मोक्ष पंथ गहु तज अज्ञाना;

पीतांबरराव भट्टाचार्य

× × ×

२. आलोचन-कला

आश्चर्य तो हमको उन लोगों पर होता है, जो अलंकारवाद की धज्जियाँ उड़ाते हुए कलावाद का विज्ञापन बाँटते फिरते हैं। विलायत का कलावाद हमारे यहाँ के अलंकारवाद से कुछ कम ही जान पड़ता है, अधिक नहीं। विश्वास न हो तो 'अनन्यवाद' और 'कलावाद' की समुचित समीक्षा कर देखिए। कलावादियों का कथन है कि कला का उद्देश्य कला ही है। यदि उनकी बात मान लें, तो मनुष्य-जीवन का उद्देश्य भी मनुष्य-जीवन ही है। फिर मनुष्य अपने उद्देश्य से विचलित हो कला के फेर में क्यों पड़े? सच बात तो यह है कि कला की सत्ता मानव-व्यापार के परे सिद्ध ही नहीं हो सकती। वह साध्य नहीं, साधन है। अस्तु, कला का उद्देश्य कला नहीं, मानव-व्यापार ही है। मानव-व्यापार की अभिव्यंजना ज्यों-ज्यों सौंदर्य का प्रकाशन करती जाती है, त्यों-त्यों कला का परिष्कार होता रहता है। मानव-जीवन में जो स्थान लावण्य का है, मानव-व्यापार में वही स्थान कला का है। लावण्य को देखकर जिस प्रकार हम देही की ओर खिंचते हैं, उसी प्रकार कला को देखकर देही की कृति की ओर बढ़ते हैं। अतः कला का नाम सुनकर न तो हमको मंत्रमुग्ध की भाँति सब कुछ लुटा देना चाहिए और न विस्मय में पड़कर सब कुछ गँवा देना चाहिए। उस पर विना विचार किए भी हम अपना काम चला सकते हैं और चलाते आए हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह तो स्पष्ट ही है कि आलोचन-कला के कला-शब्द से कुछ भयभीत या सजग होने की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता है स्वयं समालोचना की समीचीन समीक्षा एवं समुचित विवेचना की।

प्रायः लोग कहा करते हैं कि समालोचक छिद्रान्वेषी होते हैं और उनकी साहित्यिक असफलता ही उनको समालोचक बनाती है। उनकी दृष्टि में समालोचन केवल छिद्रान्वेषण ही है। हमारा ध्येय यहाँ पर इस प्रकार की थोथी आपत्तियों पर विचार करने का नहीं है। हम तो समालोचना के मूल में पैठकर उसकी यथार्थता को हृदयंगम करना चाहते हैं। यहाँ पर हम यह कह देना अनुचित नहीं समझते कि इस समय हमारी दृष्टि साहित्य की समालोचना पर ही है। अतः

हमारा विवेचन भी साहित्य की दृष्टि से ही होगा, सम्मति देने के विचार से नहीं।

प्रत्येक व्यक्ति कवि या लेखक भले ही न हो, पर आलोचक तो अवश्य ही है। यह एक ऐसा सत्य है, जिसकी उपेक्षा प्रायः लोग किया करते हैं। जब कभी हम किसी वस्तु को देखते हैं, तो उस पर कुछ-न-कुछ विचार कर ही लेते हैं। ये ही विचार हमारे और उस वस्तु के बीच एक संबंध स्थिर कर देते हैं और हमको विवश करने लगते हैं कि हम उसके प्रति कुछ धारणा भी बना लें। और जब हम इन धारणाओं को प्रकट करते हैं, तब एक प्रकार से सम्मति ही देते हैं। पर यह सम्मति उस सम्मति से भिन्न होती है, जैसी वैद्य या वकील प्रायः दिया करते हैं। इस सम्मति में हमारे हृदयगत भाव भी रहते हैं। यह सम्मति उस निर्णय से भी भिन्न होती है, जिसको जज लोग प्रायः दिया करते हैं। यही नहीं, उस आदेश से भी यह भिन्न होती है, जिसको धर्माचार्य लोग बराबर देते फिरते हैं। इसमें वह छाप भी लगी रहती है, जो हमारे मनोविकारों का फल कही जा सकती है। तो क्या यह सम्मति ही समालोचना है?

प्रभाववादियों का कथन है कि प्रत्येक वस्तु का प्रभाव हम पर पड़ता है। हम जब कभी किसी कविता या लेख को पढ़ते हैं, तो उसका जो कुछ प्रभाव हमारे हृदय तथा मस्तिष्क पर पड़ता है, हम उसी को दूसरों पर प्रकट करते हैं। अतः यह प्रकटीकरण ही समालोचना है। अभिव्यंजनावादियों का कथन है कि यह ठीक है। हमको कुछ कहना अवश्य है, चाहे वह बुद्धिगत हो चाहे हृदयगत; पर हम उसको एक विशेष ढंग से कहना चाहते हैं, उसमें कुछ चमत्कार लाना चाहते हैं। अतः हमारी दृष्टि में उस अभिव्यंजना का प्रत्यक्षीकरण ही समालोचना है। यह सुनते ही निर्णयवादी कह उठता है कि नहीं, यह कथन ठीक नहीं। वास्तविक स्थिति तो यह है कि हम किसी वस्तु के गुण से परिचित होते ही उसके प्रति कुछ विचार स्थिर कर लेते हैं, और अन्य वस्तुओं से उसकी विशेषता भिन्न कर लेते हैं। अतः उसके प्रति कुछ धारणा भी बन जाती है। यह धारणा एक प्रकार से निर्णय ही है। अतः हमारे विचार में इस निर्णय का स्पष्टीकरण ही समालोचना है।

योरप की संस्कृति दौड़ लगाने में बहुत ही पटु है। वहाँ चारों ओर दौड़-धूप हो रही है। जिसके सामने जो कुछ आ गया, वह उसी का झंडा ले आगे बढ़ चला और उसी को सब कुछ कहने लगा। उसके कहने का ढंग बहुत ही मोहक है। यही कारण है कि उसका आंशिक सत्य भी पूर्णतः सत्य अवगत होता है। उस बात को सामने रखकर जब हम उपर्युक्त विवाद पर दृष्टि डालते हैं, तब यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक वाद अंशतः ठीक है, सर्वतः कदापि नहीं। हृदयंगम करने के लिये इसको एक उदाहरण के साथ समझना चाहिए। कल्पना कीजिए, समालोचना एक त्रिभुज है, जिसकी भुजाएँ—प्रभाव, अभिव्यंजना एवं निर्णय हैं। यह तो स्पष्ट ही है कि जिस व्यक्ति के सामने जो भुजा होगी, वह उसी को त्रिभुज का आधार मानेगा। पर वस्तुतः त्रिभुज का आधार एक भी नहीं या तीनों ही हैं। अतएव समालोचना के लिये तीनों ही वाद आवश्यक हैं। विशिष्ट प्रभाव, विशिष्ट अभिव्यंजना एवं विशिष्ट निर्णय के सामंजस्य से ही समालोचना का रूप खड़ा होता है। हमारे यहाँ इन्हीं वादों का सूक्ष्मरूप—भाव, विभाव और अनुभाव के परिपाक से निष्पन्न—रस है। अस्तु, किसी वस्तु के रस का प्रत्यक्षीकरण ही उसकी समालोचना है।

यदि कवि भावप्रधान और लेखक विचारप्रधान होता है, तो समालोचक उभयप्रधान। समालोचना के लिये भावुकता तथा विद्वत्ता दोनों ही अपेक्षित हैं। यदि समालोचक भावुक नहीं है, तो वह कवि के हृदय की सच्ची अनुभूतियों की थाह नहीं लगा सकता, और यदि वह मनीषी नहीं है, तो उन अनुभूतियों का मूल्य आँकने में वह कदापि समर्थ नहीं हो सकता। लेखक के मनोविकारों, मनोवेगों तथा चित्तवृत्तियों का अध्ययन करने के उपरांत उनका मूल्य आँका जाता और उनका लेखा लिया जाता है। यदि उनकी बातें समाज, देश एवं काल के अनुकूल पड़ीं, तो उनका निदर्शन करना आवश्यक हो जाता है। समालोचक के विचार अब समाज के विचारों की उपेक्षा नहीं करते, प्रत्युत उन पर उचित ध्यान देते हैं। इस प्रकार समालोचना के सहारे हम अपनी संस्कृति तथा सभ्यता का परिचय प्राप्त करते या करना चाहते हैं। अतएव समालोचक का काम व्यापक पांडित्य का अर्जन करना और उसके बल पर प्रस्तुत विषय की समीचीन समीक्षा करना भी है। इस

समीक्षा के लिये प्रतिभा और मेधा के साथ ही साथ प्रज्ञा भी अनिवार्य है। प्रज्ञा अपना काम तभी भली भाँति संपादित कर सकती है, जब वह मनोवेगों से मुक्त हो। किसी भाव के आवेश में सुंदर कविता बन जाती है, पर सुंदर समालोचना तो स्थिर तथा स्वच्छ बुद्धि ही कर सकती है। इस दृष्टि से समालोच्य कवि या लेखक के प्रति विशेष श्रद्धा भी आवश्यक नहीं है। सहानुभूति से हमारा काम भली भाँति चल सकता है।

समीक्षा के क्षेत्र में एक बहुत ही पुराना प्रश्न प्रायः खड़ा होता है। लगे हाथों उसको भी देख लेना संगत जान पड़ता है। प्रश्न यह है कि किसी कवि या लेखक की समालोचना किस दृष्टि से करनी चाहिए? कुछ लोगों का कथन है कि समालोच्य वस्तु की समीक्षा उसी की दृष्टि या कवि-दृष्टि से ही होनी चाहिए। परंतु कुछ लोग इसका विरोध करते हुए कहते हैं कि किसी की समालोचना हमको या तो अपनी दृष्टि से करनी चाहिए, या शास्त्रों की नियमित दृष्टि से। यदि सच पूछिए, तो तीनों दृष्टियों से काम लेने पर ही सत्समालोचना हो सकती है। हमारे विचार में तो एक भी दृष्टि ऐसी नहीं है, जिसकी आवश्यकता समालोचक को कभी न पड़े। समालोचक का ज्ञान-भंडार जितना ही व्यापक तथा विस्तृत होगा, उतना ही वह सत्समालोचना में समर्थ होगा। अपने समय की बातों को हम सरलता से समझ लेते हैं, और प्राचीन बातों को हृदयंगम करने के लिये विशेष प्रयत्न करते हैं। फिर भी उनके विषय में हमारा ज्ञान अधूरा हो रह जाता है। अतः प्राचीन विचार-धारा से भली भाँति परिचित होने पर ही प्राचीन कवियों तथा लेखकों की आलोचना करनी चाहिए। प्रायः यह देखने में आता है कि कुशल समालोचक भी, उक्त विचारधारा से अपरिचित होने के कारण, समीक्षा के क्षेत्र में मिथ्या प्रलाप करते फिरते हैं और यशस्वी कवियों की कीर्ति को कलंकित कर ही दम लेते हैं। विदेश के समालोचकों को इस बात पर विशेष ध्यान रखना चाहिए। सत्य संसार में बिखरा पड़ा है। उस पर सभी का अधिकार है। किसी मुख्य जाति ने उसका ठेका नहीं ले रक्खा है। अतः समालोचक को समझ-बूझकर हाथ लगाना ही उचित है।

चंद्रबली पांडेय

× ×

३. भौतिक विज्ञान का नोबेल-पुरस्कार

इस वर्ष के भौतिक विज्ञान का नोबेल-प्राइज़ भारतीय वैज्ञानिक श्रीचंद्रशेखर-वेंकटेश रमन महोदय को प्राप्त हुआ है। उक्त घोषणा होने के चार दिवस पूर्व ही इँगलैण्ड की सुप्रसिद्ध रॉयल सोसाइटी ने आपको ह्यूजेज़-पदक देकर सम्मानित किया था।

यों तो नोबेल-प्राइज़ हर साल किसी-न-किसी वैज्ञानिक को मिलता ही है; परंतु यह पहला अवसर है कि यह गौरव एक भारतीय वैज्ञानिक को प्राप्त हुआ है। सर सी० वी० रमन ने कहीं बाहर जाकर शिक्षा नहीं प्राप्त की और न किसी विदेशी प्रयोगशाला ही में रहकर वैज्ञानिक अन्वेषण किए हैं। इसलिये जो सुविधाएँ वैज्ञानिक अन्वेषण के लिये योरपीय देशों में प्राप्त हैं, वे आपको कभी प्राप्त नहीं हुईं। भारत में वैज्ञानिक अन्वेषण के लिये जो-जो असुविधाएँ हैं, वे पाठकों से छिपी नहीं हैं। यह सब होने पर भी रमन महोदय ने जो कुछ किया है, इसके लिये उनकी जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी ही है।

रमन महोदय का जन्म ७ नवम्बर, स० १८८८ ई० में, ट्रिचनापल्ली में एक साधारण वंश में हुआ था। आपके पिता श्रीचंद्रशेखर ऐयर वहीं किसी स्कूल के शिक्षक थे। रमन महोदय के जन्म के कुछ ही दिनों बाद वालूटेयर के एक कालेज में आपको गणित के प्रोफ़ेसर का स्थान मिल गया। श्रीचंद्रशेखर ऐयर गणित और भौतिक शास्त्र दोनों के अच्छे पंडित थे और साथ ही साथ गान-विद्या में भी अनुराग रखते थे।

बाल्यावस्था ही से रमन महोदय की वैज्ञानिक प्रतिभा चमक उठी। आपने बी० ए० में भौतिक विज्ञान लिया। लोगों ने आपको इतिहास लेने की राय दी थी; परंतु तेरह वर्ष के बालक रमन ने इनकार करते हुए कहा कि "मैं वही विषय लूँगा, जिसमें मेरी विशेष अभिरुचि है।" अपनी कक्षा में रमन सबसे प्रखर-बुद्धि छात्र थे। निर्द्धारित Experiments के अलावा और भी Experiments करने की धुन आपको बराबर लगी रहती थी।

बी० ए० का परीक्षा-फल निकला। रमन सर्वप्रथम आए और भौतिक शास्त्र का 'अरनी स्वर्ण-पदक' प्राप्त किया। इसके उपरान्त आपने भौतिक शास्त्र में एम्० ए० की पढ़ाई प्रारम्भ की। एक दिन की बात है कि आपके एक सहपाठी श्री० वी० अप्पाराव को नादशास्त्र के एक

सर सी० वी० रमन महोदय

Experiment में कुछ संदेह हुआ और उसका निराकरण करने के लिये वह अपने प्रोफ़ेसर जोंस के पास गए। परंतु प्रो० जोंस उस समय उस संदेह का निराकरण न कर सके। श्रीरमन महोदय ने उस Experiment को स्वयं किया और उस विषय पर लार्ड रेले महोदय के वक्तव्य को पढ़ने के उपरान्त उस Experiment के करने का एक नवीन तरीक़ा निकाला, जो पुराने तरीक़े से कहीं अच्छा था। उस नवीन तरीक़े की प्रशंसा स्वयं लार्ड रेले महोदय ने की और बालक रमन के पास बधाई का पत्र भेजा। इस घटना से उत्साहित हो रमन ने उस विषय पर एक गवेषणा-पूर्ण लेख लिखकर लंदन के प्रसिद्ध वैज्ञानिक पत्र "फिलासॉफिकल मैगज़ीन" में भेजा जिसको उसके संपादक ने सहर्ष स्वीकार किया। दूसरे वर्ष एक और लेख जिसका प्रकाशशास्त्र से सम्बन्ध था, लिखकर एक दूसरे पत्र "Nature" में भेजा। उसे भी उसके संपादक ने सहर्ष स्वीकार कर लिया।

एम्० ए० की परीक्षा देने के उपरान्त आपकी इच्छा विदेश जाकर अध्ययन करने की हुई। इसके लिये आपको मदरास-सरकार से छात्रवृत्ति भी मिल जाती; परंतु इसमें एक ऐसी बाधा उपस्थित हुई, जिससे आप को अपना विचार स्थगित करना पड़ा। श्रीरमन का स्वास्थ्य बहुत ही ख़राब था। आपके स्वास्थ्य की परीक्षा लेने पर डाक्टरों ने आपको विदेशयात्रा करने की राय न दी।

उस समय अर्थ-विभाग के अफ़सरों की नियुक्ति एक परीक्षा द्वारा होती थी। यह परीक्षा बड़ी कठिन समझी जाती थी और भारत-सरकार द्वारा संचालित होती थी। इस प्रतिद्वंद्विता में भाग लेने के लिये प्रति वर्ष भारतवर्ष के चुने-चुने विद्यार्थी कलकत्ते में एकत्र होते थे। श्रीरमन ने इसी परीक्षा में शामिल होने का निश्चय किया और अध्ययन करने के लिये आप कलकत्ते आए। बहुत ही अल्पकाल में उन्हें ऐसे-ऐसे विषयों का अध्ययन करना पड़ा जिनमें उनका तनिक भी चाव न था। जैसे इतिहास, संस्कृत और अर्थशास्त्र।

परीक्षा प्रारंभ होने के कुछ ही दिन पूर्व आपको समाचार मिला कि आपने मद्रास-विश्वविद्यालय की एम० ए० परीक्षा में प्रमुख स्थान प्राप्त किया है। यही नहीं, आपने भौतिकशास्त्र में इतने अधिक नंबर प्राप्त किए थे, जितना कि उनके पूर्व के किसी छात्र ने न प्राप्त किया था। इस सुसंवाद ने श्रीरमन के उत्साह को बहुत बढ़ा दिया और आप दुगने परिश्रम से आगामी परीक्षा की तैयारी में लग गए। और, इस बार भी विजयश्री आप ही को प्राप्त हुई। आप उत्तीर्ण छात्रों में सर्वप्रथम हुए।

इस प्रकार १९ वर्ष की छोटी उम्र में रमन महोदय भारत-सरकार के अर्थ-विभाग में डिप्टी डाइरेक्टर जेनरल जैसे उत्तरदायित्वपूर्ण पद पर आसीन हुए।

कौन जानता था कि वही उन्नीस वर्ष का बालक एक दिन विदेशों में जाकर भारत का मस्तक ऊँचा करेगा? कौन जानता था कि ऐसे पद के पाने के बाद भी बालक रमन विज्ञान की चिन्ता करेगा? सबने तो यही सोचा होगा कि रमन की ज़िन्दगी अब आराम से बीतेगी और वह अपने अवकाश के दिनों को शिमला या दार्जिलिंग के शिखरों पर गौरांग महाप्रभुओं की संगति में व्यतीत करेंगे।

परंतु नहीं। रमन उन साधारण पुरुषों में न थे, जिनके जीवन का उद्देश्य ज़िन्दगी को खेल-कूद में बिता देना रहता है। वह तो उन महापुरुषों में हैं, जिनके जीवन का उद्देश्य सत्य का अन्वेषण करना है।

अस्तु, एकाउंटेंट जनरल होने पर भी श्रीरमन अपने चिरसहचर विज्ञान को नहीं भूले । आपकी नियुक्ति कलकत्ते ही में हुई थी । एक दिन, जब आप ट्राम द्वारा डलहौज़ी स्क्वायर से सियालदह की तरफ़ जा रहे थे, आपकी दृष्टि एक साइनबोर्ड पर पड़ी, जिसमें बड़े-बड़े अक्षरों से लिखा था—"The Indian Association for the cultivation of Science." पहले तो आपने अपने नेत्रों पर विश्वास न किया, परंतु जब ग़ौर से देखा तो आपका भ्रम दूर हुआ। आप तुरंत वहीं उतरकर उस भवन में घुस गए ।

उपरोक्त संस्था सर आशुतोष आदि ने विज्ञान की उन्नति के लिये स्थापित की थी । जिस समय रमन महोदय वहाँ पहुँचे, उस संस्था की एक बैठक तुरंत ही समाप्त हुई थी । श्रीरमन ने उस संस्था के सेक्रेटरी डा० अमृतलाल सरकार से परिचय प्राप्त किया और उन्हें अपने उन लेखों को दिखलाया, जिन्हें उन्होंने कालेज के दिनों में लिखा था । डा० अमृतलाल सरकार ने आपको सब प्रकार की सहायता देने का वचन दिया और आप शीघ्र ही उस संस्था के सदस्य हो गए । बहुत शीघ्र आपकी प्रतिभा और विद्वत्ता की छाप वहाँ के लोगों पर पड़ गई और आप उस संस्था की प्रयोगशाला के प्रधान बना दिए गए । अब आपके अवकाश का पूरा समय प्रयोगशाला ही में व्यतीत होने लगा ।

परंतु इसी बीच में आपकी बदली रंगून को हो गई । वहाँ जाने पर भी आपका वैज्ञानिक अध्ययन जारी रहा । मार्च, १९१० ई० में आपके पिता की मृत्यु हो गई । आप छः महीने की छुट्टी लेकर मदरास आए। यहाँ पर भी जब कभी अवसर मिला, आप मदरास-विश्वविद्यालय की प्रयोगशाला में जा पहुँचते थे ।

सन् १९११ ई० में आपकी बदली फिर कलकत्ते की हुई । अब की बार आप तार और पोस्ट-विभाग के डाइरेक्टर जनरल होकर आए । पुनः आपका काम पूर्ववत् जारी हो गया ।

सन् १९१५ ई० में सर आशुतोष ने सर तारकनाथ पालित और डाक्टर रासबिहारी घोष की सहायता से कलकत्ते में साइंस-कालेज की स्थापना की । साथ-ही-साथ 'पालित चेयर' के नाम से भौतिक विज्ञान के लिये एक प्रोफ़ेसर के पद की भी स्थापना हुई । सर आशुतोष ने श्रीयुत रमन को उस पद के लिये सबसे अधिक योग्य पाकर, उनसे उस पद को स्वीकार करने के लिये अनुरोध किया । श्रीरमन ने सहर्ष अपनी नौकरी से स्तीफ़ा दे दिया और अपने नए पद पर आरूढ़ हो गए । अब तक आप उसी स्थान को सुशोभित कर रहे हैं ।

रमन महोदय का सारा समय अब प्रयोगशाला ही में बीतने लगा । उस समय से आज तक आपने और आपके छात्रों ने भौतिक शास्त्र के विविध विषयों में कितने ही महत्त्वपूर्ण आविष्कार किए हैं ।

परंतु आपका सबसे महत्त्वपूर्ण आविष्कार प्रकाश-शास्त्र में, हाल ही में, हुआ है । आपने एक नई किरण का आविष्कार किया है, जिसका नाम आपही के नाम पर 'रमन किरण' पड़ा है । रमन महोदय के प्रधान आविष्कार ध्वनिशास्त्र और प्रकाशशास्त्र में हुए हैं । उन आविष्कारों को समझने के लिये उच्च वैज्ञानिक ज्ञान की आवश्यकता है, इसलिये उसकी चर्चा करना व्यर्थ है ।

सन् १९२१ ई० में कलकत्ता-विश्वविद्यालय ने आपको डी० एस्० सी० की उपाधि देकर सम्मानित किया । सन् १९२४ ई० में आप विदेश-यात्रा के लिये निकले और योरप, रूस, अमेरिका आदि देशों में भ्रमण करने के पश्चात् १९२५ ई० में भारत लौटे । आप जहाँ गए, वहीं आपका पूरा स्वागत हुआ । बड़े-बड़े वैज्ञानिकों ने दिल खोलकर आपकी प्रशंसा की ।

१९२९ ई० में जो वैज्ञानिक कांग्रेस हुई, उसके आप सभापति बनाए गए और सभापति की हैसियत से आपने जो विद्वत्तापूर्ण भाषण किया था, उसकी सबने मुक्तकंठ से प्रशंसा की थी। इसी साल भारत-सरकार द्वारा आपको 'सर' की उपाधि मिली ।

यों तो आपकी प्रशंसा सब वैज्ञानिकों ने की थी; परंतु नोबेल-प्राइज़ पाने के कारण अब आपकी गणना संसार के सर्वश्रेष्ठ वैज्ञानिकों में होने लगेगी ।

रमन महोदय सिर्फ़ वैज्ञानिक ही नहीं हैं, उनके शिक्षा-संबंधी विचार भी बड़े उच्च हैं । इसका आभास भिन्न-भिन्न विश्वविद्यालयों में दिए गए उनके भाषणों से मिलता है । आपके भाषण बड़े ही सरस और सुंदर होते हैं । आपका रहन-सहन बिलकुल सादा है ।

आप अपने छात्रों पर विशेष कृपा रखते हैं। आपके छात्र भी आप पर बड़ी श्रद्धा रखते हैं। आपके कितने ही छात्र भिन्न भिन्न सम्मानित पदों पर सुशोभित हैं। कलकत्ते में आपकी एक निजी प्रयोगशाला है, जिसमें आप अपने छात्रों के साथ अन्वेषण का काम करते हैं। आप इँगलैंड की रायल सोसाइटी के सदस्य भी हैं। भारत में अभी तक चार या पाँच ही व्यक्तियों को इस संस्था के सदस्य होने का गौरव प्राप्त है।

श्रीरमन महोदय की आयु अभी थोड़ी ही है। ईश्वर आपको बड़ी आयु दे, जिससे आप विज्ञान की उन्नति कर भारत का गौरव बढ़ा सकें।

भृगुनाथनारायणसिंह

ईश्वर और अनीश्वरवाद

सुप्रसिद्ध साहित्यसेवक मिश्रबंधु महाशयों का लिखा हुआ 'ईश्वर और अनीश्वरवाद'-विषयक लेख 'माधुरी' की पूर्ण संख्या ७३ में प्रकाशित हुआ था। लेखकों ने बहुत-से अनुमान और शंकाओं को उपस्थित करते हुए—ईश्वर को सृष्टिकर्ता होना चाहिए, इस बात की पुष्टि की है, साथ-ही-साथ विशेषज्ञों से—प्रार्थना की है कि वे उस पर अपने विचार प्रकट करें। मैं विशेषज्ञ तो नहीं हूँ, किंतु जैनदर्शन के आधार पर खंडनरूप से कुछ लिखने का प्रयत्न करता हूँ।

लेखकों ने एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण विवाद-ग्रस्त विषय को निर्णय के लिये सबके सामने उपस्थित किया है। संसार में ईश्वर को सृष्टिकर्ता माननेवालों की संख्या बहुत ज़्यादा है, ईश्वर के यथार्थ स्वरूप को मानते हुए उसे सृष्टिकर्ता न माननेवालों की संख्या बहुत कम है। पर किसी बात को माननेवालों की संख्या बढ़ जाने या घट जाने से तो उसका निर्णय नहीं होता है। वास्तव में वस्तु के यथार्थ स्वरूप के निर्णय करने की सदिच्छा से किए गए समीचीन तर्क-वितर्क से ही सत्य की प्राप्ति होती है। अपने बुज़ुर्गों ने जो कुछ कहा है, वह सब सत्य है, यह बिना विचार के मान लेना अन्धविश्वास है। इसी एक अन्धविश्वास की वजह से, केवल एक धर्म के नाम पर, दुनिया में सैकड़ों पापकर्मों की सृष्टि हुई। मनुष्य-समाज में, ख़ास करके हिंदुओं में, परस्पर अनैक्य-उत्पादक लड़ाई-झगड़ों का बीज कोई है, तो वह अंधविश्वास है। जब तक इसका अंत न होगा, तब तक मनुष्य-समाज को वास्तविक शांति नहीं मिल सकती। प्राचीन विषयों के उपदेश भले ही सत्य हों, उन्हें तर्क-वितर्क की कसौटी पर जाँच कर सत्य को जान लेना मनुष्य-मात्र का कर्तव्य है। सत्य कोई बाज़ार की चीज़ नहीं, जो सुलभता से मिल जाय। उसके लिये तो बड़ा कठिन परिश्रम करना पड़ता है, तो भी किसी-किसी भाग्यवान् को ही उसकी प्राप्ति होती है। सिर्फ़ एक ईश्वर के यथार्थ स्वरूप का निर्णय हो जाय और लोग उसे मानने लग जायँ, तो समझ लो कि हज़ारों वर्षों से चले आ रहे धार्मिक झगड़ों का अंत हो चुका, और उससे मनुष्य-समाज को बहुत कुछ सच्ची शांति मिल जायगी।

अस्तु। आप लोग लिखते हैं—"संसार में नियमों का साम्राज्य पाया जाता है, और अनियमता प्राय: है ही नहीं। अब हम पूछते हैं कि ये नियम विना किसी बनानेवाले के क्या आप-ही-आप बन गए ?...यदि आप उसे स्वभाव (Nature) कहेंगे, तो हम पूछेंगे कि वस्तु का स्वभाव आप-ही-आप स्थिर कैसे हो सकता है......वैज्ञानिकों ने ख़ूब अनुसंधान करके किसी ज्ञानयुक्त रचयिता का होना अधिक संभव बतलाया है........"

उत्तर—संसार में नियमों का साम्राज्य पाया जाता है और अनियमता प्राय: है ही नहीं—यह बात सर्वथा नहीं कही जा सकती; क्योंकि नियमित और अनियमित दोनों बातें देखने में आती हैं। यदि संसार का कार्य नियमानुकूल ही होता रहता है, तो (हर समय) सदैव हर एक बात में परिवर्तन देखने में क्यों आता है ? यह संसार परिवर्तनशील है, इस यथार्थ नीतिवाक्य को कौन नहीं जानता ? ध्यानपूर्वक देखा जाय, तो एक दिन के बराबर दूसरा दिन नहीं रहता। बहुत-सी बातों में परिवर्तन प्रत्यक्ष देखने में आता है। प्रत्येक ऋतुकाल में भी यही बात है। जब कि इस वर्षाऋतु में सर्वत्र ख़ूब पानी बरसना चाहिए, पर कहीं-कहीं पर पानी बिलकुल बरसता ही नहीं। वहाँ के बेचारे ग़रीब ख़ूब चिल्लाकर रोते हुए ईश्वर का नाम लेते हैं, पर ईश्वर इतना निर्दय है कि उस तरफ़ ध्यान ही नहीं देता। और कहीं-कहीं पर इतना पानी बरसता है कि वहाँ के बहुत-से ग्राम पानी से बह जाते हैं। तब आप ही बताइए कि संसार में नियमों का साम्राज्य कहाँ रहा ?

संसार की प्रत्येक वस्तु अनंतगुणात्मक है। वे गुण पुन: सामान्य और विशेषरूप में विभक्त हैं। सामान्य गुण वह है, जो तमाम वस्तुओं में पाया जाय। जैसे —वस्तु का अस्तित्व इत्यादि। विशेष गुण वह है, जो ख़ास-ख़ास वस्तुओं में ही पाया जाता है। जैसे—अग्नि का उष्णत्व, जल का शीतलत्व इत्यादि। अग्नि का उष्णत्व-विशिष्ट गुण अग्नि से कोई अलग वस्तु नहीं है, उसी में है। यदि अग्नि से उष्णत्व कदाचित् अलग हो जाय, तो अग्नि कोई वस्तु ही नहीं ठहरती। बिछुड़ना (Separation) उसी का होता है, जो संयोग से उत्पन्न है। जो जिसका ख़ास अपना स्वरूप है, उसका बिछुड़ना कैसा ? सुवर्ण से हज़ारों तरह के आभूषण बनवाइए, पर सुवर्णत्व सबमें पाया जायगा। वैसे ही दुनिया में जहाँ-जहाँ उष्णत्व देखेंगे, वहाँ-वहाँ पर किसी-न-किसी रूप में अग्नि अवश्य होगी। कहीं पर उष्णत्व तो रहे और अग्नि न रहे, यह बात कदापि संभव नहीं। अत: अग्नि का उष्णत्वविशिष्ट गुण उसका वस्तुस्वरूप सिद्ध हुआ। इसी प्रकार सूर्य की किरणों में उष्णता और चंद्रमा की किरणों में शीतलता, नियत समय पर उनका उदय और अस्त होना, गेहूँ के पेड़ में गेहूँ पैदा होना इत्यादि वस्तुस्वरूप उद्भूत ख़ास गुण हैं। इन गुणों से वस्तु का तादात्म्य संबंध है, और इनका अस्तित्व अनादि है। यह बात आगे प्रकरणांतर में जाकर स्पष्ट हो जायगी।

यदि वस्तु का निज स्वरूप-गुण-समुदाय आप-ही-आप स्थिर नहीं हो सकता—जैसे पाट-पटादि पदार्थों का कर्ता प्रत्यक्ष देखने में आता है वैसे ही उन सबको परस्पर जोड़नेवाला कर्ताहर्ता कोई ईश्वर अवश्य है—तो ईश्वर भी एक वस्तु है, उसका कर्ता कौन है ? तमाम संसार की वस्तुओं से ईश्वर एक अलग वस्तु नहीं हो सकता। ईश्वर में भी वह लक्षण अवश्य घटना चाहिए, नहीं तो वह लक्षण अव्याप्त दोष से दूषित हो जायगा। यदि एक ईश्वर का कर्ता दूसरा ईश्वर, दूसरे का तीसरा, तीसरे का चौथा मानते जायँगे, तो अनवस्था-दोष आ जायगा। अंतिम निष्कर्ष यह स्वीकार करना पड़ेगा कि संसार में कुछ पदार्थ ऐसे भी हैं, जिनका कोई कर्ता-हर्ता है ही नहीं। और, यह सिद्धांत स्वीकार करने पर कि विना बनानेवाले के कोई भी पदार्थ बनता नहीं, यह बात बनती नहीं। अगर थोड़ी देर के लिये मान लिया जाय कि ईश्वर ने सूर्य-चंद्र को बनाया। अब प्रश्न उठता है, कब बनाया ? बनाने का समय ज़रूर होगा। और, कितनी देर में बनाया ? "बनाना" यह शब्द इस बात का द्योतक है कि पहले सूर्य-चंद्रमा का अस्तित्व ही नहीं था, किसी ने उन्हें बनाया। अब फिर प्रश्न उठता है कि कौन-कौन के पदार्थों के संयोग से चंद्र-सूर्य बने ? वह कार्योत्पत्तिभूत उपादान वस्तुएँ कहाँ से आईं ? उनका कर्ता कौन है ? यदि उनका कर्ता भी ईश्वर है, तो ईश्वर निराकार है या साकार ? यदि आप ईश्वर को निराकार मानते हैं, तो निराकार ईश्वर से साकार जगत् की उत्पत्ति कैसे ? साकार पदार्थों से साकार पदार्थ ही बनता है,

यह बात जगत्प्रसिद्ध है। किसी निराकार वस्तु से साकार वस्तु बन जाती है, तो आकाशकुसुम की भी उत्पत्ति हो सकती है। यदि ईश्वर साकार है, तो उसमें संसारी जीवों के-जैसे हाथ, पैर, नाक, रसनादि अंगोपांग भी अवश्य होने चाहिए। इनके रहने से ईश्वर और साधारण मनुष्यों में कुछ भी भेद नहीं रहा। जैसे हम संसारी राग-द्वेषों से युक्त हैं, वैसे ही ईश्वर भी राग-द्वेषी ठहरा। अतएव सूर्य-चंद्रमादि पदार्थों का कर्ता वह नहीं हो सकता।

यदि आप सृष्टिकर्ता ईश्वर को सर्वव्यापी मानते हों, तो ईश्वर आकाश की तरह सब जगह व्यापक ठहरा। ऐसा मानने पर पूर्वापर विरोध आता है। यदि ईश्वर सर्वव्यापक है, तो वह जगत् का कर्ता कभी नहीं हो सकता; क्योंकि जो सर्वव्यापी होता है, वह हलन-चलन नहीं कर सकता—जैसे आकाश। हलन-चलन के लिये स्थान की ज़रूरत होती है। ईश्वर के सर्वव्यापक होने से स्थान कहीं रहता नहीं। या तो ईश्वर को कर्ता मानिए; नहीं तो सर्वव्यापक मानिए। यह दोनों बातें एक दूसरी से विरुद्ध हैं—ईश्वर में रह नहीं सकतीं। इससे भी सिद्ध होता है कि ईश्वर सूर्य-चंद्रमादि पदार्थों का कर्ता नहीं है।

यदि आप ईश्वर को सर्वशक्तिमान् मानते हों, तो बताइए, ईश्वर ने अपनी सर्वशक्ति से बुरी बातों का अस्तित्व क्यों नहीं मिटा दिया? क्यों ज़हरीले जानवर, कड़वे बदबूदार पदार्थ और दुःख देनेवाली चीज़ें बनाईं? जगत् में क्यों हिंसा, झूठ, चोरी वग़ैरह—पापकर्म देखने में आते हैं? इन सबको ईश्वर ने क्यों नहीं मिटा दिया? शराब-जैसी धर्म-कर्म को नाश करनेवाली चीज़ों को क्यों उत्पन्न होने दिया? इन सब बातों में ईश्वर ने अपनी शक्ति का उपयोग नहीं किया? अगर आप इस प्रकार कहेंगे कि यदि ये चीज़ें न होतीं, तो लोगों को अच्छे-बुरे कर्मों की तमीज़ नहीं रहती। ये तो इसलिये बनाई गईं कि लोग उनको छोड़ें, धर्मानुकूल चलें, ईश्वर को प्रसन्न करें। अजी महाराज! यह कैसी विचित्र बात है। इससे तो यह सिद्ध होता है कि ईश्वर ने ही मनुष्यों से बुरे काम कराए। जब बनाते वक़्त जीव-कर्म-रहित और सब बराबर थे, तब उनको शरीरधारी बनाकर क्या लाभ निकला? उन्हें जनम-मरण-रोग-दुःखादि से पीड़ित क्यों बना दिया? यदि बनाया भी, तो अच्छी बातों को ही क्यों नहीं रक्खा? बुरी बातों से सिवा हानि के क्या लाभ हुआ? इसका जवाबदेह सिवा ईश्वर के और कौन है? आजकल सौ में अस्सी आदमी ईश्वराज्ञा के विरुद्ध कार्य करते हैं। जिधर देखिए, उधर सिवा बुराई के भलाई के काम बहुत कम देखने में आते हैं। ईश्वर तो भविष्य की बातें जानता था, उसने जान-बूझकर क्यों बुराई पैदा कर लोगों को बुरे कर्म की तरफ़ झुकाया? यदि ईश्वर ने जान-बूझकर किया, तो वह हमारा हितैषी नहीं रहा। जब हितैषी नहीं रहा, तो हमको उस पर क्यों श्रद्धा होनी चाहिए? वह तो हमारा शत्रु ठहरा। यदि लोगों ने मनमानी की, तो ईश्वर ने ऐसा क्यों होने दिया? अपनी शक्ति का प्रयोग क्यों नहीं किया? यदि शक्ति का प्रयोग करते हुए भी लोगों ने नहीं माना, तो ईश्वर सर्वशक्तिमान् कहाँ रहा? उपर्युक्त बातों से यह सिद्ध होता है कि 'ईश्वर सूर्य-चंद्रमादि पदार्थों का कर्ता नहीं है।' आगे चलकर आप लोगों ने लिखा है—"या तो ऐसा मानना पड़ेगा कि विना ईश्वर के संसार आप-ही-आप बनकर नियमपूर्वक स्थिर हो गया—क्योंकि हम उसे उस दशा में अपने नेत्रों से देख रहे हैं—अथवा यह कि विना पदार्थों की सहायता के ईश्वर सदा से था और अपनी इच्छानुसार उसने पदार्थों एवं संसार की रचना की। पहली बात को मानने में अकाट्य बाधाएँ सामने आ जाती हैं, पर दूसरी में नहीं। सुंदर नियम इस संसार में विना किसी ज्ञान और चैतन्ययुक्त सत्ता के सहारे कदापि नहीं बन सकता। वह सत्ता अवश्य ही परम शक्तिशाली और महान् होगी। तब उसे सारे संसार और सूर्य-मंडलों को अपनी इच्छामात्र से ही बना डालने में कौन-सी बाधा हो सकती थी।" पहली बात के मानने में जो अकाट्य बाधा है, उसको यदि आप विस्तार से लिख देते, तो उस पर विचार किया जा सकता था। बहुत-सी बाधाओं की शंका स्वयमेव उठाकर मैं ही उत्तर दे चुका। यथार्थ में यही बात सत्य है कि ईश्वर सदा से था? कैसे था? निराकार या साकार? हम सब लोगों के-जैसा? इसी का भी खंडन ऊपर हो चुका। अब ईश्वरेच्छा के संबंध में विचार किया जाता है। आधार के विना कोई भी आधेय पदार्थ ठहर ही नहीं सकता। यह प्रकृति का अटल नियम है। इच्छा-आधेय के लिये आधारभूत

कोई शरीरादि पदार्थ अवश्य होना चाहिए। विना आधार के भी आधेय पदार्थ ठहर सकता है, तो स्वपुरुष का अस्तित्व क्यों न मान लिया जाय? थोड़ी देर के लिये मान लीजिए कि ईश्वरेच्छा से ही संसार का कार्य होता है। तब प्रश्न उठता है कि वह ईश्वरेच्छा नित्य है या अनित्य। यदि नित्य है, तो ईश्वरों को सदैव इच्छा-सहित होते रहना चाहिए। इससे तो इनकी सब शक्ति नष्ट हो जायगी; फिर सूर्य-चंद्रमादि पदार्थों को बना नहीं सकते। यदि ईश्वरेच्छा को अनित्य मानते हुए एक इच्छा के बाद दूसरी इच्छा, दूसरी के बाद तीसरी इत्यादि क्रम से मानना हो, तो अनवस्था दोष आता है। समस्त संसार में क्षण-मात्र समय में जितना भी कार्य होता है, उतनी ही इच्छा ईश्वर को क्षण-मात्र समय में होती है। ऐसा मानेंगे, तो भी ठीक नहीं है। क्योंकि युगपत अनेक इच्छाओं का प्रादुर्भाव ईश्वर में नहीं हो सकता। यदि ईश्वर की एक ही इच्छा को युगपत नाना देश में होनेवाले नाना कार्यों की उत्पत्ति में, कारण मान लिया जायगा, तो क्रम से अनेक कार्यों का विरोध आ जायगा। उसकी इच्छा का सर्वदा अभाव हो जायगा और ऐसे इच्छा करते रहने से उन्हें लाभ क्या? विना लाभ के मंद बुद्धिवाला बालक भी कोई कार्य नहीं करता है। इन बातों से सिद्ध होता है कि ईश्वर सूर्य-चंद्रमादि पदार्थों का कर्ता नहीं है।

इसी तरह ईश्वर को जगत्कर्ता मानने पर अनेक शंकाएँ उठती हैं और सैकड़ों प्रश्न उठते हैं; उसके सारे गुण नष्ट हो जाते हैं। न तो वह सर्वज्ञ रहता है, न हितोपदेशक; बल्कि रागी-द्वेषी मनुष्य के समान परिमित शक्तिवाला रह जाता है। ऐसा मानना मानों ईश्वर को अपमानित करना है। अतएव ईश्वर जगत्कर्ता नहीं है और उसे जगत्कर्ता न मानने से कोई बाधा भी नहीं आती है। विज्ञानशास्त्र इन बातों को स्पष्ट बतलाता ही है और प्रत्यक्ष देखने में भी यही है कि इस विज्ञान-संसार में जितने भी पदार्थ बनते हैं, वे सब स्वयमेव एक दूसरे से मिलने या बिछुड़ने से और अपने-अपने स्वभाव से ही बनते रहते हैं। दो चीज़ों के मिलने से तीसरी चीज़ बन जाती है, और समय-समय पर उनकी हालत बदलती रहती है। न कोई चीज़ सर्वथा नष्ट होती है, न कोई नवीन वस्तु, जिसका पहले किसी रूप में अस्तित्व ही नहीं था, ऐसी पैदा होती है। एक वस्तु की हालत का बिलकुल बदल जाना दूसरी वस्तु को पैदा करता है, और उस बदल जानेवाली चीज़ का नाश होना कहा जाता है। परंतु वस्तु का गुण चाहे उसकी कैसी ही हालत हो, कदापि नहीं बदलता। सब गुण ज्यों-के-त्यों रहते हैं। यह वस्तु का या द्रव्य का लक्षण है।

संसार में जितने भी द्रव्य और अद्रव्य पदार्थ हैं, वे सब अनादि हैं। यह बात अनुमान से भी सिद्ध होती है। जैसे—मनुष्य पैदा नहीं हो सकता, यदि उसके मा-बाप न हों। इस कारण यह बात अवश्य माननी पड़ेगी कि स्त्री-पुरुष अनादि हैं। यदि कोई इसके विरुद्ध यह कहे कि विना मा-बाप के मनुष्य पैदा हो सकता है, तो इस बात को उसे सिद्ध करना पड़ेगा; क्योंकि असंभव बात को सिद्ध करने का उत्तरदायित्व कहनेवालों पर ही होता है। इस समय कोई मनुष्य आकर यह कहे कि अमुक स्थान में ईश्वर की शक्ति से एक मनुष्य पैदा हो गया है, तो इस बात को कोई भी न मानेगा, और सभी इस बात को असंभव बताएँगे। जब मनुष्य का विना मा-बाप के होना सिद्ध नहीं हो सकता, तो जगत् के किसी समय उत्पन्न होने के वास्ते कोई भी युक्ति नहीं हो सकती है। जब स्त्री-पुरुष अनादि हैं, तो वे विना स्थान के ठहर नहीं सकते हैं। इस कारण यह भी मानना पड़ेगा कि ऐसी जगह भी अनादि है, जिस पर आदमी ठहर सकें। इसी प्रकार मनुष्य विना हवा-पानी-अन्न के जी नहीं सकता। अतएव यह बात भी माननी पड़ेगी कि हवा, पानी और भोजन के पदार्थ भी सदा से हैं। मनुष्य जो साँस भीतर से बाहर निकालता है, वह बुरी होती है। इस कारण हवा के साफ़ करने का कोई द्वार न हो, तो सारी हवा थोड़ी देर में बुरी हो जायगी और मनुष्य जी न सकेगा। इस कारण यह भी मानना पड़ेगा कि सदा से वह द्वार भी उपस्थित है, जिससे वायु साफ़ होती है। पदार्थ-विज्ञान से यह भी ज्ञात होता है कि पेड़ निकली हुई गंदी हवा को अपने भीतर लेता है और वह हवा बाहर निकालता है, जो मनुष्य के साँस लेने लायक़ हो, अर्थात् वृक्ष हवा साफ़ होने का साधन है। इसके अतिरिक्त वृक्ष की उत्पत्ति भी बीज से ही है और बीज वृक्षों से होता है। कोई कह सकता है कि बीज और वृक्ष, इन दोनों पदार्थों में किसकी उत्पत्ति पहले हुई? यदि

बीज की उत्पत्ति पहले मानें, तो विना वृक्ष के बीज कहाँ से आया ? यदि वृक्ष की उत्पत्ति प्रथम मान ली जाय, तो विना बीज के वृक्ष कहाँ से आया ? कोई महाशय यह कह देते हैं कि उन दोनों चीज़ों में किसी एक की उत्पत्ति प्रथम अवश्य होनी चाहिए । तब मैं उनसे पूछता हूँ कि एक, विना दूसरी के सहारे कहाँ से कूद पड़ी ? अर्थात् बीज-वृक्ष भी का अनादि होना सिद्ध है । इसके अतिरिक्त मनुष्य के भोजन के वास्ते वृक्षों की आवश्यकता है। अतएव जब मनुष्य, हवा, पानी, भोजन, वृक्ष और जगह अनादि है, तो इसका अर्थ यह है कि संसार अनादि है । मनुष्य जितना पानी पीता है, वह भी ख़राब हो जाता है अर्थात् पसीना और मूत्र होकर निकलता है । यदि पानी के साफ़ होने का द्वार न हो, तो थोड़े समय में समस्त पानी ख़राब हो जायगा । अतएव पानी के साफ़ हो जाने के वास्ते भी कोई द्वार अनादि से अवश्य होना चाहिए। पानी पर घाम पड़ने से वह सूख जाया करता है और अन्य जो पदार्थ पानी में मिले हुए होते हैं, वह वहीं पर पड़े रह जाते हैं । अर्थात् घाम निर्मल जल को अलग कर लेता है, पानी सूखकर भाप बन जाता है और इस भाप से मेघ बन जाते हैं । इसीलिये मेघ का पानी निर्मल होता है । इससे यह सिद्ध हुआ कि पानी के साफ़ करने का काम सूर्य करता है । अतएव जब संसार सदा से है, तो सूर्य भी सदा से है । मनुष्य को और प्रकार से भी सूर्य की अत्यंत आवश्यकता है । इससे यह सिद्ध हुआ कि सूर्य अनादि है और वह अवश्य किसी वस्तु पर टिका हुआ नहीं, अधर में है । अधर किस प्रकार है, यह ज्योतिषशास्त्र पढ़ने से ज्ञात होता है। अतएव सूर्य-चंद्र आदि के अधर में होने और घूमने के वास्ते नक्षत्रों की आवश्यकता है और जब कि संसार अनादि है, तो नक्षत्र भी अनादि हैं । इसके अतिरिक्त ज्योतिषशास्त्र पढ़ने से यह बात भी ज्ञात होती है कि संसार के वास्ते जैसे सूर्य की आवश्यकता है, इसी प्रकार चंद्र और अन्य नक्षत्रों की भी आवश्यकता है । अर्थात् सब अनादि है * ।

आगे चलकर आप लोगों ने लिखा है कि "संसार की सभी बातों को यदि ध्यान से देखा जायगा, तो बड़ी बुद्धिमत्ता एवं चतुरता पाई जायगी । वैज्ञानिकों को विदित है कि केवल आँखों की बनावट में कितने चातुर्य से काम लिया गया है; प्रत्येक पेड़, पौदे, जीव एवं मनुष्य कैसे छोटे-छोटे पदार्थों से बनते और कैसे बढ़कर भारी हो जाते हैं । मनुष्य प्रायः एक फ़ुट का पैदा होकर बढ़ते-बढ़ते ५॥ से ६ फ़ीट तक कैसे हो जाता है, और उसकी हड्डियाँ बढ़ने में क्यों नहीं टूट जातीं ? अथवा खाल क्यों नहीं फट जाती ? यह सभी बातें अवश्य आश्चर्यजनक हैं......।"

संसार की वस्तुओं की बनावट में जो वैचित्र्य और चातुर्य दिखाई देता है, उसका प्रधान कारण चैतन्य (जीव) और अचैतन्य (निर्जीव) पदार्थों का अनादिकालीन संबंध है । जब जीव और निर्जीव पदार्थों के स्वरूप और उनके भेद-प्रभेदों को समझ लेंगे, तभी तमाम वस्तुओं का सामान्य स्वरूप सरलता से समझ में आ जायगा । इस विशाल संसार में अनंतानंत जीव और जीवों से अनंतानंत गुण, निर्जीव पदार्थ अनादि काल से विद्यमान् हैं, और अनादि काल तक विद्यमान् रहेंगे । जीव का लक्षण चैतन्य या ज्ञानस्वरूप और निर्जीव का अचैतन्य-जड़स्वरूप है । इन स्वरूपभूत लक्षणों से युक्त वस्तु अपना स्वरूप कदापि नहीं छोड़ती । जीव अनादिकाल से मोह और अज्ञान के कारण शुभाशुभ कर्म के अनुसार सूक्ष्म और स्थूल शरीर को पाकर नाना पर्याय में परिभ्रमण कर रहा है । किंतु जीव निर्जीव शरीर के साथ मिला हुआ दिखाई देने पर भी, निर्जीवरूप में परिणत नहीं हुआ; पर सोने में मिली हुई मिट्टी सुवर्णरूप में दिखाई देने पर भी जैसे सुवर्ण से एक पृथक् वस्तु है, वैसे ही जीव भी शरीर से एक भिन्न वस्तु है।

संसार की कोई वस्तु सर्वथा नष्ट नहीं होती है, उनके पर्याय प्रति समय बदलते जाते हैं, जिससे देखनेवालों को नवीन वस्तु का प्रतिभास होता रहता है । किसी भी नवीन वस्तु को आप देखिए, उसके तमाम परमाणु कुछ समय के पहले किसी अवस्था में थे, और कुछ समय के बाद और किसी पर्यायरूप में बदल जाते हैं । यह तो हुआ स्थूल कार्य । इसी प्रकार कालद्रव्य के निमित्त से तमाम वस्तुओं में प्रति समय * नवीन पर्याय की उत्पत्ति एवं पूर्व पर्याय का नाश होता रहता है ; लेकिन कालद्रव्य के परमाणु लोक में सर्वत्र व्याप्त हैं ।

* "सृष्टि-कर्तृत्व-खंडन" ग्रंथ से ।—लेखक ।

* 'समय' अत्यंत सूक्ष्म काल का नाम है ।

जैन-दर्शन कहता है कि संसार के समस्त प्रदेशों * में अत्यंत सूक्ष्म जीवों के झुंड-के-झुंड निवास करते हैं। एक जल का विंदु अनंत सूक्ष्म जीवों का पिंड है। इस संबंध में अँगरेज़ी साप्ताहिक पत्र "पीयरसन" में एक वैज्ञानिक महोदय "जल के जीवधारी"-नामक लेख के प्रारंभ में लिखते हैं—"किसके विचार में आएगा कि किसी ताल या झील के स्वच्छ जल का एक विंदु स्वयं वनस्पति और सूक्ष्म जीवों का एक पूर्ण कुंड है ? किंतु यह बात सत्य है और विज्ञानवेत्ता सूक्ष्म वस्तुओं को देखने के यंत्र—दूरबीन—से इसको प्रत्यक्ष देखते हैं। जल का जो विंदु सामान्य नेत्रों से देखने से मोती-सा निर्मल दिखाई देता है, वही परीक्षा करने से वनस्पति-जीवों से भरा हुआ सिद्ध होता है। ....इत्यादि †। कहने का तात्पर्य यह है कि जल में, आकाश में, मिट्टी के अंदर, हवा में, जीवित वनस्पतियों में, सब जगह सर्वत्र अनंतानंत सूक्ष्म जीवों के झुंड-के-झुंड निवास करते हैं। एक हरा फूल तथा पत्ता अनंत सूक्ष्म जीवों के संयोग से बना हुआ है। जब तक वे सूक्ष्म जीव उसमें निवास करते हैं, तब तक उसमें अनेक तरह का प्राकृतिक आश्चर्यकारी सौंदर्य दिखाई देता है। जब वे मर जाते हैं, तब वह कांतिहीन होकर सूख जाता है, जैसे सूखे पत्तों से भरा हुआ वृक्ष।

अब उन सूक्ष्म और स्थूल जीवों का परस्पर संबंध, और कालद्रव्य के निमित्त से होनेवाले परिवर्तन का दृष्टांतपूर्वक विवेचन किया जाता है। आज ही पैदा हुए एक शिशु का उदाहरण लीजिए। यह शिशु का मूल शरीर आज से ९ महीने पहले रजोवीर्यरूप में था, जिसमें अनंत अत्यंत सूक्ष्म जीव रहते थे, और उन जीवों का शरीर रजोवीर्य परमाणुरूप में था। उसी में इस शिशु की आत्मा या जीव कहीं से किसी पूर्व-पर्याय को आयुष्य के अंत में छोड़कर, शुभाशुभ कर्म के अनुसार, उस पिंड में आकर प्रधान रूप से पैदा हुआ। उस जीव के संयोग के पहले वह पिंड केवल रजोवीर्य-रूप में था। उसमें और कोई विशेष बात नहीं थी। प्रधानभूत दूसरे जीव के आकर (पैदा होते ही) बसते ही प्रति समय वह पिंड बढ़ने लगा। जो पिंड एक समय में एक इंच लंबा था, वही दो-तीन महीने में दो-तीन इंच बढ़ गया। और, बढ़ते-बढ़ते नौ महीने में एक फ़ुट के बराबर होकर अब शिशु के रूप में सामने है। यही शिशु बढ़ते-बढ़ते एक दिन बाल, युवा और वृद्धावस्था को क्रमशः प्राप्त करेगा। अब देखिए, शिशु के बढ़ने का कार्य उस समय से, (जब पिंड में प्रधानभूत आत्मा आकर पैदा हुई। तब से) चालू है। प्रति समय वह अत्यंत सूक्ष्म रूप से बढ़ते-बढ़ते आज शिशुरूप में है। वैसे बढ़ने में हड्डियों के टूट जाने और खाल के फट जाने की संभावना तभी होती, जब शरीर के एक प्रदेश के परमाणु तो बढ़ते तथा अन्य प्रदेशों के परमाणु ज्यों-के-त्यों चुप रहते। किंतु वस्तुस्थिति तो वैसी नहीं रही। शरीर के तमाम सूक्ष्म परमाणुओं में प्रति समय समान वृद्धि होती रही। अतः हड्डियों के टूट जाने की और खाल के फट जाने की संभावना ही नहीं रही। इसी तरह संसार के तमाम पदार्थों में बढ़ने और घटने का कार्य समान रूप से होता रहता है। जहाँ कहीं पर नियमविरुद्ध हुआ, तुरंत ही सबको स्पष्ट मालूम पड़ जाता है। जैसे—बहुत-से फल पूरा पक जाने पर भी फूट नहीं जाते, हाँ, कोई-कोई फल स्वयं फट जाता है।

उपर्युक्त घटनाओं को ध्यान से देखिए। कालचक्र के चमत्कार से जो वस्तु एक समय अनाजरूप में थी, वही किसी दूसरे समय रजो-वीर्य-रूप में परिणत हुई, तीसरे किसी समय पिंडरूप में, चौथे किसी समय शिशुरूप में, पाँचवें किसी समय बालकरूप में, छठे किसी समय युवक रूप में, और सातवें किसी समय वृद्धरूप में परिणत हो जायगी। इस बढ़ने में बाह्य आहारादि पदार्थ भी उपादान रूप से होते हैं, साथ ही साथ मूल-वस्तु भी बढ़ने में प्रधान रूप से रही। तभी यह कार्य यथानियम हुआ। इस परिवर्तन के कारणभूत काल-परमाणु अरूप होते हुए भी इस लोक में सर्वत्र व्याप्त है। उन्हीं के निमित्त से उस पिंड में प्रति समय परिवर्तन होता रहा।

---

* प्रदेश उतने स्थान को कहते हैं, जितने स्थान का आक्रमण एक अत्यंत सूक्ष्म परमाणु करे।

† यह लेख श्रीनाथूराम प्रेमीजी द्वारा संपादित "जैन-हितैषी"-पत्र में प्रकाशित हुआ था।

अनादि काल से जीव, अज्ञान और मोह के कारण नाना शरीररूपों में परिणत होकर संसार में परिभ्रमण कर रहा है। यह बात मैंने ऊपर प्रसंगवश कही है। उस संबंध में जैनदर्शन का कर्मसिद्धांत कहता है कि जैसे तपाया हुआ लोहे का गोला पानी में पड़ते ही चारों तरफ़ से पानी को खींचता है, वैसे ही संसार का प्रत्येक जीव प्रति समय मन, वचन, काया की चंचलता, क्रोधादि कषाय की तीव्रता और मंदता के अनुसार अनंत सूक्ष्म पुद्गल (निर्जीव) परमाणुओं को खींचता रहता है, (उन परमाणुओं को कर्म-परमाणु की संज्ञा दी गई है ।) और पूर्व काल में खींचे हुए परमाणुओं को प्रति समय छोड़ता रहता है। जिन नवीन परमाणुओं को वह खींचता है, वे आत्मा के चारों तरफ़ चिपटकर उसकी स्वाभाविक अनंत गुणों को दबा देते हैं। जैसे खाए हुए अन्न से रक्त, हड्डी, मेद, मज्जा, वीर्यादि बनते हैं, वैसे ही उन चिपटे हुए परमाणुओं के सामान्य से आठ भेद, विस्तार से एक सौ अड़तालीस भेद हो जाते हैं, और निश्चित समय तक आत्मा के साथ रहकर, किसी समय शुभाशुभ फल देकर फिर जाते रहते हैं। इस प्रकार बाह्य नवीन परमाणुओं को खींचने और खिंचे हुए परमाणुओं को छोड़ते रहने का कार्य सर्वदा चालू है। कोई जीव किसी समय कैसी भी अवस्था में रहे, यह कार्य स्वयमेव सर्वदा चालू रहता है। सूक्ष्म-से-सूक्ष्म वस्तुदर्शक यंत्र भी उन्हें नहीं देख सकता, इतने सूक्ष्म वे परमाणु हैं। जब जीव-विशेष क्रोधादि कषायों से युक्त होता है, तब बहुत ज़्यादा परमाणु आकर चिपटते हैं। शांतचित्त होकर जब रहेगा, तब बहुत कम परमाणुओं को खींचेगा। पर यह है कार्य सर्वदा चालू। यही परमाणु मिलकर नवीन आगामी शरीर के लिये कारणभूत हो जाते हैं। अर्थात् एक शरीर दूसरे शरीर के लिये, दूसरा तीसरे शरीर के लिये, तीसरा चौथे के लिये, चौथा पाँचवें के लिये, पाँचवाँ छठे के लिये क्रमशः कारण हो जाते हैं। यह परंपरा अनादि काल से चालू है।

अब यहाँ पर एक प्रश्न उठ सकता है। वह यह कि चैतन्य जीवों के ऊपर निर्जीव परमाणु अपना प्रभाव कैसे जमा देते हैं? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि निर्जीव पदार्थों में इतनी ताक़त नहीं है कि वे चैतन्य जीव के ऊपर बिना कारण आक्रमण करें, तथापि जब जीव ही आक्रमण करवाने के लिये तैयार हो जाता है, तब बाह्य पदार्थ उन पर अपना प्रभाव जमा देते हैं। जैसे—मदिरा यह नहीं कहती कि तुम मुझे पीकर मस्त हो जाओ। जब मनुष्य ही रसनेंद्रिय के वशीभूत होकर उसे पीता है, तभी वह उन पर अपना प्रभाव जमा देती है। मदिरा पिया हुआ मनुष्य नशे में इतना मस्त हो जाता है कि कुछ काल तक उसे इस बात का ही पता नहीं रहता कि मैं कौन हूँ, कहाँ से आया, क्या कर रहा हूँ, और मुझे क्या करना चाहिए। इसी प्रकार अनादि काल से अनंतानंत जीव मोह और अज्ञानरूपी मदिरा से मस्त होकर नाना पर्याय में जन्म लेते, और मरते हैं। इस प्रकार की परंपरा अनादि काल से चालू है। जब कोई जीव अज्ञान से अत्यंत तीव्र पापकर्म करता है, उस समय खींचे हुए परमाणु अशुभ रूप में परिणत हो जाते हैं। जब वे अपनी स्थिति पूरी करके उदय में आते हैं, तो वही जीव, पशु, पक्षी, वनस्पति पर्याय में, अर्जित किए हुए अशुभ कर्म के फल के अनुसार, पैदा होकर अत्यंत दुःख भोगते रहते हैं। जब जीव कालांतर में आदर्श शुभ कर्म करता है, तो मनुष्य-पर्याय को प्राप्त करता है और मनुष्यों में भी बड़े-बड़े विद्वान्, प्रतिभाशाली व्यक्तियों की श्रेणी में हो जाता है। कर्म-सिद्धांत का मुख्य तात्पर्य यह है कि जो जैसे कर्म करता है, वह वैसे ही फल अवश्य पाता है। "मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।" उस कर्मफल को बढ़ाने या घटाने में कोई भी व्यक्ति समर्थ नहीं। संसार में जीव इसलिये दुःख पाता है कि वह अपने निज स्वरूप सहजानंद शुद्ध चैतन्य को भूलकर, कर्मफल-शरीर को ही अपना स्वरूप मानकर उसकी रक्षा के लिये मनमाने कर्म करता है। प्रत्येक व्यक्ति प्रत्यक्ष देखता है कि शरीर ज्यों-का-त्यों रहते हुए भी, आयुष्य पूर्ण होते ही, आत्मा या जीव शरीर को छोड़कर झट चले जाते हैं। उस दृश्य को देखकर संसार की नश्वरता को सोचते हुए कुछ समय तक सभी वैरागी हो जाते हैं, पश्चात् ज्यों-की-त्यों मनमानी करते हैं। कारण, अनादिकालीन, मोह और अज्ञान ने उन्हें इतना पराधीन बना दिया है कि उन्हें सच्ची आत्महित की बात रुचती ही नहीं।

प्रत्येक व्यक्ति को यह बात सदा याद रखनी चाहिए कि उसे सच्चा सुख, शांति उसकी अंतरंग आत्मा से ही प्राप्त

होगा; क्योंकि वह चैतन्य सच्चे सुख, शांति का पिंड है। बाहर के पदार्थों से कदापि सुख नहीं प्राप्त हो सकता है। प्रत्येक जीव अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख, और अनंत वीर्यादि अनंत गुणों का अखंड पिंड है, अतः एक क्षुद्र-से-क्षुद्र चींटी भी कालांतर में परमात्मा या ईश्वर स्वयं बन सकती है। पर अंतरंग गुणों का विकास करना न करना जीवों के हाथ में है। उन अंतरंग गुणों का विकास तभी होगा, जब जीव अपने मन को बाह्य प्रवृत्ति से हटाकर अंतरंग प्रवृत्ति में (आत्मस्वरूप-चिंतन में) लगावे। जैसे बड़े-बड़े वैज्ञानिक लोग अपने मन को और प्रवृत्ति को किसी एक तरफ़ झुकाकर आश्चर्यकारी अनेक पदार्थों का आविष्कार करते हैं, वैसे ही कोई मनुष्य अंतरंग आत्मगुणों के विकास के लिये निरंतर बहुत काल तक परिश्रम करे, तो बहुत-से गुणों का विकास आजकल भी प्राप्त हो सकता है। प्राचीन काल के बड़े-बड़े तपस्वी यही एक अध्यात्म तपस्या के असाधारण माहात्म्य से बहुत-सी आश्चर्यजनक ऋद्धि-सिद्धि को प्राप्त करते थे। आजकल लोगों की प्रवृत्ति उस तरफ़ बिलकुल नहीं है। अतः असाधारण महात्मा लोग बहुत कम हैं। आजकल भी आत्मविशुद्धि और तपस्या का माहात्म्य बतलाने के लिये ही मानो हम लोगों के सामने संसार के सर्वश्रेष्ठ पुरुष महात्मा गांधी विद्यमान हैं। देश-विदेश के बड़े-बड़े विद्वान् उनके बहुमूल्य वचनों को वेदवाक्य के समान मानते हैं। जहाँ कहीं पर महात्मा गांधी आ जाते हैं, तो लाखों आदमी उधर टूट पड़ते हैं; उनके प्रत्येक वाक्य को इतने आदर और चाव से सुनते हैं कि देखकर बड़ा आश्चर्य मालूम पड़ता है। यह सब आत्मगुणों के विकास का माहात्म्य है। यही शक्ति हम सबकी आत्मा में अव्यक्त रूप से विद्यमान है। महात्माजी में व्यक्त रूप से विद्यमान है, इतना ही फ़रक़ है। इनके जैसे प्रभावशाली महात्मा को देखकर साधारण बुद्धिवाले यह कह देते हैं कि यह ईश्वर का अवतार हैं, पर यह बात युक्तिसंगत नहीं है; क्योंकि ऐसे अल्पज्ञों की कल्पना से ही दुनिया में सैकड़ों मत-मतांतरों की उत्पत्ति हुई, और अंधश्रद्धा बढ़ते-बढ़ते प्रत्येक धर्म-पथ के लाखों-करोड़ों अनुयायी बन गए। एक ने दूसरे का दुश्मन बनकर संसार में अशांति फैला दी। यथार्थ में बात यह है कि महात्मा गांधी-जैसे असाधारण पुरुष संसार में जितने भी हो गए और भविष्य में जितने भी होंगे, वे सभी हम लोगों के-जैसे मनुष्य हैं, सभी हम लोगों के-जैसे अल्पज्ञ रहे हैं, अर्थात् सभी का ज्ञान और अनुभव परिमित रहा है। प्रबल पुरुषार्थ से आत्मा के अनंत गुणों का विकास करना या ईश्वरत्व, सर्वज्ञता प्राप्त करना कोई ऐसी-वैसी बात नहीं है, जो सरलता से प्राप्त की जा सके। उसके लिये योग्य काल, मानसिक और शारीरिक विशेष शक्ति, दीर्घ आयुष्य की आवश्यकता है। यह सब सामग्री प्राप्त हो, तभी करोड़ों मनुष्यों में कोई एक प्रचंड वीरशिरोमणि, मानसिक कमज़ोरियों को दूर करते हुए, प्रबल आत्मशक्ति से सैकड़ों वर्षों तक घोर तपस्या करते हुए, तपस्यारूपी अग्नि में मोह और अज्ञानरूपी ईंधन को भस्म करके, स्वात्मस्वरूप अनंत ज्ञानादि, अनंत गुणों को प्राप्त करता है। उसी का नाम ईश्वर है। यथार्थ में हम सब लोग अव्यक्त रूप से ईश्वर हैं; क्योंकि योग्य सामग्री मिलने पर प्रबल पुरुषार्थ से स्वात्मस्वरूप को प्राप्त कर सकते हैं। ईश्वरत्व को प्राप्त शुद्धात्मा लोक के अग्रभाग में जाकर विराजमान होती है। पुनः वहाँ से संसार में आकर, अवतार लेते हुए, इस संसार के झगड़ों में नहीं फँसती है।

मा० वर्द्धमान हेगडे

शब्दकार—"सूरदास"] राग बहार—तीन ताल [स्वरकार—गौरीशंकरसिंह आचार्य

गीत

जा जा रे भ्रमरा दूर दूर ।
तेरो सो रंग-अंग है उनको ,
जिन मेरो मन कियो चूर-चूर ।
जब लगि तरुन फूल महकत है ,
तब लगि रहत हजूर जूर ।
"सूरश्याम" मतलब के मधुकर ,
ले ले कली-रस घूर-घूर ।

स्थायी

न	तिं	तिं	ना	ना	धिं	धिं	ना	ना	धिं	धिं	ना	ना	धिं	धिं	ना
														ध	नि
														जा	ऽ
		सां				म		सं							
सां	—	नि	प	म	प	ग	—	नि	ध	नि	सां	—	सां	ध	नि
जा	ऽ	रे	ऽ	भ्र	म	रा	ऽ	दू	ऽ	र	दू	ऽ	र	जा	ऽ
नि	—	नि	नि	सां	—	सां	सं	नि	सां	रें	सां	नि	सां	नि	प
तें	ऽ	रो	सो	र	ऽ	ङ्ग	भ्र	ऽ	ङ्ग	है	ऽ	उ	न	को	ऽ
								सं							
सां	सां	नि	प	म	प	ग	म	नि	न	नि	सां	—	सां	ध	नि
जि	न	मे	रो	म	न	कि	यो	चू	ऽ	र	चू	ऽ	र	जा	ऽ

अंतरा

ग	ग	म	म	नि	ध	नि	सां	—	सां	सां	नि	सां	नि	सां	—
ज	ब	ल	गि	त	रु	न	फू	ऽ	ल	म	ह	क	त	है	ऽ
सां	मं	मं	रें	सां	नि	सां	रें	नि	सां	रें	सां	नि	प	ग	म
त	ब	ल	गि	र	ह	त	ह	जू	ऽ	र	जू	ऽ	र	जा	ऽ

								म							
सा	—	स	म	—	म	म	प	ग	ग	ग	म	रे	रे	सा	सा
सू	ऽ	र	श्या	ऽ	म	म	त	ल	ब	कें	ऽ	म	धु	क	र
		सं				म		सं							
सां	—	नि	नि	म	प	ग	म	नि	ध	नि	सां	—	सं	ध	नि
ले	ऽ	लें	क	ली	ऽ	र	स	घू	ऽ	र	घू	ऽ	र	जा	ऽ
०				१				×				३			

बहार-लक्षण

रिध तीवर कोमल निगम, उतरत धैवत टार।
सम संवादी वादि तें, समझो राग बहार॥

× × ×

१. अर्थ-वैचित्र्य

येन ध्वस्तमनोभवेन बलिजित्कायः पुरा स्त्रीकृतो
यश्चोद्वृत्तभुजङ्गहारवलयो गङ्गा च योऽधारयत्।
यस्याहुः शशिमच्छिरो हर इति स्तुत्यं च नामामराः
पायात् स स्वयमन्धकक्षयकरस्त्वां सर्वदो माधवः॥

उपर्युक्त श्लोक किसी कवि ने अपने मित्र के पास आशीर्वाद के रूप में भेजा था। इस श्लोक को शिव और विष्णु दोनों के पक्ष में बहुत थोड़े रूपांतर के साथ संघटित करने में कवि ने बड़ा ही कौशल दिखलाया है। थोड़ा ध्यान देने से भाव स्पष्ट समझ में आ जाता है। पाठक देखें। भावार्थ नीचे दिया जाता है। शिव के पक्ष में—

कामदेव का ध्वंस करनेवाले, विष्णु के शरीर को (त्रिपुरासुर के वध के समय) छेदनेवाले, विषधर सर्पों का हार और वलय रखनेवाले, सिर पर गंगा और चंद्रमा को धारण करनेवाले और अंधक राक्षस का वध करनेवाले उमा के पति (धव) अर्थात् शिव तुम्हारी रक्षा करें।

उपर्युक्त श्लोक ही बहुत थोड़े रूपांतर के साथ निम्नलिखित रूप में विष्णु के पक्ष में संघटित होता है—

येन ध्वस्तमनोऽभवेन बलिजित्कायः पुरा स्त्रीकृतो
यश्चोद्वृत्तभुजंगहारवलयोऽगं गां च योऽधारयत्।
यस्याहुः शशिमच्छिरोहर इति स्तुत्यं च नामामराः
पायात् स स्वयमन्धकक्षयकरस्त्वां सर्वदो माधवः॥

अर्थ—जन्मरहित (अभव), शकट (अन) को पैरों से परावर्तित करनेवाले, बलि को जीतनेवाले, मोहिनी का रूप धारण करनेवाले (कायः पुरा स्त्रीकृतः), उद्धत स्वभाववाले, सर्पों के हरण करने (खाने) का बल रखनेवाले, गरुड़ पर यात्रा करनेवाले, गोवर्द्धन पर्वत और पृथ्वी को धारण करनेवाले, चंद्रमा का मन्थन करनेवाले, राहु का सिर काटनेवाले और अंधक अर्थात् यादवों के नाशक माधव तेरी रक्षा करें।

× × ×

२. विदेश-गमन

मा गा इत्यप्यमङ्गलं व्रज पुनः स्नेहेन हीनं वचः
तिष्ठेति प्रभुता यथारुचि कुरुष्वेषाप्युदासीनता।
इत्यालोच्य मृगीदृशी जलधरप्रारम्भसंसूचके
प्रादुर्भूतकदम्बकोरविटपे दृष्टिस्समारोपिता॥

नायक विदेश जाने को प्रस्तुत है। नायिका भावी विरह-जनित दुःखों का अनुमान कर बहुत ही अधीर हो रही है। उसके लिये यह समय बहुत ही विकट है। वह यह नहीं समझ पाती कि किन शब्दों में अपने हृदय की भावना प्रकट करे, जिससे उसके प्रियतम का जाना स्थगित हो जाय। नाना प्रकार के भावों के सागर में वह डूबती-उतराती है। वह सोचती है—

"मत जाओ" यह अमंगलसूचक शब्द है; 'जाओ' यह भी एक स्नेहहीन हृदय-वेधक वचन होगा। 'ठहरो' कहने से प्रभुता का भाव झलकने लगता और 'इच्छानुसार करो' यह भी उदासीनता के भाव का द्योतक होने के कारण जिह्वा पकड़ लेता है। उसे कोई शब्द ही नहीं मिलता, जो उस समय कहने के उपयुक्त हो। अंत में उसे एक युक्ति सूझ पड़ती है। वह नवपल्लवित कदंब की डालों को सजल नेत्रों से देखने लगती है, जो वर्षा के समागम की सूचना दे रही थीं।

कवि की क्या ही अनुपम सूझ है! कैसे लोकोत्तर भाव हैं! कवि की वर्णन-शैली देखने ही लायक़ है।

सत्यव्रत शर्मा "सुजन"

१. भूल-सुधार

आज-कल हिंदी के लेखक संस्कृत-शब्दों का प्रयोग तो खूब करते हैं, परंतु यह नहीं समझते हैं कि जिस अर्थ में संस्कृत के जिस शब्द का प्रयोग करते हैं, वह वास्तव में उसका बोधक है, या नहीं; आँख मूँदकर लिखते जाते हैं। उदाहरणार्थ 'जयन्ती' शब्द को लीजिए। कुछ लोगों ने इसे जन्मोत्सव या वर्षगाँठ का बोधक समझ लिया है। परंतु यह उन लोगों की भूल है। हिंदी-शब्द-सागर में भी यही अर्थ लिखा है। हमें यह देखकर आश्चर्य होता है कि जिस शब्द-सागर के बनाने में लाखों रुपए और कई वर्ष लगे हों, उस शब्द-सागर में भी इस प्रकार की भयंकर भूल हो।

'जयन्ती' शब्द संस्कृत-भाषा का है। संस्कृत के शब्द-स्तोम महानिधि-नामक कोष में श्रीयुत प्रोफ़ेसर श्रीतारानाथ तर्कवाचस्पतिजी ने इस प्रकार लिखा है—जयन्ती० स्त्री० जयति रोगान् अन्यान्यौषधानि वा जि-शतृ-ङीप्। जरायां, नादेय्यां, दुर्गाभेदे "जयन्ती मङ्गला काली" इति मन्त्रः। पताकायां जयन्ती वृक्षे, रोहिणीसहिता कृष्णमासे च श्रावणेऽष्टमी। अर्द्धरात्रादधश्चोर्ध्व काल-व्यापि यदा भवेत्। जयन्ती नाम सा प्रोक्ता—इत्युक्त-लक्षणे योगभेदे च। फिर देखिए, हिंदी के प्रसिद्ध लेखक श्रीयुत पं० द्वारकाप्रसादजी चतुर्वेदी एम्० आर० ए० एस्० अपने संस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तुभ-नामक कोप में जयन्ती शब्द का अर्थ इस प्रकार लिखते हैं—

जयन्ती (स्त्री०) पताका। इन्द्रपुत्री। दुर्गा का नाम। संस्कृत के किसी भी कोष में जयन्ती-शब्द का अर्थ किसी की वर्षगाँठ या जन्मोत्सव के अर्थ में नहीं आता है। अतएव तुलसी-जयन्ती, प्रताप-जयन्ती और हरिश्चन्द्र-जयन्ती इत्यादि के प्रयोग हिन्दी में ठीक नहीं हैं। हिंदी के वर्तमान लेखकों से निवेदन है कि संस्कृत-शब्दों का अर्थ किसी संस्कृतज्ञ पंडित से पूछकर तब उनका प्रयोग किया करें। अन्यथा हिंदी की और उनकी, सुधी-समाज में हँसी ही होगी। आशा है, हिंदी-शब्द-सागर के विद्वान् सम्पादकगण भी द्वितीय संस्करण में इस भूल को सुधार देंगे।

गिरिजाप्रसाद शर्मा

× × ×

२. एक नम्र निवेदन

हिंदी के विद्वानों से मेरा एक नम्र निवेदन है। मैं विद्यापति की एक कविता पढ़ रहा था, मुझे उसका अर्थ समझ में नहीं आया। कविता क्या है, एक पहेली है। कविता में असीम सौन्दर्य है, अपूर्व माधुर्य है, शब्दों का अर्थ भी बहुत सरल है, फिर भी इस पहेली का भाव समझ में नहीं आता। मैंने बहुत चेष्टा की, पर मेरे सब प्रयत्न विफल हुए। अतएव मैंने आज विद्वन्मंडली की शरण ली है। आशा है, हिंदी के विद्वान् मुझे इसका अर्थ बतलाने की कृपा करेंगे। नीचे वह कविता दी जाती है—

"कुसुमित कानन कुंजे बसि।
नयनक काजर घोरि मसि।
नख सों लिखलि नलिनी-दल-पात।
लिख पठाओल आखर सात।
पहिलहिं लिखलनि पहिल बसन्त।
दोसरें लिखलनि तेसरक अन्त।
लिख नहिं सकली अनुज बसन्त।
पहिलहिं पद आछि जीवक अन्त।
मनहिं विद्यापति आखर लेख।
बुध जन हों, से कहथि बिसेख।"

यही कविता या पहेली है। यह उस नायिका के पत्र-लेखन के विषय में है, जिसका पति प्रवासी है।

जो सज्जन इस कविता या पहेली का अर्थ बतलाने की कृपा करें, वे कृपया उस अर्थ को 'माधुरी' में प्रकाशित करा दें।

क्या हिंदी के विद्वान् मेरी इस प्रार्थना पर ध्यान देंगे?

जयनारायण मल्लिक

× × ×

३. रसना

चेरी स्वाद ही की निसि द्यौस तो बताओ भला,
　बधिकन हाथ पसु-रासि क्यों न मारी जाय;
धारना "व्रजेस" जब ऐसी अविचार की है,
　बात-बात ही में तब ही तौ कही गारी जाय।
'ना' की संगिनी है क्यों दुरित दुरासा करै,
　रोज ही दुखाई जासों जनता बिचारी जाय;
आरस असील मुख बैठी बस ना है, तब
　कस ना विचारो यह रस-ना पुकारी जाय।

राघवेंद्र शर्मा "व्रजेश"

× × ×

४. संगीताचार्य वैद्यनाथ

प्राचीन भारत के राजा-महाराजाओं ने सङ्गीतशास्त्र की अद्भुत शक्तियों से प्रभावित एवं प्रसन्न होकर इसे विशेष महत्त्व प्रदान किया था। उनकी छत्रच्छाया में इसकी आशातीत उन्नति हुई और अनेक सङ्गीताचार्यों ने जन्म लेकर अपने आश्चर्यजनक कौतुकों से संसार को ऐसा चकित कर दिया कि उन्हें आज हम कपोल-कल्पित कथाएँ कहकर अपने संकुचित विचारों का परिचय देते हैं।

कविता और सङ्गीत का अटूट संबंध है; हम इनको भिन्न नहीं कर सकते। यदि एक पुष्प है, तो दूसरा पराग; एक वीणा है, तो दूसरा उसका सुमधुर स्वर। मानव-मस्तिष्क में इनका पूर्ण रूप से विकास होते ही हृदय एक अलौकिक आलोक से जगमगा उठता है। भारतीय इतिहास के प्रोज्ज्वल पृष्ठ इसके सजीव साक्षी हैं। औरंगज़ेब-भूषण, तैमूर-दौलत तथा हुमायूँ-बैजू के संवाद इस बात के ज्वलंत उदाहरण हैं। आज मैं इसी श्रेणी के एक सुप्रसिद्ध सङ्गीताचार्य के जीवनवृत्त को सुविज्ञ पाठकों के सम्मुख उपस्थित करता हूँ।

इनका जन्म गुजरात-प्रांत के चंपानेर-नामक स्थान में एक साधारण स्थिति के नागर-ब्राह्मण के घर हुआ था। शैशवावस्था से ही इन्हें सङ्गीत से प्रेम था। यह अपने गान में ऐसे तल्लीन हो जाते थे कि इन्हें आगंतुकों के आने और जाने का कुछ ध्यान ही न रहता था। इसी कारण लोग इन्हें बावरा (बावला) नाम से संबोधित करने लगे। इनका असली नाम वैद्यनाथ था, जो कालांतर में बिगड़कर बैजनाथ, बैजू और बैजू बावरा हो गया। उन दिनों सङ्गीत-शिक्षा का केन्द्र ग्वालियार था। संगीतशास्त्र और कला के प्रगाढ़ पण्डित, ध्रुपद-नामक गायन के आविष्कारक और ग्वालियार के शासक ने एक बृहद् सङ्गीतशाला की स्थापना की थी। बैजू बावरे ने यहीं पर सङ्गीतशास्त्र का अध्ययन किया था और शिक्षा-समाप्ति के पश्चात् वह कुछ काल तक अध्यापक भी रहे थे। इनके गुरु आचार्य हरिदास स्वामी थे और

सुप्रसिद्ध गायक तथा कवि तन्ना मिश्र (तानसेन) और नायक गोपाल इनके गुरुभाई थे ।

सप्त प्रगट सप्त गुप्त नायक गोपाल ध्यायो,
तानसेन ताको बैजू पाषाण पिघलायो ।—'तानसेन'

उपर्युक्त सङ्गीतशाला के नष्ट हो जाने पर, सन् १५३६ ई० के लगभग बैजू बावरे ने गुजरात के सुलतान मोहम्मद के दरबार में नौकरी कर ली और शीघ्र ही सुलतान के परम प्रिय प्रेमपात्र बन गए । राजदरबार में सम्मानित होने पर भी इन्हें नाम-मात्र का गर्व न था । स्वामिभक्त बैजू शीघ्र ही भागकर सुलतान से आ मिले । इनको देखते ही सुलतान ने प्रसन्न होकर कहा कि जो कुछ मैंने खोया था और जिसे मैं ईश्वर से माँग रहा था, वह मुझे मिल गया, अब किसी वस्तु की आकांक्षा नहीं ।

एक बार बैजू एक भड़भूँजे के भार पर बैठे कुछ गा रहे थे । भड़भूजे ने चने भूनने के लिये बर्तन को गर्म किया । यह देखते ही बैजू बोल उठे—मेरी पीठ दीपक राग से गर्म हो रही है, तुम उसी पर चने क्यों नहीं भून लेते । भड़भूँजे ने पीठ पर हाथ रक्खा, तो वास्तव में वह बहुत गर्म थी ।

वैद्यनाथ एक असाधारण गायक ही न थे, वरन् हिंदी के अच्छे ज्ञाता और कवि भी थे । उन्होंने संगीत "ओकदेशा", "रागसागर" और "रागतरङ्ग" आदि कई ग्रंथ रचे थे । किंतु 'रागसागर' और कुछ स्फुटिक कविताओं के अतिरिक्त शेष अप्राप्य हैं । बैजू बावरे के जन्म-मरण आदि की विस्तृत बातों का पता ठीक नहीं चलता । आशा है, हमारे सहृदय साहित्यान्वेषी पाठक इस पर प्रकाश डालने का विशेष प्रयत्न करेंगे । हम उनकी 'काली-वंदना' का एक उदाहरण यहाँ पर उद्धृत कर लेख को समाप्त करेंगे । काली की स्तुति में उन्होंने कितनी ही रचनाएँ की हैं । वह एक सहृदय, सच्चे, सच्चरित्र, सदय, सरल, सादे और धर्मपरायण व्यक्ति थे । एक बार मुग़ल-सम्राट् हुमायूँ ने गुजरात गढ़ पर आक्रमण कर अपना अधिकार स्थापित कर लिया । सुलतान कुछ साथियों के साथ भाग गया । हुमायूँ ने क़िले के भीतर के मनुष्यों को वध करने की आज्ञा दे दी । बैजू भी वहीं पर थे । एक मुग़ल-सरदार ने इनको बादशाह के सामने पेश किया और सङ्गीत-सम्राट् कहकर इनका परिचय कराया । क्रुद्ध हुमायूँ ने कर्कश स्वर में गाने की आज्ञा दी । गाना प्रारंभ हो गया । सङ्गीत की एक ही तान में श्रोतागण मंत्रमुग्ध हो गए । बादशाह का सारा क्रोध काफ़ूर हो गया । उसने प्रसन्न होकर कहा—"बैजू ! माँगो जो कुछ तुम्हारी इच्छा हो, मैं दूँगा ।" बैजू ने कहा—महाराज ! मानव-वध बंद कर दिया जाय । क़त्ल बंद हो गया । बादशाह ने फिर कहा—"और माँगो" । बैजू ने प्रार्थना की कि बंदी मुक्त कर दिए जायँ । हुमायूँ ने क़ैदियों के छोड़ने की आज्ञा दे दी । अफ़सरों ने कुछ आपत्ति की ; किंतु बादशाह बोले—यह तो एक साधारण बात है, यदि बैजू सारी बादशाहत माँगता, तो भी मुझे देना पड़ता ।

पाठको ! यह है प्राचीन सङ्गीत शास्त्र की अलौकिक असीम शक्ति की एक झलक और साधु सङ्गीतज्ञ के हार्दिक भाव का एक साधारण नमूना है, जिसके आधार पर उनके काली-उपासक होने का अनुमान किया जा सकता है ।

राग भैरव—चौताल

जय काली कल्याणी खप्रधारिणी गिरिजा ,
घनश्यामा चण्डी चामुंडी छत्रधारिणी ।
जग-जननी ज्वालामुखी आदिजोति अनंता ।
देवी अन्नपूर्णा आनंदी तरण तारिणी ,
जोगिनी जय रत्नाकरणी विन्ध्यवासिनी ,
ललित बहुचरा भवानी असुरदलनी महिषासुरमारिणी ।
हिमगिरि हिंगलाज रानी काश्मीरी शारदा ,
कामरू कामदया तुलजा "बैजु" भक्त सुखकारिणी ।

रामशंकर मिश्र

× × ×

५. कल-कौमुदी

गोरी गरबीली गृहपति की गृहणि है, कि
सुंदर सलोने सामवेद का प्रकास है ;
गोपियों के मानस की चारु शुभ्र कांति है, कि
सूर-तुलसी की काव्य-कला का प्रकास है ।
किंवा कीर्तिवाहिनी 'करीर-कुंज-कोकिल' की
रजतमयी सु-सीढ़ियों का ही प्रकास है ;
आसमान अभ्र है कि कल-कौमुदी से प्यारी
तेरी कुंद कलियों का छाया सुप्रकास है ।

गंगाचरण दीक्षित 'आकुल'

× × ×

६. एक विस्मृत हिंदू-सम्राट्

इतिहास देश की सभ्यता का दर्पण है। परंतु दुर्भाग्य-वश यह दर्पण सदैव से ही पक्षपातरूपी धूलि से मलिन होता रहा है। कोई भी इतिहास-लेखक अपने समय की घटनाएँ पक्षपात-रहित होकर नहीं लिख सकता। परंतु उन घटनाओं की यथार्थता कुछ समय बाद, जब उनकी विवेचना केवल ऐतिहासिक दृष्टि से की जाती है, अवश्य ही प्रकट हो जाती है।

यहाँ एक ऐसे ही ऐतिहासिक व्यक्ति के चरित्र की विवेचना की जायगी, जिसकी महत्ता समसामयिक इतिहासकारों के पक्षपात के कारण बिलकुल नष्ट-सी हो गई है। यह व्यक्ति राजा हेमचंद्र था। उस समय के इतिहासकारों ने इसको हेमू लिखा है, जैसे राना संग्रामसिंह के समय के लेखकों ने उसको साँगा लिखा है। हेमू, हुमायूँ और अकबर का समकालीन था और उसने दिल्ली में पहले आदिलशाह सूर का मंत्री बनकर, और फिर राजा होकर बहुत दिन तक शासन किया। अब तक सब इतिहासकार हेमू के इतिवृत्त के लिये उस समय के मुसलमान लेखकों का पूर्ण विश्वास करते रहे थे, परंतु इधर कुछ समय से इस विषय पर काफ़ी विवाद हुआ है, जिसके फलस्वरूप हेमू के इतिहास पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ा है।

हेमू के समय के मुसलमान लेखकों ने उसका थोड़ा-सा हाल लिखकर ही संतोष किया है, जिसमें उन्होंने उसको बक़्क़ाल, काफ़िर और नीच लिखा है। यह लिखना भी स्वाभाविक ही था, जब हम जानते हैं कि वे लोग हेमू के शत्रुओं में थे। परंतु वर्तमान समय के विद्वानों ने इन लेखकों का पूर्णरूपेण विश्वास करके, हेमू के साथ अवश्य ही अन्याय किया है। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ विंसेंट स्मिथ ने भी मध्यकालीन मुसलमान लेखकों का विश्वास करके, हेमू को 'रिवाड़ी का निवासी और बनिया जाति की धूसर-शाखा का सदस्य' लिखकर ही संतोष किया है। उन्हीं इतिहास-लेखकों के आधार पर स्मिथ महोदय ने 'हेमू की नीच जाति, दुर्बल देह तथा हिंदू-धर्म की कठिनाइयों' पर भी अपनी सहानुभूति प्रकट की है। यहाँ पर यही दिखाया जायगा कि (कही जानेवाली 'हिंदू-धर्म की कठिनाइयों' के अतिरिक्त) यह सब बातें भ्रमात्मक हैं।

वास्तव में हेमू न तो बनिया जाति का अंग था, न रिवाड़ी का निवासी। इस ग़लती का कारण यही मालूम होता है कि हेमू धूसर था। उत्तर-भारत में इसी नाम की दो जातियाँ हैं। इनमें से एक तो भार्गव-जाति है, जो वधू-सरा नदी-तट पर, जिसकी उत्पत्ति का श्रेय महाभारत में महर्षि भृगु की वधू को दिया गया है, बसने से वधूसर अथवा धूसर कहलाई, और जो संभवतः गौड़ ब्राह्मणों की एक शाखा है, जैसा कि गौड़पादसंग्रह के इस श्लोक से मालूम होता है—

'भार्गवा द्विविधाः प्रोक्ता गौडाः सारस्वतास्तथा ।
धूसरा भार्गवाः सर्वे गौडवंशसमुद्भवाः ॥'

दूसरी संयुक्त प्रांत में बसनेवाली धूसर बनिया-जाति है। सन् १८९१ के जन-संख्या-विवरण (Census Report) में भी यह भेद स्वीकृत किया गया है। अब इस बात का काफ़ी प्रमाण मिल गया है कि हेमू धूसर ब्राह्मण था, तथा धूसर बनिया जाति से उसका कोई संबंध न था। पटियाला-राज्य के अंतर्गत कानौड़-ग्राम के निवासी कुछ भार्गव अपने को हेमू के चचेरे भाई नौनिधिराय की संतान बतलाते हैं, और उनके पास उस समय के ऐतिहासिक पत्र और सनदें भी हैं। इन भार्गवों के पूर्व-पुरुष पहले अलवर-राज्य के अंतर्गत देहरा-नामक स्थान में रहते थे। अतएव हेमू भी इसी स्थान का निवासी रहा होगा। मेजर मनोहरलाल भार्गव ने, जो इसी वंश के हैं, कृपा करके मुझे हेमू के वंश के बारे में ठीक-ठीक विवरण दिया है। मुझे उनसे मालूम हुआ है कि हेमू का वर्ण ब्राह्मण, जाति धूसर, वंश भार्गव, गोत्र गालव, वेद यजुस्, शाखा माध्यंदिनी और कुल देवता वरुण था। अतएव यह स्पष्ट है कि हेमू जाति का ब्राह्मण था और उसका निवासस्थान देहरा था।

अब यह देखना है कि हेमू, जैसा कि मुसलमान इतिहासकारों ने लिखा है, व्यवसाय में भी दूकानदार था अथवा नहीं। हाल में जो विवेचनाएँ हुई हैं, उनसे तो यही ज्ञात होता है कि यह मुसलमान लेखकों की कपोल-कल्पना है और उन्होंने हेमू का अपमान करने के लिये ही ऐसा लिखा है। हेमू के पूर्वजों के नामों से ही यह स्पष्ट विदित होता है कि उसके कुलवाले बहुत काल से सामंतों की गणना में थे। हेमू का वंशवृक्ष इस प्रकार है—

इसके अतिरिक्त मैंने हेमू के तथा उसके पिता के कुछ पुराने चित्र भी देखे हैं, जो बिलकुल राजोचित हैं और जिनसे हेमू का प्रारंभ में एक क्षुद्र व्यापारी होना अथवा दुर्बल होना मिथ्या प्रमाणित होता है।

मध्यकालीन भारतवर्ष के इतिहास में निस्संदेह हेमू का बहुत उच्च स्थान है, जो मुसलमान इतिहासकारों के पक्षपात के कारण उसे नहीं मिल सका है। हेमू की गणना भारतीय इतिहास के सबसे बड़े योद्धाओं में की जा सकती है। वह बाईस लड़ाइयों का विजेता था और, जैसा कि इम्पीरियल गज़ेटियर (Imperial Gazetteer) में लिखा है, एक शक्तिशाली व्यक्ति, महान् योद्धा और चतुर शासक था। उसने मुग़लों को भी, जो टर्डी बेग की अध्यक्षता में लड़ रहे थे, हरा दिया था; परंतु पानीपत की लड़ाई में उसका अचानक पतन हो गया। इस लड़ाई में हेमू की तोपों पर विपक्षियों का अधिकार होने के बाद, यद्यपि उसका जीतना कठिन हो गया था, तथापि उसने जो वीरता दिखाई, उससे उसके जीतने की पूर्ण आशा हो गई थी। परंतु उसकी आँख में एक बाण लग जाने से भारतवर्ष का इतिहास बदल गया। मुसलमान इतिहास-लेखक बदायुनी ने भी स्वीकार किया है कि हेमू के धावे से अकबर की सेना त्रस्त हो गई थी। उसकी आँख में तीर लगने के बाद उसको मृत समझकर उसकी बहुत-सी सेना भाग गई; परंतु उसने तुरंत आँख से बाण निकाल कर और उसको बाँधकर फिर लड़ना शुरू किया, परंतु वह अधिक काल तक न जी सका। इन सब बातों से स्पष्ट है कि हेमू अपने देश की स्वतंत्रता के लिये मरते समय तक लड़ा और जब उसको मुसलमानों ने पकड़ा, तब वह या तो मर गया था या मृत-तुल्य हो गया था (क्योंकि बदायुनी के वाक्य के दोनों अर्थ हो सकते हैं)। उसका आचरण इतना वीरोचित था कि बेवरिज (Beveridge) महोदय की राय में 'वह विजय का पात्र था'। स्मिथ महोदय को भी कहना ही पड़ा है कि वह 'एक योग्य सेनापति और शासक था'।

निस्संदेह हेमू भारतवर्ष का अंतिम हिंदू-सम्राट् था। वह एक कट्टर हिंदू था और उसने हिंदू-जाति की स्वतंत्रता के लिये उतनी ही तत्परता से युद्ध किया, जितनी तत्परता से राना संग्रामसिंह, राना प्रतापसिंह अथवा छत्रपति शिवाजी ने किया। आश्चर्य है कि 'हिंदू-जाति का स्वातंत्र्य-प्रेम'-जैसी उत्तम पुस्तक के लेखक ने उस पुस्तक में हेमू का ज़िक्र तक नहीं किया! हेमू की योग्यता का यही काफ़ी प्रमाण है कि एक कट्टर हिंदू होने पर भी उसने धर्मांध अफ़ग़ानों को अपने वश में कर लिया और उन्हीं की सहायता से दिल्ली के सिंहासन पर बैठकर विक्रमादित्य की पदवी धारण की। इसी प्रकार शिवाजी की सेना में भी बहुत-से मुसलमान थे। यद्यपि हेमू ने सूरों का सिंहासन छीना, तथापि उसने उचित ही किया। उसने आदिल-जैसे ऐयाश शासक के अनाचार से देश को बचा लिया। भारतीय इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण हैं। प्राचीन समय में पुष्यमित्र ने भी मौर्यों से, जो उस समय शक्तिहीन हो गए थे, सिंहासन छीनकर देश को अराजकता से बचाया था। हेमू ने भी ठीक ऐसा ही कार्य किया। यद्यपि हेमू थोड़े समय तक ही देश को सुव्यवस्थित रख सका, तथापि वही बात शेरशाह पर भी लागू है, और उसको सब एक महान् सम्राट् मानते हैं। इसलिये यह स्पष्ट कि हेमू मध्यकालीन भारत का एक महान् हिंदू-सम्राट् था।

पुरुषोत्तमलाल भार्गव

× × ×

७. हीरे !

१

काँच की माला लिए फिरता रहा,
सोचा सदा मणिमाल बताना ;
देखा भी है पुखराज कभी भला !
धोखा दिया किया नित्य बहाना।

आब नहीं जिस चीज़ में है, उसे
दूर ही से हमने पहचाना ;
हैं हम जौहरी जौहर के, ज़रा
होश-हवाश से भाव पटाना।

२

ओढ़के शेर की खाल सदा, अरे
गीदड़ चाल चला मनमानी ;
पानी चढ़ाके दिखाया था काँच को,
और बना हमसे गुरु ज्ञानी।
है ठग जो ठगता जग को फिरे,
याद रहे यह बात गुमानी ?
पारखी जौहर देखके जाँचते--
है इसमें कितना चढ़ा पानी।

३

देखते रत्न को, हैं कसते सदा,
मोल दिया करते मनभाया ;
जाते हैं ताड़ उसे झट 'प्रेम' वे
खोटा-खरा यहाँ जो कुछ आया।
भाजी भटे का हाट न यहाँ, मणि--
माणिक का सदा ठाट लखाया ;
कंचन काँच छिपाए छिपा नहीं,
रंग उड़ा--गया ज्यों ही तपाया।

प्रेमनारायण त्रिपाठी 'प्रेम'

× × ×

८. तुम्हारी मुरली

मोहन ! उषा अपने प्रियतम के स्वागत में लीन होकर अपना अस्तित्व मिटा चुकी थी। सूर्य की रश्मियों की ज्योति चारों ओर फैलाये बड़ी देर हो चुकी थी, पास का गाँव बड़े सवेरे से ही जाग उठा था। इस समय तो वहाँ बड़ी खलबली थी। सब अपने-अपने कामों में तन-मन से व्यस्त थे। परंतु गोकुल की गोपियाँ अब भी न-जाने क्यों पड़ी थीं । ऐं, प्रकाश फैला था और गोपियाँ सो रही थीं !--गोकुल की गोपियाँ ? अरे, वे तो सबसे पहले उठ बैठती थीं, उनका जीवन एक विचित्र समस्या थी, वे तो पास के गाँव के लिये आदर्श थीं। इतनी गहरी नींद ! क्या उनके लिये अभी अंधकार ही होगा ? उनके अनुयायी कितने आगे बढ़ गए, आँखों से ओझल हो गए। हा, गोकुल का इतना पतन !

सहसा तुम्हारी मुरली बज उठी । झंकार से हृदय काँप उठा, नसों में नवीन रक्त दौड़ने लगा, गोपियाँ सोते-सोते चौंक पड़ी हैं, इतनी बड़ी जागृति ! नशा चढ़ गया, बड़ा अद्भुत था, क्यों, इतना अधिक दिन ! और हम सोती रहीं ! पल-भर में ही चारों ओर खलबली मच गई, सब भाग पड़ीं। नन्हें-नन्हें बच्चे भी चलने को मचल पड़े। बच्चे और उनका मचलना--क्या कभी मान सकते हैं ? युवकों के हृदय कूदने लगे, वृद्ध निकल पड़े ।

अब भी तुम्हारी मुरली उसी गति से बज रही थी।

घड़ी-भर में ही चारों ओर लाखों की भीड़ हो गई। तुम्हारी वंशी अब भी बज रही थी । सबने एक स्वर में कहा--

"मोहन ! तुम्हारी मुरली में जीवन का सार भरा है, बजने दो, ज़ोरों से बजने दो, परसों की तरह बजाकर बंद न कर देना, बजने दो, हम इस पर अपना जीवन निछावर कर देंगी। मोहन, बजने दो--ज़ोरों से बजने दो।"

तुम्हारी वंशी अब भी वैसे ही बज रही थी। दसों दिशाएँ प्रतिध्वनित कर रही थीं--"क्यों, इतना अधिक दिन ! और, हम सोती थीं..."

त्रिभुवनशंकर तिवारी

× × ×

९. टोना

१

सूर्यरश्मि के जाल न होते
सुंदर फूल नहीं खिलते ;
मधुर पराग न होता तो
ये भौंरे क्यों रोते फिरते !

२

दीपक की चमकीली शिखा
न होती, क्यों पतंग गिरते ?
चंद्र न यदि आकर्षक होता
उस पर क्यों चकोर मरते ?

३

आँखों के अभाव में कैसे
हृदय ख़ज़ाना यह लुटता ?
हरा-भरा उद्यान भला क्यों
पल-भर में उजाड़ दिखता ?

४

यह उलझी-सी विकट पहेली
लुटे हृदय का है रोना !
उस अज्ञात कौतुकी का
अथवा है आकर्षक टोना !

"विमल"

× × ×

१०. समस्या-पूर्ति

यद्यपि हिंदी साहित्य-संसार में समस्या-पूर्ति की प्रथा चिरकाल से चली आती है, तथापि संप्रति इसका ठीक-ठीक पता नहीं लग सकता कि पहले-पहल किसने किस कवि को कौन-सी समस्या दी और उसकी किसी कवि ने कैसी पूर्ति की ? अथवा, इसका चलन कब से चला ?

३९ वर्ष पूर्व से, साहित्य के नित्य परिशीलन से, इन पंक्तियों के लेखक को, इनसे पुरानी समस्या-पूर्ति, कालपी-नगर-निवासी सुकवि 'श्रीपतिजी' की मिली है।

'मिश्रबंधु-विनोद' के द्वितीय भाग, पृष्ठ ५०५ पर श्रीपति भट्ट नामधारी कवि का विवरण मिलता है। पर यह ठीक पता नहीं चलता कि उक्त श्रीपति भट्ट कवि कालपीवाले ही थे, अथवा कोई अन्य। विनोद में तो केवल यही लिखा है कि यह महाशय गुजराती ब्राह्मण थे, तथा बाँदा के नव्वाब सैयद हिम्मतख़ाँ के नाम पर "हिम्मतप्रकाश"-नामक ग्रंथ, सं० १७३१ में बनाया था।

उधर कालपीवाले श्रीपति कवि-कृत अमुद्रित अपूर्व "शृंगार-सरोज"-नामक ग्रंथ में, जो गँधौली के "श्रीव्रज-राज-पुस्तकालय" में वर्तमान है, यह दोहार्द्ध मिलता है।

"सुकवि कालपी नगर को, द्विजमणि श्रीपतिराय"

श्रीपति कवि-कृत समस्या-पूर्ति का जो छंद मिलता है, उससे प्रकट होता है कि वह किसी अकबर-नामक बादशाह, नव्वाब या रईस की दी हुई समस्या की पूर्ति है, क्योंकि समस्या यह है—

"करौ सब आस अकब्बर की"

इस संबंध में किंवदंती है कि 'सुकवि श्रीपति' मानव-काव्य कभी नहीं करते थे। वह अपनी कविता में केवल देव-वर्णन ही करते थे।

अकबर के दरबार में अन्य कविगण भी थे, उन्होंने निज आश्रयदाता अकबर से कहा कि श्रीपतिजी ने श्रीमान् का नमक जन्म भर खाया, पर कभी आपकी प्रशंसा में एक छंद तक न बनाया। अकबर साहब ने कहा कि आप लोग उन्हें कोई ऐसी समस्या दें कि उन्हें विवश हो दरबार की तारीफ़ करनी ही पड़े। अत-एव उल्लिखित समस्या की पूर्ति सुकवि श्रीपतिजी ने निम्न-लिखित सवैया-छंद में की। उन्होंने समस्या-पूर्ति तो कर दी, पर अपना प्रण नहीं छोड़ा।

एक को छोड़िकै दूजो भजै, सु जरै रसना अस लब्बर की।
अबकी दुनियाँ गुनियाँ जु भई, वह बाँधती पोट अटब्बर की॥
"कवि श्रीपति" आसरा राम ही को, हम ओट गही बड़े जब्बर की।
जिनको हरि में परतीति नहीं, सो करौ सब आस अकब्बर की॥

इधर १०० वर्ष के बीच समस्या-पूर्ति-विषयक अनेक कवियों के अनेक छंद मिलते हैं। जो कविगण राज-दरबारों में भ्रमण करते थे, उन्हें राजा-महाराजाओं की दी हुई समस्याओं की पूर्तियाँ करनी पड़ती थीं। कवियों में भी परस्पर समस्याओं का आदान-प्रदान हुआ करता था, एवं पूर्तियाँ भी पर्याप्त हुआ करती थीं।

गँधौली के स्व० सुकवि लेखराजजी ने अपने किसी कवि मित्र की समस्या की पूर्ति इस भाँति की थी—

गारे जबै परिफंद में ग्राह के गोबिंद को गजराज गुहारे।
हारे जबै गढ़रौं चलिकै तब पाँयन जाय कै आप उबारे॥
बारेन राखि लियो व्रज बूड़त, यों लेखराजहि टेरि पुकारे।
कारे जु राखन हैं भुजचारि तौ का बिगरै भुज द्वै के बिगारे॥

दासापुर ज़ि० सीतापुर-निवासी स्व० पं० बलदेव-प्रसाद अवस्थीजी भी अपने समय के राजा-रईसों के दरबारों में भ्रमण करते तथा समस्या-पूर्ति करने में सिद्ध-हस्त थे। इन्होंने समस्या-पूर्ति-प्रकाश-नामक एक ग्रंथ छपवाया था, जिसमें भिन्न-भिन्न राजा-रईसों की दी हुई समस्याओं की पूर्तियों के प्रचुर छंद प्रकाशित हुए थे।

कवि बलदेवजी ने दरबारों में प्रतिज्ञा कर रक्खी थी कि—

दीजिए समस्या चट कवित्त बनावैं,
जो पै कलम रुकै तो कर कलम कराइए।

लेख के दीर्घ हो जाने के भय से अवस्थीजी का समस्या-पूर्ति-संबंधी कोई छंद यहाँ नहीं लिखते। केवल इनकी उक्त प्रतिज्ञा ही पर पाठक संतोष करें।

स्व० सुकवि लेखराजजी के ज्येष्ठ पुत्र कविवर "द्विज-राज" जी ने भी कई मित्र-कवियों का प्रदत्त समस्याओं की पूर्तियाँ की थीं, जिनमें से भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्रजी की समस्या की पूर्ति पाठकों के विनोदार्थ नीचे लिखते हैं—

समस्या—"दिन द्वै ते पियूष निचोरै लगी।"
पूर्ति—सवैया

फरकैं लगीं खंजन-सी अँखियाँ, भरि भायन भौंहैं मरोरै लगी।
अँगराय कछू अँगिया की तनी, छबि छाकी छिनाछिन छोरै लगी॥
बलि जैबे परै "द्विजराज" कहै मन मौज मनोज हिलोरै लगी।
बतियान अनंद सों घोरत सी दिन द्वै ते पियूष निचोरै लगी॥

द्विज बलदेवजी के ज्येष्ठ पुत्र स्व० द्विज गंगजी भी खूब समस्या-पूर्ति करते तथा कराते थे। एक बार इनकी कई समस्याओं की पूर्तियाँ गँधौली के वर्तमान कवि "हर्ष" जी ने की थीं, जिनमें से एक अधो-लिखित है—

समस्या—"मयंक मानसर मैं"
पूर्ति—कवित्त

साजि कै सिंगार सारी मोतिन किनारीदार,
ओढ़ि लीन्ही सुंदरि सुघर जो कदर मैं;
गही गोल आरसी बिसाल सौंहे आपनेई,
हेरी दुति आनन की प्यारी रूप बर मैं।
देखि प्रतिबिंब को अनोखी सुखमा को कहै,
उपमा "हरष" यह आवत नजर मैं;
तारन समेत थिर ह्वैकै नीर बीच मानो,
मज्जत अबक ह्वै मयंक मानसर मैं।

कवि पं० देवदत्तजी वाजपेयी "पुरंदर" भी सिद्ध-हस्त समस्या-पूर्तिकर्ता हैं।

महमूदाबाद के राजा स्व० अमीरहसनख़ाँ की आठ समस्याओं की पूर्तियाँ, कोई २४-२५ वर्ष पूर्व, आपने तत्काल की थीं, जो ३-४ वर्ष पूर्व माधुरी के किसी अंक में, कविचर्चा-शीर्षक-स्तंभ में, प्रकाशित हुई थीं। परंतु इस स्थान पर भी पुरंदरजी कृत समस्या-पूर्ति का एक छंद लिखे बिना लेखनी आगे नहीं चलती।

समस्या—"ऐसी ऋतु कौन जामैं मदन सतावै ना?"
पूर्ति—कवित्त

ऐसो कौन पुरुष जो धन सों न प्रीति राखै,
पाय प्रभुताई को गरूर घिरि आवै ना;
लखिकै सु कामिनि कटाक्ष अनियारे दृग,
ऐसो को जितेंद्रिय जु प्रेम चित लावै ना।
भाषत "पुरंदर" सु ऐसो कौन नीतिवान,
करि कै प्रतीति जो अनीति दरसावै ना;
ऐसो कौन सदन, नँदन बिन सोहै जौन,
ऐसी ऋतु कौन जामैं मदन सतावै ना?।

४०-५० वर्ष पूर्व समस्या-पूर्ति-विषयक मासिक पत्रिकाएँ भी खूब निकलीं, तथा सुकवि, कवि, कवीश्वर नामधारी कई मासिक पत्र इस समय भी निकल रहे हैं।

काशी-कविमंडल की मासिक पत्रिका में अच्छे-अच्छे कवियों की उत्तमोत्तम पूर्तियाँ प्रकाशित हुआ करती थीं, जिनमें स्व० पं० अंबिकादत्त व्यास, स्व० पं० सुधाकर द्विवेदी, पटने के बाबा सुमेरहरि "सुमिरेश", लखनऊ के लाला हनुमानप्रसाद, गँधौली के स्व० पं० युगलकिशोर मिश्र "सुकवि व्रजराज" तथा काशी के द्विज बेनी प्रभृति के नाम उल्लेख योग्य हैं।

उपर्युक्त सब कवियों का एक-एक छंद भी लिखने से निबंध अति दीर्घ हो जाने की आशंका है, अतएव इच्छा होने पर भी नहीं लिख सकते।

काशी-कविमंडल या समाज के सभापति कांकरौली-नरेश श्रीबालकृष्णलाल गोस्वामी तथा मंत्री स्व० बाबू रामकृष्ण वर्मा, संपादक "भारत जीवन" तथा प्रेस के प्रोप्राइटर भी अच्छी समस्या-पूर्ति करते थे।

३०-३५ वर्ष पूर्व रसिक-समाज कानपुर की रसिक वाटिका में बहुसंख्यक कवि-मधुकरों की गुंजार भी कम न थी। इसके अध्यक्ष मल्लावाँ-निवासी स्व० पं० ललिताप्रसाद त्रिवेदी तथा मंत्री स्वनामधन्य स्व० राय देवीप्रसाद "पूर्ण" कविजी थे।

इसी बीच में बिसवाँ ज़िला सीतापुर से स्व० पं० देवीदत्त त्रिपाठी 'दत्त' द्विजेंद्रजी "काव्य-सुधाधर" में समस्या-पूर्ति-विषयक बहुसंख्यक तत्कालीन कवियों के छंद मासिक रूप से कई वर्ष तक प्रकाशित करते रहे। बिसवाँ-कवि-मंडल की समस्या-पूर्ति के प्रचुर छंद प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक के भतीजे स्व० "सुकवि विशालजी"

कृत भी समय-समय पर 'काव्य-सुधाधर' में प्रकाशित हुए थे, जिनमें से एक पूर्ति इस प्रकार है—

"समस्या—चंद्रकला"

पूर्ति—सवैया

यक शंभु के सीस पै बास करै, पुनि दूसरी अंबर मैं बिमला,
पुनि तीजी बिराजत बूँदी के बीच, जो श्री "बलदेव" की प्रेम-पला।
सब हाल "बिसाल" कहा लौं कहै, "कविदत्तजू" बेगि बताओ भला,
इनमैं "बिसवाँ कबि मंडल" मैं यह कौन-सी राजति चंद्रकला?

बिसवाँ-कवि-मंडल के कवियों में पं० भगवानदीन 'दीन' कवि की पूर्ति भी खासी चुटीली होती थी, तथा लखनऊ-विश्वविद्यालय के प्रथम कवि-सम्मेलन में भी दीनजी-कृत कई पूर्तियाँ सुनने में आई थीं। काव्य-सुधाधर में दीनजी की निम्नांकित पूर्ति भी यथासमय छपी थी—

समस्या—"बृषभानु लली को"—पूर्ति सवैया

बंशी बजाइबो गाइबो तान, गरे भुज मेलिबो छैल छली को,
"दीन" बिछाइबो सेज प्रसून की, पायँ पलोटिबो कुंज-थली को।
रोय रहै सुधि आवत ही, उर पै कर धारिबो छ्वै त्रिबली को,
एकौ घरी घनश्याम की सूरति, भूलै नहीं बृषभानु लली को॥

काव्य-सुधाधर के समय में ही रानीकटरा, लखनऊ से, लाला हज़ारीलाल कलवार द्वारा, उनके शिलायंत्र से, "रसिकचंद्रिका"-नामक मासिक पत्रिका का प्रादुर्भाव हुआ था। इसमें भी विविधि कवियों के, समस्या-पूर्ति के, प्रचुर पद्य प्रकाशित होते थे। इसके कवियों में मुख्यतः लखनऊ के स्व० लाला हनुमानप्रसाद तथा ला० बालचंद्र जैनी "मुदाम" कविजी थे। इसी बीच में नीमच से भी समस्याएँ निकलती थीं, जिनकी उत्तम पूर्तियों पर कवियों को पुरस्कार भी मिलते थे।

"रसिकचंद्रिका" की पहली समस्या "तारन समेत तारापति फीको परिगो" की पूर्ति कवि 'मुदामजी' ने इस भाँति की थी—

कवित्त

राका की सु रैनि प्यारी बैठी थी अटारी पर
सीसफूल बायु की झकोरन उघारगो।
बोलि उठे कुक्कुट कमल बिकसन लागे
भोर होत जानि कै मलिन्द बृन्द अरिगो॥
कहत "मुदाम" कबि गजर बजन लागे
जागे घड़ियाली कहूँ चक कोस भरिगो।
भागि गए राहु औ चकोर भ्रम खाय-खाय
तारन समेत तारापति फीको परिगो॥

इसी साल भाद्र-मास में काशी-कवि-मण्डल की पत्रिका में स्व० ला० हनुमानप्रसाद का अधोलिखित छंद प्रकाशित हुआ था—

समस्या—

"नन्द के अनन्द भये जै कन्हैयालाल की"।
देव दुख मन्द भये कंस के निकन्द भये
चन्द भये सकल निद्वन्द ज्योति जाल की।
बसुदेव देवकी सुछन्द भये "हनूमान"
मची दधि कीच द्वारे भीर गोपी-ग्वाल की॥
भादौं बदी आठैं आठ योग युत आधीराति
जसुदा की गोद मोद माया मोह जाल की।
सब सुखकन्द भये प्रभु जगबन्द भये
नन्द के अनन्द भये जै कन्हैयालाल की॥

इधर कोई १०-१२ वर्षों से कवि-सम्मेलनों की धूम फिर मची है। गत वसंतपंचमी के दिन तो इसी लखनऊ में ३ कवि-सम्मेलन थे! इन कवि-सम्मेलनों में भी समस्या-पूर्तियों तथा निर्द्धारित विषयों पर सामयिक कवियों के रचित पद्यों का प्रमोद प्राप्त होता है।

प्रायः सभी साहित्यिक संस्थाओं के समारोह एवं उत्सवों पर कवि-सम्मेलनों का आयोजन किया जाता है। इस अकिंचन को पहलेपहल स्थानीय विश्वविद्यालय के बृहत् हाल में, श्रीबाबू जगन्नाथदास "रत्नाकर" के अधिनायकत्व के प्रथम कवि-सम्मेलन के अवसर पर उपस्थित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, जिसे सम्भवतः सात-आठ वर्ष हुए होंगे।

अन्य बहुसंख्यक समस्याओं के अतिरिक्त एक समस्या "बने रहैं" भी थी, जिस पर यह सवैया सुनाया था—

प्रीति की ज्योति जगाय दुहूँन मैं, जो नहिं लीडर मुक्त मने रहैं।
पूरन पाछिलो बैर बिसारि न जो इसलाम औ आर्य तने रहैं॥
"राधे प्रवीन" नवीन विचार सों जो नहिं बंधु को बंधु गने रहैं।
पूत नहीं करतूत सरै कोऊ, जौ लौं अछूत अछूत बने रहैं॥

लखनऊ-विश्वविद्यालय के द्वितीय कवि-सम्मेलन की अन्य समस्याओं के साथ ही "नहीं" भी एक समस्या थी। अस्तु, स्वयं न उपस्थित हो सकने के कारण श्री पं० मोहनलाल दीक्षित कवि "मोहन" द्वारा निम्नलिखित छंद भेजे थे, जिन्हें मोहनजी के कथनानुसार उपस्थित

जनता ने कई बार पढ़वा बड़े ध्यान एवं विनोद से सुना था।

सवैया

न सराहिये सूर तिन्हें कबहूँ जिनके मुख पै कछू शानै नहीं।
कहौ कौन मराल बखानै, जिन्हैं पय पानी के न्याय को ज्ञानै नहीं।
परखी न जिन्हैं 'कवि राधे' कछू गति जौहर की मन मानै नहीं।
नर नारी से ते पगचारी भले जे कबीन की उक्ति को जानै नहीं॥

× × ×

बाहर भीतर आन बान यक रखते कच्ची शान नहीं,
शीत उष्ण सुख-दुख में समता विषम मान अपमान नहीं।
कञ्चन काँच मृत्तिका माणिक फूल शूल असमान नहीं,
सबमें स्वयं आपमें सब हैं जिन्हें पृथकता ज्ञान नहीं॥

× × ×

करें समस्यापूर्ति सहस्रों एक छंद का ज्ञान नहीं,
वाचक लक्षक व्यंजक हैं क्या ?—सरस विरस का ध्यान नहीं;
शब्दा अर्था चित्रा भूषण दूषण की पहचान नहीं,
स्वर्णपदक लटकाए फिरते जिसकी कोई शान नहीं॥

कोई ४-५ वर्षों से तो कविसम्मेलनों ने ऐसी असाधारण उन्नति की है कि अब वे लड़कों के उपनयन, विवाह तथा लड़कियों के विवाह एवं गयाजी के ब्रह्मभोज तक में होने लगे हैं। गत १५ मार्च को सायंकाल अमीनुद्दौला-पार्क में स्थानीय कांग्रेसकमेटी के मेले में भी एक कविसम्मेलन हुआ था, जिसमें कोई समस्या तो न थी, पर राष्ट्रीय विषय पर १५-१६ कवियों ने हिंदी तथा उर्दू में निज-निज रचित पद्य सुनाए थे।

स्थानीय अशरफ़ाबाद के लाला हीरालाल रस्तोगी के मकान पर एक स्थायी कविसम्मेलन भी तीन-चार वर्ष पूर्व कई मास तक होता रहा, पर इधर उसका कुछ समाचार नहीं मिला। कदाचित् अब बंद हो गया हो।

कई कविसम्मेलनों में आदि से अंत तक उपस्थित रहने तथा बहुसंख्यक कवियों की पूर्तियाँ सुनने से ज्ञात हुआ कि यद्यपि समस्या-पूर्ति करने की प्रवृत्ति तो नवीन कवियों में प्रबलरूप से बढ़ रही है, तथापि काव्य-शास्त्र के पठन-पाठन की परिपाटी का लोप-सा होता जाता है। परिणाम में अधिकांश नवीन उत्साही युवक-कवियों की ऊटपटाँग पूर्तियाँ सुनने में आती हैं। क्या ही अच्छा हो यदि उत्साही प्रेमी युवक कविगण काव्यशास्त्र का नियमानुसार अध्ययन कर समस्या-पूर्ति किया करें। कम-से-कम उन्हें साहित्य के साधारण नियमों का परिचय तो अवश्य प्राप्त कर लेना चाहिए। यह कुछ ही काल के साधारण परिश्रम से प्राप्त हो सकता है। किसी कविसम्मेलन या समारोह में, निजकृत छंदों के पाठ के पूर्व, यदि वे किसी योग्य कवि से अपने छंदों का साधारण संशोधन ही करा लें, तो वे उपहास के पात्र बनने से बच सकते हैं; क्योंकि किसी भी कला में प्रवीण होने के तीन ही मुख्य कारण या साधन हैं, जिन्हें शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास कहते हैं। सुकवि प्रतापसाहि ने अपने काव्यरीति-संबंधी ग्रंथ 'काव्यविलास' में कहा भी है कि—

कबित बनत है शक्ति ते, बढ़त अभ्यास सँयोग।
व्युतपति ते अति चारुता, कहत सयाने लोग॥

गोस्वामी तुलसीदासजी की यह चौपाई भी इस प्रसंग में ध्यान देने योग्य है—

जो प्रबध बुध नहिं आदरहीं; सो श्रम बृथा बाल कबि करहीं।

अंत में कविसम्मेलनों के आयोजनकर्ताओं से भी कुछ शब्द कहे विना नहीं रहा जाता। कविसम्मेलन करने के पूर्व उन्हें यह भी विचार कर लेना आवश्यक है कि कविता ऐसी वस्तु नहीं है कि किसी को आज्ञा अथवा इच्छानुसार, किसी निर्दिष्ट समय के भीतर, किसी स्वीकृत समस्या की पूर्ति पर बनाई जाय, और वह उत्तम ही हो, किंवा उसमें लोकोत्तर चमत्कार हो। सच्ची और उत्तम कविता तो वही होती है, जो सत्कवियों अथवा मस्ती के मस्तिष्क से स्वयं समय-समय पर प्रकट हो जाती है।

राधेनारायण वाजपेयी "प्रजावैद्य"

———

814

१. देश की दशा

इस समय भारतवर्ष की दशा अत्यंत क्षीण और चिंताजनक है। वाणिज्य-व्यवसाय की दशा इतनी बिगड़ी हुई है कि ग़रीब-अमीर सभी आर्थिक समस्याओं की उलझनों में पड़े हुए हैं। व्यापार की अवस्था जैसी शिथिल इस समय हो रही है, वैसी इधर पिछले बहुत-से वर्षों में नहीं सुनी गई थी। व्यापार-शैथिल्य का प्रधान कारण संसारव्यापी सस्ताभाव है। इस सस्तेपन के कारण सभी देशों में बेकारों की संख्या दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ती जाती है। भारतवर्ष को यदि संसारव्यापी व्यापार-शैथिल्य का ही सामना करना पड़ता, तो कोई बात न थी; पर यहाँ राजनीति-संबंधी आंदोलन ने जलती आग में घी का काम कर रक्खा है। महात्मा गांधी द्वारा संचालित भद्र-अवज्ञा-आंदोलन देश-भर में ऐसा व्याप गया है कि यह कहना कठिन है कि इसका परिणाम क्या होगा। अमन और क़ानून की रक्षा के लिये जहाँ सरकार पूर्ण उद्योग कर रही है, वहाँ आंदोलनकारी लोग सरकार के कुछ क़ानूनों को अनुचित बतलाकर खुल्लमखुल्ला उनको तोड़ रहे हैं। इस संघर्ष के कारण कहा जाता है कि पचास सहस्र से ऊपर लोग इस समय सरकारी जेलों में हैं। राष्ट्रीय महासभा के समर्थक लोग सरकार के अमन और क़ानून की रक्षा करानेवाले उद्योग को उग्र दमन बतला रहे हैं और सरकार कांग्रेस के आन्दोलन को खुली हुई बग़ावत। सरकार को अपने पार्थिव बल पर पूर्ण विश्वास है और भद्र-अवज्ञा-आंदोलन के संचालकों को अपने आत्मिक बल पर पूरा भरोसा है। सरकार का ख़याल है कि वह अपने प्रयत्नों में सफल हो रही है और आंदोलन दब रहा है; परंतु कांग्रेस-दल का मत है कि आंदोलन प्रतिदिन अधिक गंभीर और प्रभावशाली होता जा रहा है। सरकार अपने मत का समर्थन इस बात से कर रही है कि अब कई मास पूर्व की अपेक्षा सभाओं में भीड़ कम जमा होती है और बहुत-से अभियुक्त अदालतों में उपस्थित होकर माफ़ी माँग लेते हैं। उधर कांग्रेस-वाले अपने आंदोलन का प्रभाव बायकाट के वर्धमान

प्रभाव से दिखलाते हैं। हाल में विलायती वस्त्र-व्यवसाय-संबंधी जो आँकड़े प्रकाशित हुए हैं, उनसे यह जान पड़ता है कि भारत में आनेवाले विलायती कपड़े का परिमाण कई महीनों से बराबर घटता ही जा रहा है। इसके सिवाय करबंदी का आंदोलन भी ज़ोर पकड़ रहा है और कई प्रांतों में अब नगरों को छोड़कर आंदोलन ग्रामों में घुस रहा है। महात्मा गांधी के अहिंसात्मक आंदोलन के पूर्ण प्रभाव के रहते हुए भी खेद के साथ लिखना पड़ता है कि बम और रिवाल्वरों के द्वारा कुछ विकृत-मस्तिष्क अराजक उत्पात कर रहे हैं। हाल में कई प्रतिष्ठित पुलिस-कर्मचारियों की हत्या हुई है, जिनमें तीन अँगरेज़ मुख्य हैं। प्रत्येक समझदार भारतवासी इस आततायीपन के काम की घोर निंदा किए विना नहीं रह सकता है। लोगों को सरकार से इस बात की शिकायत है कि जेलों में राजनैतिक क़ैदियों के साथ दुर्व्यवहार किया जा रहा है। महात्मा गांधी जेल में स्वस्थ और प्रसन्न हैं। मालवीयजी और भूतपूर्व प्रेसिडेंट पटेल का स्वास्थ्य जेलों में चिंताजनक हो रहा है। नेताओं के अभाव का प्रभाव आंदोलन पर बहुत कम पड़ रहा है तथैव स्त्रियों के उत्साह में कमी नहीं दिखलाई पड़ रही है। लंदन में गोलमेज़-सभा का काम ज़ोरों के साथ हो रहा है, पर ऐसा जान पड़ता है कि हिंदू-मुसलमानों के मत-भेदरूपी भँवर में पड़कर सभा कोई उपयोगी काम न कर पावेगी। यद्यपि इँगलैंडवालों पर भारतीय प्रति-निधियों के व्यक्तित्व का भारी प्रभाव पड़ा है, फिर भी अनुदार लोगों के संगठित आक्रमण से भारतवर्ष में उक्त सभा के प्रति अविश्वास बढ़ रहा है। विचार किया जाता था कि दिसंबर तक शायद राजनैतिक क़ैदी छोड़ दिए जायँ और इस प्रकार भारत का विक्षुब्ध राजनैतिक वातावरण शांत बनाया जाय, पर यह आशा भी पूर्ण नहीं हुई। वर्तमान वायसराय लार्ड अरविन का शासन-काल भी समाप्ति पर आ गया है और भारत का भावी वायस-राय कौन होगा, इस बात को लेकर लोग तरह-तरह के अनुमान कर रहे हैं। सारांश भारत में इस समय असंतोष, दमन, राष्ट्रीय उत्साह और शासन की उग्रता के भाव इस प्रकार से आपस में टकरा रहे हैं कि कोई नहीं कह सकता है कि इससे किस समय कैसा भयंकर परिणाम उपस्थित हो जाय।

× × ×

२. निवेदन

'माधुरी' पत्रिका के संपादन-कार्य एवं पूज्य पिताजी के स्वर्गवास के बाद घर के प्रबंध में पड़ जाने के कारण इधर चार वर्ष से मेरा ग्रंथ-रचना का काम बिलकुल रुका हुआ है। दो-तीन पुस्तकें अधूरी लिखी पड़ी हैं, परंतु अब तक उनके पूरी होने की नौबत नहीं आई है। गत वर्ष मैंने 'माधुरी' के स्वामी से प्रार्थना की थी कि वे मुझे 'माधुरी' के काम से छुट्टी दे दें, जिसमें मैं शांति-पूर्वक अपनी अधूरी पुस्तकों को पूरा कर सकूँ और नई पुस्तकों का लिखना प्रारंभ करूँ, पर मेरी यह प्रार्थना सफल नहीं हुई। उसी समय मैंने श्रद्धेय पं० महावीर-प्रसादजी द्विवेदी, रायसाहब बाबू श्यामसुंदरदास, पं० कृष्णकांत मालवीय, पं० बनारसीदासजी चतुर्वेदी, पं० लक्ष्मीधरजी वाजपेयी तथा बाबू मैथिलीशरणजी गुप्त आदि प्रसिद्ध साहित्य-सेवियों से सम्मति माँगी थी कि मेरे लिये पुस्तक-रचना का काम अधिक अच्छा है अथवा 'माधुरी' पत्रिका के संपादन का कार्य। पं० लक्ष्मीधरजी वाजपेयी को छोड़कर और सभी सज्जनों ने मुझको यही सलाह दी कि 'माधुरी' पत्रिका का काम करते हुए पुस्तक-रचना का काम करो। पं० लक्ष्मीधरजी वाजपेयी की स्पष्ट सम्मति थी कि मेरे लिये पत्रिका के संपादन की अपेक्षा पुस्तक-रचना का काम अधिक श्रेयस्कर है। यह आज से १४,१५ महीने पहले की बात है। एक साल और बीत गया और 'माधुरी' का काम करते हुए पुस्तक-रचना के काम को अग्रसर कर सकने में मुझे सफलता नहीं मिली। विवश होकर नवंबर मास में मैंने 'माधुरी' के संपादन-कार्य से इस्तीफ़ा दे दिया, जिसको कई सप्ताह के बाद मेरे विशेष आग्रह पर मुंशी विष्णुनारायणजी ने खेदपूर्वक स्वीकार कर लिया। 'माधुरी' के संपादन-काल में मेरे और 'माधुरी' के स्वामी के बीच में जो सद्भाव और स्नेह स्थापित हुआ था, ईश्वर की कृपा से वह आज भी ज्यों-का-त्यों बना है। 'माधुरी' पत्रिका पर कृपा करनेवाले सज्जनों से मेरी विनीत प्रार्थना है कि वे 'माधुरी' को अब भी उसी प्रकार अपनाते रहें, जिस प्रकार मेरे संपादन-काल में उनका प्रेम भाव था। माधुरी के प्रेमियों से मैं उन अपराधों, त्रुटियों और भूलों के लिये भी क्षमा चाहता हूँ जो मेरे कारण, 'माधुरी' में पाई गई हों। अंत में

जगदीश्वर से यही प्रार्थना है कि वह 'माधुरी' की श्रीवृद्धि चिरकाल तक करता रहे। भविष्य में जो सज्जन मुझसे पत्र-व्यवहार करना चाहें, वे गँधौली, सिधौली, ज़ि० सीतापुर के पते पर पत्र भेजें।

कृष्णविहारी मिश्र

× × ×

३. समस्या-पूर्ति

हिंदी-कविता के इतिहास में 'समस्या-पूर्ति' की प्रथा का भी एक विशेष स्थान है। इस समय भी समस्या-पूर्ति का ख़ासा प्रचार है। हिंदी के एकाध कविता-संबंधी पत्रों का अस्तित्व तो समस्या-पूर्ति-प्रथा पर ही निर्भर है। हिंदी में समस्या-पूर्ति करने की चाल कई सौ वर्ष से प्रचलित है। कविता-कला के पारखी कई विद्वानों का कहना है कि समस्या-पूर्ति की प्रथा सच्ची और स्वाभाविक कविता का विकास रोकती है। उसके कारण भावों का स्वच्छंद प्रस्फुटन नहीं होने पाता है। समस्या-पूर्ति करनेवाले कवि के हृदय में यदि कोई बढ़िया भाव उठता भी है, तो वह समस्या की संकुचित सीमा के कारण विशदरूप में प्रकट नहीं हो पाता है। काठ के जूतों के कारण जैसे चीनी स्त्रियों के पैर कमज़ोर और विकृत हो जाते हैं, वैसे ही समस्या के कारण अच्छे भाव का भी अंग-भंग हो जाता है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि समस्या-पूर्ति वास्तविक कविता का बड़ा उपकार नहीं कर सकती है; परंतु प्रायः यह बात भी देखने में आती है कि कभी-कभी अच्छे कवि के हाथों में पड़कर समस्याश्रित छंद भी सुंदर बन जाता है। इस नोट का लेखक समस्या-पूर्ति प्रथा का समर्थक नहीं है, पर वह इस बात को भी मानने के लिये तैयार नहीं है कि समस्या-पूर्ति की प्रथा हिंदी-कविता का सर्वथा संहार कर रही है। समस्याओं की पूर्ति से पद्यरचना का प्रारंभ करनेवाले अनेक साहित्य-सेवी बाद में स्वच्छंद मौलिक कविता करने में समर्थ हुए हैं। यह बात अवश्य कहनी पड़ती है कि समस्यापूर्ति के आश्रय में जो छंद बनते हैं, उनमें हृदय की अपेक्षा मस्तिष्क का कौशल प्रायः अधिक दिखलाई पड़ता है। कवित्व-शक्ति के विकास के लिये समस्या-पूर्ति का ही एक-मात्र सहारा लेना अनुचित है, परंतु उसका सर्वथा तिरस्कार भी अनावश्यक है। कभी-कभी तो यह भी दिखलाई पड़ता है कि समस्या-पूर्ति-प्रथा का विरोधी कवि भी अपनी स्वाभाविक रचना के लिये स्वयं अपने पसंद की कोई समस्या अपना लेता है और फिर उसी के आश्रय में बहुत-से छंद बनाता चला जाता है। जिस प्रकार समस्या भाव को एक निर्धारित सीमा के भीतर बंद रखने का उद्योग करती है, उसी प्रकार समस्या-पूर्ति-प्रथा को भी कविता-क्षेत्र के एक निर्दिष्ट स्थान के भीतर ही रहने देना ठीक है। समग्र कविता-क्षेत्र पर समस्या-पूर्ति का आतंक अत्यंत हानिकारक और अनुचित है।

यहाँ पर स्वर्गवासी पं० युगलकिशोर मिश्र 'ब्रजराज' (इस नोट के लेखक के पितृव्य और गुरु) के कुछ ऐसे छंद दिए जाते हैं, जो किसी-न-किसी समस्या का आश्रय लेकर बने हैं। इस नोट का लेखक इन छंदों पर टीका-टिप्पणी करना नहीं चाहता है; पर उसका विश्वास है कि समस्या के संकुचित दायरे में बंद रहने पर भी उनमें भाव का विकास विकृत नहीं दिखलाई पड़ता है।

(१)

कविन सिंगार को सरूप करि मान्यो तुम्हैं,
साँवरे विचारि ताकी उपमा दिए के हौ;
भादौं की अँध्यारी मैं जनाम अधराति आए,
नंद के अजिर याते चोरीहू किए के हौ।
साँवरे के साथी सदा जाहिर जगत अरु,
विषधर साँवरे की गोद मैं लिए के हौ;
साँवरी करत अरु ऊपर के साँवरे हौ,
साँवरे सुजान तुम साँवरे हिए के हौ!

(२)

सेतताई जन्हुजा असितता तरनिसुता,
लालिमा दगनि भारती निहारियतु है;
संगम तिहू को मिले पुन्यथल पूरो होत,
अचरज हेरि कै हिए बिचारिय है।
भृकुटी चढ़ाय कै अनख भरी आली कत,
पीतम पै कुटिल कटाछ डारिय है;
अनुचित उचित सँभार करिबे है अरी,
तीरथ के तीर काहू तीर मारियतु है।

(३)

पहिले निज नैनन माहिं बसाय भली बिधि सों रसरीति करी ;
अब देखिबे को तरसैं अँखियाँ निसिहू दिन आँसू की लाय झरी।
ब्रजराज न चाहिए ऐसी तुम्हें करि रीति इती अनरीति करा ;
हम हीं यह लाल अनीति करी तुमसों बिन जानें जो प्रीति करी।

(४)

नारिन के काज करि जानति न नीके त ,
अनारिन के साथ सीखे कारज अनारी के ;
गाढ़े करि छान्यो लाख लाखिमा मिलान्यो रह्यो,
हाय कैसे लेख लिखे निपट गँवारी के।
रंग न सुरंग लसै गहिरी ललाई अति ,
सुलुप सुढार अंग संगिनि हमारी के ;
हाहा हठि नाइनि निहारु तौ निहोरे लेखि ,
जावक के भार पग उठत न प्यारी के।

(५)

जग जीतनहार 'मनोज' निहारि डर्यो अब मोको कहा करनै ;
उपजो यह ज्ञान तनै बस ह्वैबो अजोग सबै जगमैं बरनै।
तुरतै तजि और प्रपंच को जाल जँजाल को छोरि गह्यो चरनै
मनो या भय ते 'मन' मेरो सदा ही रहै सिवसंकर की सरनै।

(६)

सोनें पग पैंजनी मढ़ाय चोंच सोनहीं सों ,
सोने को अवास बास तेरो अभिलाखौंगी ;
सोने थार भोजन पियाय पय सोनें जाम ,
सोनचिरी जोरी हेत ब्योंत करि राखौंगी।
जो पै ब्रजराज कान आनि हैं न वानि तू ,
प्रभात जानिबे को तौ न नेकु मन माखौंगी ;
पच्छी ह्वै कै पच्छी तू बिपच्छिन बिपच्छी करु ,
एरे तामचूर सोनचूर तोहिं भाखौंगी।

(७)

वारि चुके तन रूप कथा सुनि त्यों मन चित्रहि के लहिबे पर ;
सापने में धन वारि दियो पहिराय छला छिगुनी गहिबे पर।
रोक्यों जु तैं ब्रजराजहि वा दिन री मुख चूँबन के चहिबे पर ;
ना कहिबे पर वारे हैं प्रान कहा अब वारि हैं हाँ कहिबे पर।

(८)

कामरी ओढ़े इतै चले आवत रावरे को तौ कछू नहीं भै है ;
जो कहूँ टूटिहै मोती कि माल तौ नंदबबा को धनीपनो जैहै,
दूरि रहो ब्रजराज खरे उत मोहि इतो अठिलैबो न भैहै ;
साँवरे छैल छुओगे जो मोहिं तौ गातन मोरे गोराई न रैहै।

× × ×

४. साहित्य-सेवियों का स्वर्गवास

१—पं० रामजीलाल शर्मा

पं० रामजीलाल शर्मा के असामयिक स्वर्गवास से हिंदी-साहित्य-संसार की बड़ी क्षति हुई है। पंडितजी बड़े ही मिलनसार, योग्य और उत्साही साहित्य-सेवी थे। आपने हिंदी-साहित्य-सम्मेलन का काम कई साल

पं० रामजीलाल शर्मा

तक योग्यतापूर्वक किया था। आपकी बनाई कई पुस्तकें हिंदी-संसार में ख़ूब लोकप्रिय हैं। आपके चलाए 'विद्यार्थी' और 'खिलौना' पत्रों का भी हिंदी-जनता में

अच्छा आदर है। पं० रामजीलाल शर्मा लोकरुचि को पहचानने में बड़े कुशल थे। पुस्तक-निर्माण, पत्र-संचालन एवं प्रेस-व्यवसाय में इसी कारण आपको सफलता मिली थी। विगत गोरखपुर-साहित्य-सम्मेलन में जब इस नोट के लेखक से पंडितजी की भेंट हुई थी, उस समय आप पूर्ण स्वस्थ थे और कोई भी यह ख़याल न कर सकता था कि उनका जीवनकाल इतना शीघ्र समाप्त हो जायगा। पंडितजी के आकस्मिक स्वर्गवास से हमें बड़ा दुःख है और शोक-संतप्त परिवार से हमारी हार्दिक सहानुभूति है। ईश्वर करे, उनके सुपुत्र पं० रघुनंदन शर्माजी 'विद्यार्थी' 'खिलौना' तथा अन्य पुस्तकों द्वारा पंडितजी के समान ही हिंदी-संसार की सेवा करने में समर्थ हों।

२—लाला भगवानदीन

लाला भगवानदीनजी हिंदी के प्राचीन साहित्य के मार्मिक विद्वान् थे। उनकी समालोचना-शैली चुभती हुई और खरी होती थी। उनकी कविता में प्राचीनता
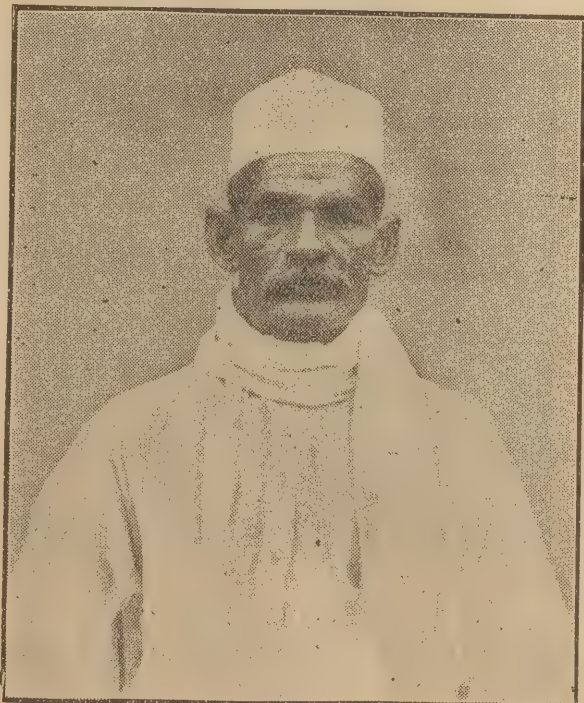
लाला भगवानदीन

और संयम की झलक थी। उनकी टीकाएँ विद्यार्थियों के काम की होती थीं। लाला भगवानदीनजी मिलनसार सज्जन और सरल प्रकृति के पुरुष थे। उनकी रुचि अपने ढंग की अनोखी थी। उन्हें जो कुछ पसंद पड़ता था, उसकी वह दिल खोलकर प्रशंसा करते थे और जो चीज़ नहीं रुचती थी, उसकी अत्यंत उग्र निंदा। लाला भगवानदीनजी नूतन और पुरातन भावों के समन्वय से बनी एक विशेष ढंग की जीवित संस्था थे। उनमें एक विचित्र अनूठापन था। इस नोट के लेखक से लालाजी का कई साहित्यिक बातों में मतभेद था, पर यह मतभेद उस स्नेह और श्रद्धा में बाधक न था, जो उसके हृदय में लालाजी के व्यक्तित्व के संबंध में थी। लालाजी के स्वर्गवास से हिंदी-संसार की, विशेष कर के पुरानी हिंदी-कविता पर प्रेम करनेवाले साहित्य-समाज की भारी क्षति हुई है। ईश्वर परलोक में लालाजी की आत्मा की सद्गति करे और उनके दुखी परिवार को जिसमें उनका शिष्यमंडल भी सम्मिलित है, इस कठोर दुःख के सहने की शक्ति प्रदान करे।

३—सेठ अर्जुनदास केडिया

सेठ अर्जुनदासजी केडिया उन विद्वान् साहित्य-सेवियों में थे, जो बाह्याडंबर से कोसों दूर रहते थे। पुरातन-साहित्य-सेवी कैसे होते थे, इसके वे उदाहरण थे। अलंकार-शास्त्र में उनकी अच्छी गति थी। हाल ही में 'भारती-भूषण' नाम से उन्होंने अलंकार-शास्त्र पर हिंदी में एक अच्छी पुस्तक लिखी थी! केडियाजी कविता भी सुंदर करते थे। इस नोट के लेखक को केडियाजी के दर्शन का सौभाग्य नहीं प्राप्त था; परंतु उनकी 'भारती-भूषण' पुस्तक की भूमिका लिखने के प्रसंग में उनके सुयोग्य पुत्र श्रीशिवकुमारजी केडिया के दर्शन और सत्संग से उसे बड़ा आनंद प्राप्त हुआ था। केडियाजी के दुखी परिवार और विशेषरूप से पितृ-वियोग से शोक-संतप्त श्रीशिवकुमारजी केडिया के साथ हमारी हार्दिक सहानुभूति है। ईश्वर करे, परलोक में उनकी आत्मा की सद्गति हो। इनकी जीवनी बाद में प्रकाशित की जायगी।

× × ×

सेठ अर्जुनदास केडिया

سمن بغرض انفصال مقدمہ

مقدمہ نمبر ۱۴۲۳ سنہ ۱۹۳۰ع ابتدائی خفیفہ
بعدالت خفیفہ منصفی طرب گنج مقام گونڈہ
پرشادی عمر ۶۵ سال ولد دوارکا چوبے ساکن موکل پور پرگنہ و ضلع گونڈہ　　مدعی
بنام بلیسر
بنام † بلیسر عمر تخمیناً ۶۰ سال ولد پھلی اهیر ساکن ترسبا بازار پرگنہ ڈسر ضلع گونڈہ واردحال
مقام پیکوی گوال بستی ضلع اصیری ملک برهما　　مدعاعلیہ

هرگاہ مدعی نے تمهارے نام ایک نالش بابت ۱۴۵ روپیہ تمسکی کے دائر کی هے لهذا تمکو حکم هوتا هے کہ تم بتاریخ ۲۱ ماہ جنوری سنہ ۱۹۳۱ع بوقت ۱۰ بجے دن اصالتاً یا معرفت وکیل کے جو مقدمہ کے حال سے قرار واقعی واقف کیا گیا هو اور جو کل امور اهم متعلقہ مقدمہ کا جواب دے سکے یا جس کے ساتھہ کوئی اور شخص هو جو جواب ایسے سوالات کا دے سکے حاضر هو اور جوابدهی دعوی مدعی مذکور کی کرو اور هرگاہ وهی تاریخ جو تمهارے احضار کے لیئے مقرر هے واسطے انفصال قطعی مقدمہ کے تجویز هوئی هے پس تم کو لازم هے کہ اپنے جواب دعوی کی تائید میں جن گواهوں کی شهادت پر یا جن دستاویزات پر تم استدلال کرنا چاهتے هو اسی روز اُن کو پیش کرو*

مطلع رهو کہ اگر بروز مذکور تم حاضر نہ هوگے تو مقدمہ بغیر حاضری تمهارے مسموع اور فیصل هوگا*

آج بتاریخ ۱۶ ماہ دسمبر سنہ ۱۹۳۰ع میرے دستخط اور مهر عدالت سے جاری کیا گیا*

جج

५. संपादकीय विचारों का अभाव

प्रेस-आर्डिनेंस के यौवनकाल में मुझे स्थानीय अधिकारी-मंडल के दो उत्तरदायी सज्जनों से साक्षात्कार करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। सलाह के तौर पर एक सज्जन ने 'माधुरी' के संपादकीय स्तंभों में राजनीति-संबंधी चर्चा की गंध भी न आने देने की बात कही तथा दूसरे सज्जन ने 'माधुरी' के द्वारा कांग्रेस के विरुद्ध प्रचार-कार्य में सहायक बनने की ओर इशारा किया। 'माधुरी' साहित्य-प्रधान पत्रिका है। राजनीति की चर्चा उसका लक्ष्य नहीं है फिर भी चूँकि साहित्य में सार्वजनिक जीवन का प्रतिबिंब रहता ही है, इसलिये 'माधुरी' के संपादकीय स्तंभों में भी यदि कभी राजनैतिक घटनाओं का यथातथ्य वर्णनमात्र आ जाय, तो आश्चर्य की बात नहीं। पर इस वर्णन का यह मतलब नहीं है कि 'माधुरी' वर्तमान आंदोलन का समर्थन करती है अथवा विरोध। 'माधुरी' का क्षेत्र साहित्य है, राजनीति नहीं। जब वह कांग्रेस के पक्ष का समर्थन करना अपना ध्येय नहीं मानती है, तब वह उसके विरोध की चर्चा क्यों करे? इसी प्रकार 'माधुरी' राजनीति की छानबीन में संलग्न नहीं रहती है, पर इसका यह भी अर्थ नहीं है कि वह अपनी संपादकीय नीति किसी के इशारों पर अवलंबित रक्खे। निदान प्रेस-आर्डिनेंस के समय तथा दो एक मास बाद भी अन्य पत्रों के समान 'माधुरी' में भी संपादकीय नोटों का अभाव रहा। पाठकगण इसके लिये क्षमा करें।

कृष्णविहारी मिश्र

× × ×

६. महासमर का संधिपत्र

सन् १९१४ में योरप में जो विकराल समर हुआ था, उसका पूर्ण उत्तरदायित्व विजयी राष्ट्रों ने जर्मनी पर रक्खा था। समय के प्रवाह से अब विजयी और विजित राष्ट्रों के बीच में पहले का कटु असद्भाव बहुत कुछ कम हो गया है। संसार के राजनीति मर्मज्ञ और इतिहास के विद्वान् अब महासमर के संबंध में अपने विचार प्रकट करने लगे हैं। हाल में The Word tomorrow पत्र में Mr. Kirby Page नाम के एक विद्वान् लेखक ने विगत महायुद्ध के संबंध में एक विचारपूर्ण निबंध प्रकाशित किया है। इस निबंध में संसार के प्रमुख राजनीतिज्ञों एवं इतिहास-लेखकों के विचारों का सारांश संग्रहीत किया गया है। समय की गति भी बड़ी विचित्र होती है। जहाँ आज से १५ वर्ष पूर्व सभी लोग एक स्वर से महासमर प्रारंभ करने का सारा दोष जर्मनी के मत्थे मढ़ते थे, वहाँ आज यह हाल है कि अधिकांश राजनीतिज्ञ इस दोष से जर्मनी को मुक्त पाते हैं। उनका कहना है कि युद्ध का उत्तरदायित्व जर्मनी पर नहीं है। इतना ही नहीं, उनका यह भी कहना है कि जब जर्मनी क़सूरवार नहीं है, तब वरसेलीज़ का संधिपत्र भी अनुचित और अन्यायपूर्ण है। उक्त संधिपत्र के द्वारा जर्मनी और उसके मित्र राज्यों का जिस प्रकार अंगभंग किया गया है तथा जर्मनी को जैसा अर्थ-दंड दिया गया है, वह किसी से छिपा नहीं है। इस समय के राजनीतिज्ञ उक्त संधिपत्र को रद्द कराने के पक्ष में हैं। उनकी दलील यह है कि जर्मनी को दंड देने का विधान तो इसी बात पर किया गया था कि वह दोषी है, पर जब उसका दोषी

होना सिद्ध नहीं होता है, तब वह दंडित क्यों किया जाय तथैव जिस संधिपत्र के द्वारा इस दंड की व्यवस्था की गई है, वह उचित क्यों समझा जाय। वरसेलीज़ के अनुचित संधिपत्र को रद्द कराने का आंदोलन इस समय संसार में ज़ोरों से चल रहा है। नीचे एक नक़शा दिया जाता है। इसके देखने से पाठकगण अनुमान कर सकते हैं कि योरोप के बहुत से राष्ट्र संधिपत्र के रद्द कराने के पक्ष में हैं। जिन राष्ट्रों का रंग नक़शे में काला दिखलाया गया है वे सभी संधिपत्र के विरुद्ध हैं। कुछ लोगों का अनुमान है कि यदि संधिपत्र रद्द न कर दिया जायगा, तो योरप में एक बार फिर घमासान मच जायगा।

× × ×

७. द्यौसरिया देव

९ मई सन् १९२२ को आगरे के बाबू रामप्रसादजी, प्रकाशक और पुस्तक-विक्रेता ने इस नोट के लेखक को एक पत्र लिखा। उक्त पत्र में यह प्रस्ताव किया गया था कि इस नोट का लेखक बाबू रामप्रसादजी के लिये देव कवि के उत्कृष्ट छंदों का एक संग्रह लिख दे। उक्त प्रस्ताव के उत्तर में प्रकाशक महोदय को लिखा गया कि संग्रह का काम यथावकाश किया जायगा, पर यदि इस बीच में वे अपने मित्रों द्वारा इटावा से देवजी के जीवनचरित्र की कुछ सामग्री एकत्रित करा दें, तो बड़ी कृपा हो। बाबू रामप्रसादजी ने इस प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार किया और अपने मित्र बाबू बदरीनारायणजी एम्० ए० को इटावा में देवजी के विषय में खोज करने के लिये लिखा। बाबू बदरीनारायणजी एम्० ए० बाबू धर्मनारायणजी वकील के भाई हैं और इटावा में मुहल्ला बजरिया में रहते हैं। प्रकाशकजी के पत्र के उत्तर में बाबू बदरीनारायणजी ने उनको ७ मई सन् १९२३ को एक पोस्टकार्ड लिखा। बाबू रामप्रसादजी ने उक्त पोस्टकार्ड इस नोट के लेखक के पास भेज दिया। यहाँ पर उक्त पोस्टकार्ड की प्रतिलिपि दी जाती है।

इटावा
७ मई १९२३

ला० रामप्रसादजी,

मैंने आपको मैनपुरी से कार्ड लिखा था। यहाँ आकर मैंने तलाश किया। यहाँ पर उनके एक वंशज पं० नीलकंठ हैं। उनका कहना है कि कुसमरा ज़िला मैनपुरी में देव के और भी वंशज मौजूद हैं और यह भी कहते हैं कि वहाँ शायद उनकी लिखी कुछ हस्तलिखित पुस्तकें भी मिल सकती हैं। उनका यह भी कहना है कि वह सनाढ्य ब्राह्मण नहीं थे, देवशर्मा ब्राह्मण थे। मिश्र-बंधुओं ने उनके विषय में पूरी तलाश नहीं की। अगर आप आवें या आपके पुस्तक-रचयिता आवें, तो पं० नीलकंठ आपके साथ पूरा-पूरा पता लगाने और सहायता देने के लिये कुसमरा जाने को तैयार हैं। देव ने लिखा है 'द्यौसरिया के वंश में' सो पं० नीलकंठ का कहना है कि 'द्यौसरिया' देवशर्मा का बिगड़ा हुआ रूप है, वह सनाढ्य नहीं थे। मेरे विचार से अगर आपके ग्रंथकर्ता पं० नीलकंठ के साथ कुसमरा जावें, तो यथार्थ पता लग सकता है और संभव है कि कुछ ग्रंथ भी हाथ लगें।

भवदीय
बदरीनारायण

इस प्रकार इस नोट के लेखक को सन् १९२३ में यह बात पहलेपहल मालूम हुई कि देव कवि के वंशज इटावा और कुसमरा में मौजूद हैं तथा वे अपने को सनाढ्य ब्राह्मण न मानकर देवशर्मा ब्राह्मण बतलाते हैं। संवत् १९८१ में 'हिंदी-नवरत्न' ग्रंथ का द्वितीय संस्करण प्रकाशित हुआ। इसके पृष्ठ १९७ पर ग्रंथकार लिखते हैं—

"इटावे में हमने पूछ-जाँच की, तो विदित हुआ कि यह दुसरिहा कान्यकुब्ज-ब्राह्मण थे, और पंसारी-टोला, बलालपुरा (शहर इटावा) में रहते थे।"

बाबू बदरीनारायणजी के पत्र और नवरत्नकारों के लेख के अनुसार इस नोट के लेखक ने भी अपनी 'देव और विहारी' पुस्तक के पृष्ठ २६४ और २८६ (द्वितीय संस्करण संवत् १९८२) पर देव के विषय में इस प्रकार लिखा—

"देवजी देवशर्मा (द्यौसरिहा=दुसरिहा) थे"
पृष्ठ २६४

"देवजी देवशर्मा (द्यौसरिया या दुसरिहा) ब्राह्मण थे, जो अपने को कान्यकुब्ज बतलाते हैं।"
पृष्ठ २८६

६ अक्तूबर सन् १९२५ को मिश्र-बंधुओं को देवजी के वंशजों द्वारा उक्त कवि का वंशवृक्ष प्राप्त हुआ। इस

नोट के लेखक ने उक्त वंशवृक्ष का कुछ अंश अक्तूबर सन् १६२५ के 'साहित्य-समालोचक' में प्रकाशित किया। उक्त पत्र के पृष्ठ ३३७ पर इस संबंध में जो चर्चा की गई है वह इस प्रकार है:—

"देवकवि काश्यपगोत्री कान्यकुब्ज दिउसरिहा दुबे थे। इनके वंशज मौज़ा कुसमरा ज़िला मैनपुरी में अब भी रहते हैं।"

फ़रवरी सन् १६२८ ई० की 'माधुरी' में श्रीयुत बाबू जगन्नाथदासजी 'रत्नाकर' ने 'श्री देवदत्त कवि का शिवाष्टक'-शीर्षक एक लेख लिखा है। उक्त लेख में देव कवि वंशात्मज मातादीन द्विवेदी की एक चिट्ठी भी दी हुई है, जो उन्होंने २४ जून सन् १६२५ ई० को काशी के प्रसिद्ध साहित्य-मर्मज्ञ श्रीयुत रायकृष्णदासजी को लिखी थी। मातादीनजी का कथन है:—

"देवजू दुबे इटावे के दिउसरिहा कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे।"

इसके बाद इस नोट के लेखक और पं० मातादीनजी से पत्र-व्यवहार प्रारंभ हुआ और उनके यहाँ से देव कवि के ग्रंथ का एक हस्तलिखित पृष्ठ भी मिला। मातादीनजी का कहना है कि वह पृष्ठ स्वयं देवजी के हाथ का लिखा है। इस पृष्ठ का ब्लाक बनवा लिया गया है और वह 'माधुरी' के विशेषांक में प्रकाशित भी किया जा चुका है। पं० मातादीनजी अपने एक पत्र में लिखते हैं:—

"काश्यप मुनि के कुल में संदीपनि मुनि हुए जिनके कुल में देवशर्मा कन्नौज में बास करते थे और काश्यपगोत्री मिश्र थे; परंतु दो वेद (साम-यजु) के पढ़ने से द्विवेदी कहलाये। उनके कुल में बलभद्र पैदा हुए, जिनकी संतानें हम लोग इटावा में आये; जहाँ अब भी तीन थोक मुहल्ला लालपुरा पंसारी टोला में वर्तमान हैं। देवशर्मा शब्द ही से बिगड़कर देवसरिहा-द्यौसरिहा-दिउसरिहा कहाए।"

अपने दूसरे पत्र में पं० मातादीनजी ने अपने संबंधों का वर्णन किया है। उन्होंने अपने संबंधियों की एक सूची भी दी है, जो इस प्रकार है:—

"भारद्वाजगोत्र कान्यकुब्ज ब्राह्मण

१—त्रिवेदी लहुरी के स्थान मैनपुरी।

२—त्रिवेदी जेठी के स्थान बहवलपुर (फ़र्रुख़ाबाद)

३—दुबे बरुआ के स्थान बुढ़ौली (मैनपुरी)

४—दीक्षित गढ़मऊ
५—दीक्षित डौंडियाखेरा } स्थान बेवर (मैनपुरी)

शाण्डिल्यगोत्र कान्यकुब्ज ब्राह्मण

६—दीक्षित अंटेर के स्थान कन्नौज (फ़र्रुख़ाबाद)

७—दीक्षित हँसराम ,, बहवलपुर (फ़र्रुख़ाबाद)

८—मिश्र हमीरपुर स्थान नारायणपुर—करपिया(मैनपुरी)

कात्यायनगोत्र कान्यकुब्ज ब्राह्मण

६—मिश्र जगदीशपुर स्थान फ़र्रुख़ाबाद

१०—मिश्र लवानी स्थान अकबरपुर (फ़र्रुख़ाबाद)

११—दुबे पतेउँजा स्थान सिरदामई (फ़र्रुख़ाबाद)

उपमन्युगोत्र कान्यकुब्ज ब्राह्मण

१२—दुबे कला के स्थान नादेमऊ (फ़र्रुख़ाबाद)

सांकृतगोत्र कान्यकुब्ज ब्राह्मण

१३—शुक्ल नभेल पुरनिया स्थान पहुपपुर (फ़र्रुख़ाबाद)"

मातादीनजी तथा उनके और भाई-बंदों से यह भी मालूम हुआ कि सन् १६२५ के जून मास में मैनपुरी के कलेक्टर मिस्टर देसाई देवजी की बनाई और उन्हीं के हाथ की लिखी चार पुस्तकें मातादीनजी के यहाँ से ले गए हैं, जो अब तक उन्होंने वापस नहीं की हैं। श्रीयुत हरिश्चंद्रदेव वर्मा 'चातक' अतरौली पो० छिबरामऊ ज़िला फ़र्रुख़ाबाद के रहनेवाले हैं। यह स्थान 'कुसुमरा' से बहुत दूर नहीं है। कुसमरा में इनकी कुछ रिश्तेदारी भी है। इस नोट के लेखक ने इनसे भी कुसमरा के मातादीनजी आदि के विषय में पूछा था। इन्होंने स्वयं कुसमरा में जाकर जाँच की और लिखा कि मातादीनजी आदि कान्यकुब्ज ब्राह्मण हैं। इसी प्रकार स्वर्गवासी कौशलेंद्रजी राठौर ने भी जाँच-पड़ताल करके यही सूचना दी कि मातादीनजी का घराना कान्यकुब्जों का है और वे दुसरिहा कान्यकुब्ज कहलाते हैं। इनका निवासस्थान भी कुसमरा के समीप ही है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि इस समय 'दुसरिहा' अल्ल से जो लोग प्रसिद्ध हैं, उनका यह कथन कहाँ तक उचित है कि 'देवशर्मा' शब्द ही बिगड़ते-बिगड़ते दुसरिहा रूप में प्रचलित हो गया। ऊपर जो विवरण दिया गया है, उससे यह बात प्रकट है कि मातादीनजी आदि के कथनानुसार देवशर्मा, द्यौसरिहा, देवसरिहा, दिउसरिहा और दुसरिहा शब्दों द्वारा जिस वंश-विशेष

का बोध होता है वह एक ही है, केवल शब्द के रूपों में भेद है। 'देवशर्मा' शब्द कम पढ़े लोगों में 'देवशरम' अथवा 'देवसरम' रूप में आज भी प्रचलित है। जिस प्रकार 'पच्छिम' दिशा में रहनेवालों को 'पछैंहा' शब्द द्वारा संबोधित करते हैं, उसीप्रकार 'देवशर्मा' (देवसरम) के वंशजों को 'देवसरिहा' कहना हमें अनुचित नहीं प्रतीत होता है। 'पच्छिम' में रहनेवालों को जैसे 'पच्छिमिहा' नहीं कहते, वैसे ही 'देवसरम' की संतान को 'देवसरमिहा' न कहकर, 'देवसरिहा' कहने में ही सुभीता जान पड़ता है। 'देवसरिहा' को 'द्यौसरिहा' भी उसी प्रकार कह सकते हैं, जैसे 'देवमई' ग्राम को 'द्यौमई' अथवा 'देवगृह' को 'द्यौहरा'। कम पढ़े-लिखे लोग 'देवता' को 'देउता' रूप में पुकारते हैं। इसी प्रकार 'देवसरिहा' का 'देउसरिहा' भी कहा जाना असंभव नहीं है। देवमई तथा देवकली ग्राम क्रम से द्यौमई, द्यौकली तो कहलाए ही, पर उन्होंने देउमई, दिउमई, देवकली दिउकली रूप भी पाए। 'देउसरिहा' भी इसी प्रकार 'दिउसरिहा' रूप पा गया। 'दिउसरिहा' में 'दिउ' का उच्चारण 'द्यू' से बहुत मिलता है। संभवतः कुछ लोग 'दिउसरिहा' को 'द्यूसरिहा' पुकारने लगे। फिर 'द्यूसरिहा' उच्चारण की सरलता के विचार से 'दूसरिहा' पुकारा जाने लगा; जैसे द्युति का दुति और यही 'दूसरिहा' अब उसी प्रकार से 'दुसरिहा' रूप में प्रचलित है, जैसे, 'दूसरा' का 'दुसरा' रूप। निदान इस नोट के लेखक की राय में मातादीनजी आदि का यह कथन यथार्थ जान पड़ता है कि दुसरिहा, दिउसरिहा और द्यौसरिहा इन सबका उद्गम-स्थान 'देवशर्मा' से है। 'द्यौसरिया' और 'द्यौसरिहा' रूपों में 'या' और 'हा' का भेद वैसा ही है, जैसा कि 'कनपुरिहा' 'कनपुरिया', 'भोजपुरिया' 'भोजपुरिहा' में है। 'हा' के स्थान में 'या' का प्रयोग कुछ अधिक शिष्टता लिये हुए है। इस नोट के लेखक का पहले यह ख़याल था कि 'देव' कवि ने छंद की गति मिलाने के लिये 'दुसरिहा' को ही 'द्यौसरिया' रूप में लिखा है, पर अब 'देवसरिहा' शब्द के क्रमशः बिगड़नेवालेरूपों पर ध्यान देने से यह जान पड़ता है कि 'देवसरिहा' का ही बिगड़ा रूप 'द्यौसरिहा' या 'देवसरिया' है और यही शब्द बिगड़ते-बिगड़ते 'दुसरिहा' के रूप में आ गया है। 'द्यौसरिहा' अल्ल के समान ही अपने पूर्वजों अथवा स्थान के नाम को लेकर 'ख्यूरहा', 'ड्यौसरिहा' एवं 'ख्यूलहा' अल्ल के दुबे भी होते हैं। मुद्रित कान्यकुब्ज-वंशावलियों से इस कथन की यथार्थता जानी जा सकती है।

ऊपर जो कुछ लिखा गया है, उसका सारांश यह है कि इटावा में कुछ लोग ऐसे हैं जो अपने को देवशर्मा ब्राह्मण का वंशज बतलाते हैं। इन्हीं लोगों की बिरादरी के कुछ लोग कुसमरा में भी हैं। उन लोगों का यह भी कहना है कि देवशर्मा ब्राह्मण के वंशज ही देवसरिहा, द्यौसरिया, दिउसरिया अथवा दुसरिहा कहलाते हैं। ये लोग अपने को कान्यकुब्ज ब्राह्मण मानते हैं और उनके संबंध भी भिन्न-भिन्न गोत्रों के कान्यकुब्जों के साथ हैं। इनके अड़ोस-पड़ोस में रहनेवाले लोग भी उनकी गणना कान्यकुब्जों में करते हैं। परंतु देखना यह है कि इन लोगों के कथन के अलावा छपी हुई कान्यकुब्ज-वंशावलियों से इस बात की पुष्टि होती है अथवा नहीं। एतदर्थ इस नोट के लेखक ने कई वंशावलियों को ध्यान से देखा। इस संबंध में जो बातें मालूम हुईं वे नीचे दी जाती हैं—

कान्यकुब्जों की सबसे पुरानी मुद्रित वंशावली जो इस नोट के लेखक के देखने में आई वह 'कान्यकुब्ज-दर्पण' है। इसका प्रथम संस्करण सन् १८८६ में तथा द्वितीय संस्करण १८६८ में प्रकाशित हुआ था। द्वितीय संस्करण की जो प्रति इस समय लेखक के पास उपस्थित है, उसकी भूमिका में लिखा है कि जिस हस्तलिखित प्रति के आधार पर यह वंशावली प्रकाशित की जाती है, उसका लिपि-काल संवत् १६६६ है। इस वंशावली के पृष्ठ ३६ पर लिखा है कि ४ विश्वा मर्यादा के बिसुनखेर वाले काश्यप गोत्री देवसरिहा कान्यकुब्ज होते हैं। इसी वंशावली के ६६ पृष्ठ पर देवसरिहा दुबे का भी उल्लेख है। अन्य वंशावलियों के देखने से भी पता चला कि 'देवसरिहा' अल्ल के कान्यकुब्ज होते अवश्य थे। यद्यपि भिन्न-भिन्न वंशावलियों में देवसरिहा अल्लवाले कान्यकुब्जों की विश्वा मर्यादा और कहीं-कहीं गोत्र और आस्पद में विभिन्नता है; परंतु इतनी बात तो निर्विवाद प्रकट है कि प्राचीन कान्यकुब्जों की वंशावलियों के लिये देवसरिहा अल्ल कोई नई और अनोखी बात न थी। ऐसी दशा में जब पं० मातादीनजी और

उनकी बिरादरी के लोग अपने को देवसरिहा कान्यकुब्ज कहते हैं, तब उनको बात पर विश्वास न करने का कोई कारण नहीं दिखलाई पड़ता है। उधर इटावा के कान्यकुब्ज दुबे लोगों का तो प्रायः सभी कान्यकुब्ज-वंशावलियों में उल्लेख है। कुछ लोगों का ख़याल है कि इटावा में कान्यकुब्ज ब्राह्मणों की बस्ती कम है, पर यह बात भी भ्रम-मूलक है। इटावा डिस्ट्रिक्ट गज़ेटियर (सन् १९११ का संस्करण) के तीसरे अध्याय में पृष्ठ ६६-६७ पर स्पष्ट लिखा है—

Third on the list come Brahamans, of whom in 1901 there were 96, 643 or 12-77 percent of the Hindus......Throughout the district with the exception of Aurayia, they belong chiefly to the Kanakubja division. Most of the Kanaujia Brahamans are of the Dubey family..........In the Tehsil Aurayia Sandh Brahamans of the Sengrya and Murha gotras are found.

इटावा ज़िले में औरैया तहसील को छोड़कर और सब कहीं ब्राह्मणों में कनौजिया जाति के लोग ही अधिक हैं। और कनौजियों में भी दुबे-वंश के लोगों की ही संख्या अधिक है।

'कान्यकुब्ज-दर्पण' 'और इटावा डिस्ट्रिक्ट गज़ेटियर' के उपर्युक्त कथनों पर विचार करके इस नोट के लेखक को मातादीनजी तथा उनके और भाई-बंदों को द्योसरिया (दुसरिहा) कान्यकुब्ज ब्राह्मण मानने में कोई आपत्ति नहीं दिखलाई पड़ती है। जो महाशय दुसरिहा में अपमान-जनक भाव का बोध करते हैं, उनसे सविनय प्रार्थना है कि वे एक बार प्रतिष्ठित कायस्थ-कुल के "श्रीवास्तव दूसरे" शाखावाले पुरुषों से पूछें कि क्या उनको अपने आपको 'श्रीवास्तव दूसरे' कहने में किसी प्रकार की लज्जा समझ पड़ती है? क्या 'दूसरे' शब्द का प्रयोग अपमान-जनक है? फिर कान्यकुब्ज 'दुसरिहा' तो 'देवशर्मा' का बिगड़ा रूप बतलाया जाता है, न कि 'दूसरे' का।

मातादीनजी और उनकी बिरादरी के लोग दुसरिहा कान्यकुब्ज भले ही हों, पर इससे यह बात कैसे प्रमाणित मानी जाय कि ये लोग देव कवि के वंशज हैं। आगे इसी बात पर विचार किया जायगा।

देव कवि ने अपने 'भावविलास'-ग्रंथ में एक स्थान पर लिखा है:—

दिल्लीपति नवरंग के आजम साहि सपूत ;
सुन्यो सराह्यो ग्रंथ यह अष्टयाम संजूत।

इससे प्रकट होता है कि बादशाह औरंगज़ेब के बेटे आज़मशाह ने देव कवि की प्रशंसा की थी और वे उनके आश्रित कवि थे। कुसमरा-निवासी पं० मातादीनजी के पास "बखतेशविलास" नाम का एक ग्रंथ है, उसके रचयिता श्रीभोगीलाल कवि हैं। 'बखतेशविलास' की यह प्रति इस नोट के लेखक के देखने में भी आई है। इसके लिपिकर्ता स्वयं भोगीलालजी हैं और इसका लिपिकाल संवत् १८४७ है। भोगीलालजी ने इसमें अपना परिचय दिया है:—

काश्यपगोत्र द्विवेदिकुल कान्यकुब्ज कमनीय ;
देवदत्त कबि जगत मैं भए देव रमनीय।
जिनको श्रीनवरंगसुत आजमसाह सुजान ;
जाहर करो जहान मैं मानसहित सनमान।
तिनके पुरुषोत्तम भए सकल सुमति के ईस ;
निपुनन उक्ति सुजुक्ति मैं उद्यत उक्ति फनीस।
तिनके सोभाराम सुत कबिबर भए बिनीत ;
सीता श्रीरघुनाथ के चरचे चरन पुनीत।
तिनके भोगीलाल सुत बरनत बखतबिलास—इत्यादि

इस परिचय से प्रकट है कि भोगीलाल के पिता शोभारामजी, पितामह पुरुषोत्तमजी और प्रपितामह देवदत्तजी थे। भोगीलालजी के प्रपितामह देवदत्तजी बहुत बड़े कवि थे और औरंगज़ेब के बेटे आज़मशाह ने इनका बड़ा सम्मान किया था। या तो 'भावविलास' के कर्ता देव और भोगीलाल के प्रपितामह देव दोनों एक ही व्यक्ति थे या भिन्न-भिन्न। दोनों का नाम एक ही है और दोनों का सम्मान करनेवाला आज़मशाह भी एक ही है। देव कवि का समय और भोगीलाल के प्रपितामह का समय भी एक ही पड़ता है। ऐसी दशा में १०० में ९९ प्रतिशतक यही अधिक संभव प्रतीत होता है कि दोनों व्यक्ति एक ही हैं। देव कवि अपने को "द्योसरिया" कहते हैं और ऊपर जो कुछ लिखा गया है, उससे "द्योसरिया" कान्यकुब्ज ठहरते हैं। उधर भोगी-

लालजी देव को "कान्यकुब्ज कमनीय" कहते भी हैं। ऐसी दशा में देव को कान्यकुब्ज द्योसरिया ब्राह्मण मानना ही युक्तियुक्त जँचता है। देवजी की जिस हस्तलिखित प्रति में 'द्योसरिया' पाठ है, उसकी प्रामाणिकता में यदि किसी को संदेह हो तो उसको चाहिए कि वह देव कवि की अन्य हस्त-लिखित प्रतियों का हवाला दे, जिनमें दूसरा पाठ हो। उसको लिखना चाहिए कि देव कवि के ग्रंथों की उसने कितनी हस्तलिखित प्रतियाँ देखी हैं? उनका लिपि-काल क्या है? उन प्रतियों में, सबमें या अधिक-से-अधिक कितनी प्रतियों में 'द्योसरिया' से 'भिन्न' पाठ है? तथा किसी प्रति में 'द्योसरिया' पाठ भी है या नहीं? उन प्रतियों की प्रामाणिकता के विषय में अन्य बातें भी लिखी जानी चाहिए। यों ही किसी प्रति को संदिग्ध मान लेने से तो काम नहीं चल सकता है। यदि कहा जाय कि देव कवि ने स्वयं अपने को कान्यकुब्ज क्यों नहीं लिखा? तो इसका उत्तर यही है कि यह तो कवि की इच्छा पर निर्भर था, वह चाहता तो अपना पूर्ण परिचय देता; परंतु उसने ऐसा न करके केवल 'द्योसरिया' लिखा। संभव है, जिस समय उसने 'द्योसरिया' लिखा हो, उस समय इस एक ही शब्द के प्रयोग से उसको लोग देवसरिहा कान्यकुब्ज ब्राह्मण समझते हों और उसने अपना इतना ही परिचय पर्याप्त समझा हो। आज भी यदि कोई कान्यकुब्ज अपने को 'मँझगइयाँ' कहता है, तो लोग तुरंत जान लेते हैं कि वह माँझगाँव स्थानवाला कात्यायनगोत्री मिश्र है अथवा 'धोबिहा गोपनाथी' कहने से तुरंत लोग जान जाते हैं कि वह शांडिल्यगोत्री उन गोपीनाथजी मिश्र का वंशज है, जिन्होंने धोबी से लड़कर प्रसूतिका-गृह के वस्त्र स्वयं धो लिये थे। ऐसे बहुत-से उदाहरण हैं। 'बखत-विलास' ग्रंथ से जो उद्धरण ऊपर दिया गया है, उससे इतना तो स्पष्ट ही है कि आज से १३० वर्ष पूर्व होनेवाले भोगीलाल कवि अपने को कान्यकुब्ज द्विवेदी वंशोद्भव देव का परपोता मानते थे। देव कवि ने 'सुखसागर-तरंग' ग्रंथ की रचना महमदी के अकबर-अलीख़ाँ के लिये की है। भरतपुर के महाराज जवाहरसिंह की प्रशंसा में भी उनके छंद मिलते हैं। इन दोनों नरेशों के समय पर विचार करने से देवजी का मृत्युकाल संवत् १८२५ के लगभग पड़ता है। उनका जन्मकाल संवत् १७३० में हुआ था (संवत् सत्रह सै छियालिस चढ़त सोरही वर्ष कढ़ी + देव मुख देवता भाव-विलास सहर्ष) इस प्रकार यह बात स्पष्ट है कि वे ९५ वर्ष की दीर्घ आयु प्राप्त करके स्वर्गवासी हुए। भोगीलालजी ने जब १८५७ में 'बखत-विलास' ग्रंथ बनाया और राजदरबारों में जाने लगे, तब १८५७ में यदि उनकी अवस्था ३५-३६ वर्ष की रही हो, तो आश्चर्य नहीं। इस प्रकार उनका जन्म संभवतः देवजी के जीवन-काल में ही संवत् १८२१-२२ के लगभग हुआ होगा। देवजी के एक प्रधान आश्रयदाता का नाम राजा भोगीलाल था। इनके विषय में देवजी कहते हैं—

> भोगीलाल भूप लाख पाखर लिवैया जिन
> लाखन खरचि-रचि आखर खरीदे हैं।

इस नोट के लेखक का अनुमान है कि अपने उदार आश्रयदाता के स्मारक-स्वरूप ही उन्होंने अपने परपोते का नाम भोगीलाल रक्खा होगा। कहा जा सकता है कि भोगीलाल कवि ने अपने को द्योसरिया कान्यकुब्ज क्यों नहीं लिखा। उत्तर में निवेदन है कि यह बात सर्वथा कवि की इच्छा और रुचि पर निर्भर है। जहाँ देवजी 'द्योसरिया' जैसे संकेतसूचक शब्द से अपना परिचय देते हैं, वहाँ भोगीलालजी संकेत से संतुष्ट न होकर 'कान्यकुब्ज' कहकर अपने को प्रकट करते हैं। परंतु जब वे अपने प्रपितामह के उसी आश्रयदाता आदि का उल्लेख कर देते हैं, जिसका स्वयं देवजी भी उल्लेख करते हैं, तब उनके संबंध में किसी प्रकार का संदेह नहीं रह जाता है। इन्हीं भोगीलालजी के प्रपौत्र पं० मातादीनजी हैं।

कुसमरा में देवकवि के लगाए हुए कुछ वृक्ष भी मौजूद हैं। उक्त गाँव में जाकर स्वर्गीय कौशलेंद्रजी ने उन वृक्षों को देखा और गाँववालों से उनके विषय में पूछा। सबने यही बतलाया कि ये वृक्ष देव-कवि के लगाए हुए हैं, जो पं० मातादीनजी आदि के पूर्वज थे। एक महाशय ने इस पर यह विनोद किया है कि वृक्षों के अस्तित्व से और देव-कवि के कान्यकुब्ज ब्राह्मण होने से क्या संबंध है? क्या कान्यकुब्जों के लगाए वृक्षों में कोई विशेषता होती है? उत्तर में निवेदन है कि किसी जाति-विशेष के पुरुष द्वारा लगाए वृक्षों में कोई विशेषता नहीं होती है, परंतु जहाँ पर किसी व्यक्ति-विशेष के लगाए वृक्ष, मंदिर या अन्य कोई स्मारक चिह्न

मिलता है वहाँ उस व्यक्ति के विषय में बहुत-सी बातों के ज्ञात होने की संभावना रहती है। मनुष्य उसी स्थान में वृक्षारोपण और मंदिर-निर्माण करता है, जहाँ उसका रहना अधिकतर होता है। ऐसी दशा में उस स्थान के लोग उक्त व्यक्ति के कुल, शील, स्वभाव, विद्या और वैभव से परिचित हो जाते हैं और वहाँ के निवासियों को वृक्ष लगानेवाले और मंदिर बनवानेवाले के विषय की ज्ञातव्य बातें मालूम रहती हैं। वृक्ष लगानेवाले या मंदिर निर्माण करानेवाले के समसामयिक निवासियों की मृत्यु हो जाने के बाद भी उक्त निवासियों के वंशजों में परंपरा से इन बातों की चर्चा बनी रहती है; क्योंकि स्मारकचिह्न के उक्त स्थान-विशेष में मौजूद रहने से सदा ही उस स्मारक के निर्माता के विषय में ज्ञान प्राप्त करने का कुतूहल बना रहना नितांत स्वाभाविक है। कुसमरा में यदि कुछ प्राचीन वृक्ष मौजूद हैं, जिनको वहाँ के निवासी देव-कवि के लगाए बतलाते हैं और यह भी कहते हैं कि देव कवि पं० मातादीनजी के पूर्वज एवं कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे, तब कोई कारण नहीं मालूम होता है कि उनकी बातों पर विश्वास न किया जाय। देव-कवि के लगाए वृक्षों में कान्यकुब्जता की छाप नहीं लगी है, पर उन वृक्षों का अस्तित्व इस संभावना को पुष्ट करनेवाला है कि कुसमरा गाँव के लोगों से देव-कवि के कुलादि का यथार्थ पता लगाया जा सकता है।

भगवद्गीता भाषा
सुंदर, सचित्र और सरल भाषा में
अठारहों अध्याय माहात्म्य सहित, सुंदर और सरल भाषा में
टाइप बड़ा; पृष्ठ-संख्या ४८८; मूल्य १≈)
संस्कृत न जाननेवाले वृद्ध स्त्री-पुरुषों के लिये यह अति उत्तम पुस्तक है
तुलसीकृत
रामायण गुटका
सुंदर ग्लेज काग़ज़ पर ॥)
रफ़ काग़ज़ ।≈)
साहित्य-सेवियों और राम-भक्तों के लिये नित्य पाठ करने के लिये यह जेबी गुटका सर्वोत्तम है ।
हिंदी-अँगरेज़ी-शिक्षक
यानी
इँगलिश-टीचर
घर बैठे बहुत थोड़े समय में अँगरेज़ी सीखने की सर्वोत्तम पुस्तक । केवल इसी को पढ़कर काम चलाऊ अँगरेज़ी सीखी जा सकती है । तार या चिट्ठी आने पर इधर-उधर भटकने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी । मूल्य ॥।)
तुलसीकृत
रामायण मध्यम मूल
मूल्य १।≈)
अपनी ढंग की यह भी बहुत सस्ती पुस्तक है । हर एक व्यक्ति को इसकी एक प्रति अपने पास रखनी चाहिए ।
विनय-पत्रिका
टीकाकार स्व० बैजनाथजी ।
यह पुस्तक बहुत दिनों से अप्राप्त थी । मूल्य ३)
बीजक कबीरदास
श्रीकबीरदासजी की वाणी का संग्रह । टीका श्रीविश्वनाथसिंहजी ने की है । मूल्य सजिल्द ३)
कालिदास और शेक्सपीयर
संस्कृत और अँगरेज़ी न जाननेवालों के लिये संस्कृत और अँगरेज़ी साहित्य की ख़ूबी जानने के लिये इसे अवश्य पढ़ना चाहिए । साहित्य-सेवियों के लिये तो यह बड़े काम की चीज़ है । दोनों साहित्य की ख़ूबियाँ इसमें ख़ूब दिखाई गई हैं । मूल्य २)
मैनेजर नवलकिशोर-प्रेस, बुकडिपो, लखनऊ.
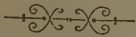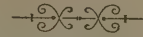
श्रीप्रेमचंदजी
की
नई पुस्तक

अग्नि-समाधि तथा अन्य कहानियाँ

मूल्य १।)

शीघ्र मँगाइए। अब थोड़ी ही प्रतियाँ रह गई हैं।

पढ़िए और लेखक की क़लम की करामात के क़ायल होइए।

वैचित्र्य-चित्रण

लेखक, **श्रीमहावीरप्रसाद द्विवेदी**

मैनेजर नवलकिशोर-प्रेस, बुकडिपो, लखनऊ।

UNIQUE OPPORTUNITY ! AVAIL OF

A BOON TO BOOK-LOVERS

-at 25 % off-

As They Are Slightly Soiled.

Names of Books.	Price. Rs.	a.	p.
Anderson's Popular Tales—			
Anderson's Fairy Stories	0	12	0
„ Stories for the Young ...	0	12	0
Beeton's Ready Reckoner ...	0	12	0
Bunyan's Pilgrim's Progress ...	0	12	0
The Bible, Students' Hand-book ...	0	12	0
Cobbett's English Grammar ...	0	12	0
County Court Hand-book ...	0	12	0
Conquerors and Captives ...	0	12	0
The Doctor by Geo. Black, M. B. (Edin.) and others.	0	12	0
Complete Etiquette for Ladies ...	0	12	0
Five Weeks in a Balloon ...	0	12	0
House-Holders' Law Book ...	0	12	0
How to Dance	0	12	0
The young wifes' Advice Book ...	0	12	0
Sea air and Sea Bathing ...	0	12	0
Sleep and How to obtain it ...	0	12	0
The skin Health and disease ...	0	12	0
Eyesight and How to care of it ...	0	12	0
Line Upon Line by the Author of Peep of Day, Part I	0	12	0
Line Upon Line by the above Author, Part II.	0	12	0
The Law of Landed Property ...	0	12	0
Mansfield Park	0	12	0
The Married Women's Property Act	0	12	0
Northanger Abbey ...	0	12	0
Our Nurses and the Work they have to do.	0	12	0
The Peer and the Woman ...	0	12	0
Hearing and How to keep it ...	0	12	0
Sick Nursing	0	12	0
Debit and Credit (novel) ...	2	8	0
Queechy	0	12	0
Sylvia's Illustrated Lady's Lace Book	0	12	0
The Students' illustrated Bible	0	12	0

Names of Books.	Price Rs.	a.	p.
Dictionary.			
Sandford and Merton ...	0	12	0
Dombey & Son ...	1	4	0
Sandford and Merton by Thomas Day.	0	12	0
Robinson Crusoe	0	12	0
The Wide Wide World ...	0	12	0
Concise Guide to Health	0	6	0
Queechy	0	8	0
Webster's Pocket Pronouncing Dictionary of the Eng. Language.	1	0	0
Below the Surface	2	8	0
The Essays of Adam Smith ...	2	8	0
Memorable Men and Noteable Events, &c.	2	13	0
Coil and Current or the Triumphs of Electricity.	2	8	0
Famous Musical Composers ...	2	8	0
Gressy and Poietiers ...	2	10	0
The Karak-orams and Kashmir, an account of a journey.	7	8	0
The Log of a Jack Tar ...	1	8	0
Paul and His Friends ...	2	8	0
How we kept the Flag Flying ...	2	4	0
Hume's History of England in 3 Vols. complete.	7	8	0
Hubert Ellis	2	8	0
Master Missionaries	2	8	0
History of Rome	2	13	0
History of Greece	2	13	0
Sydney Smith's Essay... ...	2	8	0
Sandfort Merton	1	8	0
Sandfort Merton (small edition) ...	1	2	0
Robinson Crusoe	1	14	0
The Story of the Nations Vedic India	3	4	0

To be had of—Manager, Book-Depot, N. K. Press, Lucknow.

Registered No. A. 1127

Printed and Published by K. D. Seth, at the Newul Kishore Press, Lucknow.